ओ३म्

कर्म-रहस्य

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।



किये हुए कर्म का शुभ अथवा अशुभ फल अवश्य मिलता है ।

लेखक : महात्मा नारायण स्वामी

ओ३म्

कर्मरहस्य

(कर्मफल सम्बन्धी उलझनों को सुलझाने के लिए एक सफल दिशाबोध)

लेखक

पूज्य महात्मा नारायण स्वामी

प्रकाशक :

सत्यधर्म प्रकाशन

प्राप्ति स्थान

गुरुकुल भैंसपुर, लाढ़ौत, रोहतक (हरयाणा)

सम्पर्क : 09812560233

प्रकाशक : **सत्यधर्म-प्रकाशन**
प्राप्ति स्थान : गुरुकुल भैयापुर-लाढौत, रोहतक
फोन : 09812560233

प्राप्ति-स्थान :

१. **हरयाणा साहित्य-संस्थान**
महाविद्यालय गुरुकुल झज्जर
हरयाणा-१२४१०३

२. **आर्यसमाज मन्दिर काकरिया**
रायपुर दरवाजे के बाहर, अहमदाबाद (गुजरात)

३. **कन्या गुरुकुल महाविद्यालय चोटीपुरा**
जिला ज्योतिषनगर (मुरादाबाद), उत्तरप्रदेश

४. **आर्यसमाज मन्दिर सहजपुर बोघा**
अहमदाबाद (गुजरात)

५. **दयानन्दमठ दीनानगर**
जिला गुरदासपुर (पंजाब) फोन-०९४१७३३६६७६

षष्ठ संस्करण : सन् २०१०

मूल्य : २२५.०० रुपये

मुद्रक : **सुवीरा मुद्रणालय**
सुखपुरा बाईपास, रोहतक
फोन : 01262-276674
मो० : 09254052111, 09729090111

प्रथम संस्करण की भूमिका

इस ग्रन्थ "**कर्मरहस्य**" की सामग्री कई वर्षों से एकत्र की जा रही थी और लगभग तीन वर्ष हुए तब एकत्रित हो चुकी थी। परन्तु अनेक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उस सामग्री को तरतीब देकर लिखने का अवसर नहीं मिल सका था। गत वर्ष सार्वदेशिक सभा के कार्यभार से अवकाश प्राप्त होने पर अवसर मिला कि मैं इसे लिखूं। तदनुसार डेढ़ वर्ष के परिश्रम से ग्रन्थ की समाप्ति का अवसर प्राप्त हुआ है। इसके लिए मैं ईश्वर को अनेक धन्यवाद देता हूं। कर्म के सम्बन्ध में किसी विस्तृत ग्रन्थ के न होने से, सदैव इस प्रकार के ग्रन्थ की मांग रहा करती थी। मैं यह तो नहीं कह सकता कि इस ग्रन्थ से वह जरूरत पूरी हो जायेगी, परन्तु यह अवश्य होगा कि प्रत्येक स्वाध्यायशील विद्वानों के हाथों में, विचार करने के लिये, बहुत-सी सामग्री आ जावेगी।

ग्रन्थ के तैयार करने में अनेक ग्रन्थों की सहायता ली गई है। उनकी सूची प्रारम्भ के पृष्ठों में दी गई है। मैं उन सभी ग्रन्थकर्त्ताओं का, जिनके वे ग्रन्थ हैं, आभारी हूं और हृदय से उन्हें धन्यवाद देता हूं। इन्हीं प्रारम्भिक शब्दों के साथ यह ग्रन्थ स्वाध्यायशील जनता के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। ग्रन्थ के अन्त में एक छोटा-सा कोष, पाठकों के लाभार्थ दे दिया गया है जिससे ग्रन्थ में प्रयुक्त विशेष हिन्दी शब्दों के साथ असली (मूल) अंग्रेजी के शब्द भी जाने जा सकें।

—नारायणस्वामी

नारायण आश्रम
रामगढ़ तल्ला (नैनीताल)
ज्येष्ठ शुक्ला ३ सं० १९९५ वै०
(जून १९३८)

ग्रन्थ को तैयार करने में जिन-जिन पुस्तकों की सहायता ली गई, उनका विवरण—

१. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद।
२. न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा वेदान्तदर्शन।
३. दशोपनिषद्
४. ऋषि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश।
५. भगवद्-गीता
६. आत्मदर्शन (लेखक कृत)।
७. Riddle of the Universe by E. Haeckal.
८. Buddhism by Mrs. Rhys Davids.
९. Sacred Book of the East Series XXXV.
१०. Warren's Buddhism.
११. Gleanings in Buddha's Field by L. Hearn.
१२. Way of Purity by Buddhaghosh.
१३. A Study of Ethical Principal by James Seth.
१४. The World and the Individual by J. Royce.
१५. Pluralism and Theism by James Ward.
१६. A History of the Problem of Philosophy by Paul Jenart (English Translation).
१७. Enneades.
१८. On Human Nature by Hobbes.
१९. On Human Understanding by Locke.
२०. New Essays (Locke).
२१. Rech de la Verite by Male Branch (English Translation).
२२. System of Logic by J.S. Mill.
२३. Theory of Good and Evil by Rashdoll.
२४. महाभारत (व्यासकृत)।
२५. शुक्रनीति।
२६. Problems of Time by Alexander Gune.

२७. A Follower of the Scholastic Philosophy by Thomas Aquinos.
२८. Treatise by Bossuat.
२९. The Works of Thomas Reid (Hamiltion's Edition).
३०. C.F. Lecture by Bradley.
३१. The Memorium (Robinson's Edition).
३२. शतपथब्राह्मण।
३३. योगदर्शन का व्यासभाष्य।
३४. First Principles by H. Spencer.
३५. Christ and Human Suffring by E. Stanley Jones.
३६. वेदान्त का शंकरभाष्य।
३७. Leslie Stephen's Science of Ethics.
३८. Mill's Utilitarianism (15th Edition).
३९. Passing of Empire by H.F. Halles.
४०. Method of Ethics by Sidgwick (7th Edition).
४१. मनुस्मृति।
४२. संयुक्त निकाय (Quoted by Mrs. Davids).
४३. Nicome Ethics.
४४. Problem of Freedom.
४५. The Problem of Philosophy.
४६. Principles of Philosophy by Descartes.
४७. Letter to Peremers, Edition V Cousin Vol. VI.
४८. Letter to a Jesuit Father Edition V Cousin Vol. IX.
४९. Ethics by Spinoza.
५०. Enquiry Concerning the Human Understanding by Hume.
५१. Preface to 2nd Edition of the Critic of Pure Reason by Kant.
५२. The Socialistic Philanthrophical System of Robert Owen.
५३. The Renalssance by W. Petre.

५४. The Will to Believe and Other Essays by William James.
५५. C.F. Foillee, L. Avenir de la Metaphy sique (English Translation).
५६. Mind by D.S. Shadworth Hodgson.
५७. Prelegomena to Ethics by Greene.
५८. Companion Volume Metaphysics by Laurie.
५९. Modern Philosophy by J. Ward.
६०. L. Evolution Ensmedes Idees Forces by M. Fouillee (Introduction) English Translation.
६१. Appearance and Reality by Bradley.
६२. English Words of Hobbes (Molesworth's Edition).
६३. Jonathan Edward's "Enquiry" (4th Edition).
६४. Encyclopedea Britannica (9th Edition).
६५. The World as Will and Idea (English Translation).
६६. Pathway to Reality by R.B. Haldeme.
६७. Dr. J.S. Haldeme's Two Geny's Hospital Lectures on Life and Mechanism.
६८. The Natural and Agnosticism by Prof. James Ward.
६९. Prof. Taylor's Element of Metaphysics.
७०. Analytic Payehology by Dr. Stout.
७१. Eccelesiastical Polity by Dune Scotus.
७२. Sur les donnees immed, de la conscince Pussim (English Translation).
७३. Lotze के निम्न ग्रन्थ [नियति (Determinists) के विरुद्ध लेखकों में यह सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है]।
(1) Microcosmos (English Translation).
(2) Practical Philosophy.
(3) Philosophy of Religion.
७४. Study of Religion by Martineau.
७५. Die Beiden Gruno Problemeder Ethic (English Translation) शौपन हम।

७६. Some Dogmas of Religion by Dr. M.C. Taggart.
७७. The Philosophy of Experience by Dr. Shadworth Hodgson Vol. IV.
७८. Examination of Hamilton's Philosophy by J.S. Mill.
७९. Study of Ethics by J. Dewey.
८०. Outline of Ethics by J. Dewey.
८१. Manual of Ethics by J.S. Mackenzie.
८२. The Dilemma of Determinism by W. James.
८३. Principles of Psychology by W. James.
८४. Short Study of Ethics by C.F.D. Arcy.
८५. The New Psychology and Automatism by A. Seth.
८६. System of Ethics by Paulson (English Translation).
८७. The Religious Aspect of Philosophy by J. Royce.
८८. Spirit of Modern Philosophy by J. Koyce.
८९. The Conception of God by J. Royce.
९०. Studies of Good and Evil by J. Royce.
९१. Theory of Reality by Prof. Ladd.
९२. Study in Karma by Dr. Annie Becent.
९३. The Karma Mimamsa by A.B. Ceith.
९४. Karma Joga by S. Vivekanand.
९५. ज्ञान और कर्म (सर गुरुदास बनर्जीकृत)।
९६. The Free will Problem by Herbert W. Carr.
९७. Time and Free Will by Bergson.
९८. A History and Desense of Animism by Mr. Mc. Dougall.
९९. Varieties of Religious Experience by Prof. James.

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय	पृ०सं०

पांचवां अध्याय

छठा अध्याय

सातवां अध्याय

आठवां अध्याय

नवां अध्याय

दसवां अध्याय

विषय	पृ०सं०

तेरहवां अध्याय

चौदहवां अध्याय

पन्द्रहवां अध्याय

सोलहवां अध्याय

सत्रहवां अध्याय

विषय	पृ०सं०

चौबीसवां अध्याय

पच्चीसवां अध्याय

छब्बीसवां अध्याय

सत्ताईसवां अध्याय

अट्ठाईसवां अध्याय

उन्तीसवां अध्याय

तीसवां अध्याय

कर्म-रहस्य

उपोद्घात

पहला सर्ग

प्रारम्भ—कर्म का विषय बड़ा गहन है। आत्मा के साथ स्वभावतः इसका सम्बन्ध होने से पूर्वी और पश्चिमी सभी विद्वानों ने जी खोलकर इसके अंग और प्रत्यंगों पर विचार करने का यत्न किया। पश्चिमी विद्वानों ने अपनी शैली के अनुसार अधिक विस्तार से इस सम्बन्ध में लेख लिखे हैं, जिन सबका आद्योपान्त पढ़ना भी कठिन है। फिर भी यत्न किया गया है कि अधिकांश और विशेषकर उत्कृष्ट विचारकों के अनुकूल और प्रतिकूल मत पाठकों को इस ग्रन्थ में मिल सकें।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में वेदादि शास्त्रों के मत प्रदर्शित करने के बाद कर्म और फलादि के सम्बन्ध में उसके आगे के अध्यायों में युक्ति और प्रमाण के साथ विस्तृत बहस की गई है। इस बहस से, कर्म के सम्बन्ध में, यथासम्भव सभी ज्ञान की बातों का पाठकों को ज्ञान होगा और उन्हें उस पर अच्छी तरह विचार करने का अवसर मिलेगा।

ग्रन्थ के अन्त में, पश्चिमी देश निवासी विद्वानों का दृष्टिकोण, कर्म के सम्बन्ध में क्या रहा है, उसको प्रकट करने का यत्न किया गया है।

यहां इस उपोद्घात में उपर्युक्त बहस में आये हुए विषयों का संकेत भी नहीं किया जायेगा, क्योंकि व्यर्थ पुनरुक्ति होगी। यहां हम केवल उन बातों का उल्लेख करना चाहते हैं जिनमें से अधिकांश ग्रन्थ में नहीं आई हैं और यह केवल इसलिये कि ग्रन्थ में अंकित विषयों और विवरणों से कुछ भिन्न और भी सामग्री पाठकों के हाथ आ जाये जिससे विषय के समझने में उन्हें और भी अधिक सुविधा हो।

अवश्य विचार करने के लिए किन्हीं-किन्हीं विद्वानों के ग्रन्थ में अंकित सम्मति, इस उपोद्घात में पुनः देनी पड़ी है। उसका देना अपरिहार्य था परन्तु वह अत्यन्त संक्षेप में दी गई है।

इन्हीं कुछेक प्रारम्भिक शब्दों के साथ, उपोद्घात के मुख्यभाग का प्रारम्भ किया जाता है।

मानव-संस्कृति के विकास ने, विकासवाद से प्रभावित एक पश्चिमी लेखक के अनुसार, तीन रूप धारण किये—

(१) कृत्रिम जीवन बनाना। मनुष्य ने अनेक प्रकार के औजार और बनाव सिंगार की वस्तु बनाकर नैसर्गिक जीवन के ढंग से कृत्रिम जीवन बनाना शुरू किया।

(२) प्राकृतिक औजारों और वस्तुओं को बनाते-बनाते वह इस कला में निपुण शिल्पकार बन गया और अब उसने अप्राकृतिक वस्तुओं को भी शिल्प के शिकंजे में कसना आरम्भ किया, यहां तक कि अपने ही रूप और रंग के अनुकूल उसने ईश्वर को भी बना डाला।

(३) अन्त में हम उसे प्रकृति और पुरुष दोनों के रूप में देखते हैं। कहीं वह तार्किक बना हुआ है, कहीं दार्शनिक पहेलियों को हल कर रहा है, कहीं तरह-तरह की स्कीमें बना रहा है, कहीं लोगों को अपनी बात समझा रहा है, कहीं एक वस्तु को पसन्द करके दूसरी को अप्रिय ठहराकर फेंक रहा है। इसी दार्शनिक समस्याओं की उधेड़ बुन ने उसके भीतर आचारिक उत्तरदायित्व पैदा किया। इसी आचारिक उत्तरदायित्व से कर्म-स्वातन्त्र्य-समस्या का सूत्रपात होता है। यदि मनुष्य के लिए आवश्यक है कि अपने किये कर्म का फल भोगे तो उसे करने में स्वतन्त्र तो होना ही चाहिये। १९वीं शताब्दी से पहले, पश्चिमी देशों में इस विषय की प्रगति क्या रही है। पहले इसी बात का जानना कदाचित् उपयोगी होगा।

लाइब निट्ज़ और कर्मस्वातन्त्र्य

योरुप के विद्वान् इसे मानते हैं कि लाइब निट्ज (Liab nitz) ने इन्हें इस योग्य बनाया कि वे मनुष्य के इतिहास को पहाड़ी चट्टानों के (Record of rocks) रिकार्ड से पढ़ें। उसने दिखलाया कि किस प्रकार प्राकृतिक जगत् से आचारिक जगत् उत्पन्न हुआ करता है और किस प्रकार जगत् की कार्यप्रणाली को देखते-देखते मनुष्य दिव्य प्रभाव से प्रभावित हुआ करता है। इस वैज्ञानिक युग में, मनुष्य के सम्बन्ध में फिलोसोफी और विज्ञान का काम मिलता जुलता है और मनुष्य की आशाओं की पूर्ति विज्ञान की सफलता पर निर्भर है। मनुष्य पर प्राकृतिक नियमों के ऊपर उसका अधिकार होने से आचारिक उत्तरदायित्व का बड़ा बोझ आ गया है। ज्ञान और यत्न से वह अपना नाश भी कर सकता है और उनसे यह भी हो सकता है कि वे इसे विजय की ओर ले चलें।

लाइब-निट्ज़ का कहना है कि मनुष्य अपनी विशेष योग्यताओं से इस योग्य हुआ है कि बनावटी चुनाव से प्राकृतिक चुनाव को रद्द कर सके और यह उसका पहला कर्म-स्वातन्त्र्य है जो उसे अपने ही इन्द्रियमय शरीर से प्राप्त हुआ है।

जब हम मनुष्य की समयोचित सरगर्मियों का पशु-जगत् से मिलान करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के कार्यों में बुद्धि से नाप-तोलकर अपनी रुचि के अनुकूल काम करने की योग्यता पाई जाती है और ये दोनों नियम उसके प्रत्येक कार्य को शासित करते हैं। और इन दोनों नियमों के साथ काम करने से स्वतन्त्रता उपलक्षित होती है। पीछे लौटाने वाले कार्यों (Reflex action) में पीछे लौटने की स्वत: एक उत्तेजक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जिससे प्रकट होता है कि मानो स्वतन्त्रता का अभिप्राय प्रारम्भ में केवल रोकने वाली शक्ति ही होती है, परन्तु केवल निग्रहकारी शक्ति से सदैव तर्क-सिद्ध काम नहीं किये जा सकते। क्योंकि तर्कसिद्ध काम करने के लिए स्वतन्त्रता चाहिये। इसलिए तर्कसिद्ध कार्यों के कर सकने की योग्यता का तात्पर्य केवल पसोपेश करना अथवा मानसिक नाप-तोल करना ही नहीं अपितु रुचि के अनुकूल कार्य करने का निश्चय करना भी है। यही योग्यता है जिसका नाम इच्छा-स्वातन्त्र्य है और जिससे रचनात्मक कार्य भी किये जाते हैं अत: इच्छा-स्वातन्त्र्य एक विश्व स्वीकृत घटना है। प्रश्न केवल उसके बुद्धिपूर्वक अर्थ लगाने का है। अर्थात् इच्छा-स्वतन्त्रता एक कल्पित इच्छा है जिससे अपने किये जाने वाले कर्मों की जानकारी उत्पन्न होती है और उन बातों के न जानने से, जिनसे उन कर्मों का किया जाना निश्चित होता है, जो रुकावट पैदा होती है वह भी दूर होती है अथवा मनुष्य के भीतर यों कहिए कि इच्छा-स्वातन्त्र्य एक विधानात्मक शक्ति है जो न केवल उसकी इच्छा को कार्य में परिणत करती है किन्तु वह इच्छा शक्ति है जिससे वह जिस प्रकार की चाहे इच्छा करे और उस इच्छा को जिस प्रकार का चाहे रूप रंग देवे।

यदि प्रश्न के पहले भाग को ठीक माना जाए तो उसका अभिप्राय यह होगा कि मनुष्य के समस्त कार्य बाह्य साधनों से निश्चित होते हैं जिन साधनों का नियन्त्रण उसके अधिकार से बाहर है। यदि दूसरे और प्रश्न के अन्तिम भाग को ठीक माना जावे तो जैसा ऊपर कहा गया है इच्छा-स्वातन्त्र्य एक विधानात्मिका शक्ति है, जिसे मनुष्य, स्वयं पूर्ण

आचारिक उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हुए पैदा किया करता है।[1] लाइब-निट्ज़ इसी अन्तिम पक्ष का पोषक है। अस्तु, इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न ऐसा नहीं है कि विशेष अवस्थाओं के उपस्थित होने से उठे और उनके दूर हो जाने से दूर हो जाये, बल्कि जैसा कि पालसन[2] ने लिखा है यह आचार और विद्यासम्बन्धी प्रश्न है। वे हेतु, जो इस प्रश्न के आधार हैं, सदैव हमारे साथ रहते और रहते आये हैं इसलिए यह प्रश्न अभी न समाप्त हुआ और न उसके निकट भविष्य में समाप्त होने की आशा है। कांट ने एक जगह लिखा है कि "आज भी यह प्रश्न वैज्ञानिक बुद्धि और आचारिक तथा धार्मिक विश्वास के मध्य गहरी जमी हुई जड़ वाले अर्थवैपरीत्य के रूप में वर्तमान है।"

डाक्टर सेमुएल जानसन (Dr. Samual Johnson)

जानसन के जीवनचरित्र के लेखक बोसवैल (Boswell) के अनुसार जानसन ने इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिये कहा, "मैं मानता हूं कि इच्छा तो स्वतन्त्र हैं, परन्तु उसकी सीमा है।"

लौरनशियस वैला (Laurentiut Valla)

इच्छा-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी एक निबन्ध में, जो प्रश्नोत्तर के रूप में था, लौरनशियस ने एक से प्रश्न कराया है कि "बतलाओ कि मैं कौन-सा पैर फैलाऊंगा और वह जो कुछ भी उत्तर देगा उस पर मैं दूसरा पांव फैलाकर कह दूंगा कि उत्तर झूठा था।"

जेनो (Zeno)

लौरनशियस ने इस प्रश्नोत्तर से इच्छा-स्वातन्त्र्य की सिद्धि करनी चाही है, परन्तु इस प्रकार की क्रियात्मक जांच से इस विषय की सिद्धि नहीं हो सकती। देखना और बतलाना यह होगा कि इच्छा-स्वातन्त्र्य का आधार क्या है और जो कुछ भी आधार है वह युक्तिपूर्ण है या कि कल्पनामात्र? और यह भी कि यदि आधार जीवन अथवा जीवात्मा है तो उसकी वास्तविक और स्वतन्त्र सत्ता है या वह प्रकृति की ही करामात का फल है। ईसा से पूर्व हुए एक ग्रीक दार्शनिक ने एक वाद स्थापित किया कि कोई चीज गतिवान् नहीं है। उसने मेंढक और

---

1. The Free Will Problem by Herbert W. Carr. P. 7 (Benn's Sil Penny Series No. 29)
2. A Problem which exists only for a Theological or Scholastic Philosophy. (Ethics by Paulson, Vol. I. P. 351)

अचीलेस (Achilies) के उदाहरण देकर प्रमाणित करने का यत्न किया है कि गति की सत्ता का विचार भ्रममात्र है। जब ज़ेनो की दृष्टि में गति की कोई हकीकत ही नहीं तो उसके लिए गति (कर्म) के स्वतन्त्र परतन्त्र होने पर विचार करने की गुंजाइश ही नहीं रहती।

बरीडैन (Buridan)

बरीडैन योरोप के मध्यकालीन युग का एक बड़ा तार्किक (Logician) था, इसने एक उदाहरण दिया है कि एक गदहा यदि किसी ऐसी जगह हो जिसके दोनों ओर हरी घास के खेत हों और दोनों की हरियाली आदि में कुछ भी विषमता न हो तो फल यह होगा कि वह गदहा दोनों में से किसी एक खेत को तरजीह न दे सकने के कारण भूखा ही रहेगा। इसी उदाहरण के अनुकूल वह कहता है—इच्छा-स्वातन्त्र्य का विषय है, यदि बिना इरादे के कोई कर्म किया जाए तो वह तो गतिमात्र ही होगा, कर्म तो वही कहा जा सकता है, जो इरादा करके किया जाए। अच्छा कल्पना करो कि इरादा करके कोई काम किया गया, तो अब देखना यह है कि उस कर्म के विरोधी हेतुओं की मात्रा कितनी है ? यदि अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के हेतुओं की मात्रा में समता है, तो कोई कर्म न हो सकेगा। इस प्रकार यदि देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि इच्छा-स्वातन्त्र्य से कुछ न हो सकेगा और बरीडैन का यह गदहा भूखा ही रहेगा। अतः जब तक कर्म के साधन इरादे और बाह्य हेतु (Motives) रहेंगे तब तक इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिए कोई जगह नहीं। अब यदि कल्पना करो कि इच्छा का आधार इरादा या बाह्य हेतु नहीं तब इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिए मानना पड़ेगा कि वह स्वयमेव कर्त्री, धर्त्री और एक यन्त्र के सदृश है।

दूसरा सर्ग

मार्टिन लूथर और जान काल्विन (Martin Luther and Jhon Calvin)

१६वीं शताब्दी में जब ईसाई मत के सुधार हुए तो योरुप में दो सुधारक हुए एक मार्टिन लूथर, दूसरा जॉन काल्विन। लूथर का प्रभाव जरमनी और स्केण्डिनेविया के द्वारा योरुप में फैला, दूसरी ओर काल्विन का प्रभाव जनेवा, फ्रांस, स्काटलैंड, हॉलैण्ड और इंग्लैंड तक पहुंचा। इनमें से काल्विन का मत यह था कि सब कुछ ईश्वर के आधीन है वही जिस पर चाहे दया करे जिस पर न चाहे न करे।[1] लूथर और काल्विन के मतों में कुछ अन्तर था जैसे ईसा के भोज के सम्बन्ध में जो कहा जाता है कि रोटी और शराब, ईसा के रक्त और मांस में परिवर्तित हो गई (The Doctrine of Trans-substantiation) लूथर इसको यद्यपि नहीं मानता था, परन्तु फिर भी यह मेरा रक्त और यह मेरा मांस है।[2]" इन शब्दों को अक्षरशः ठीक मानता था परन्तु काल्विन की दृष्टि में यह सब आलंकारिक वर्णन था। और भी इसी प्रकार के छोटे-मोटे अन्तर थे परन्तु आमतौर से ये दोनों प्रायः एक विचार के सुधारक थे। अवश्य सर्वेटस (Servatus) और 'जैकोबस आरमीनियस' (Jacobus Armeniaus) ये दोनों काल्विन के विचारों के घोर विरोधी थे, इनमें से सर्वेटस को काल्विन ने मृत्युदण्ड दिलाकर जिन्दा जलवा दिया था, आरमीनियस (१५६०-१६०८) डच पादरी था, इच्छा-स्वातन्त्र्य के ये दोनों सुधारक विरोधी थे।

जोनाथन इडवार्डस (Jonathan Edward १७०३-१७५८)

धार्मिक विचारों में इडवार्डस काल्विन का अनुयायी था, परन्तु दार्शनिक विचार इसके विशप वर्कले से मिलते-जुलते थे। उसका विचार था कि केवल मन की सत्ता तो वास्तविकता रखती है और प्रकृति की सत्ता विचार (कथन) मात्र है। ईश्वर आकाश (Space) में नहीं है, किन्तु आकाश ईश्वर में है। ईश्वर की सत्ता के सिवा अन्त में किसी में वास्तविकता नहीं है। अस्तु, इडवार्डस ने विचार-स्वातन्त्र्य पर एक

1. Colvinism is identified with the doctrine of Pre-destination and election to grace. (The Free Will Problem by H.W. Carr)
2. "This is my flesh and my blood." (Christ)

निबंध लिखा था जिसका बड़ा लम्बा शीर्षक[1] रक्खा गया था। उस निबन्ध को उसने चार भागों में विभक्त किया था—

(१) पहले भाग में निबन्ध की परिभाषाएं थीं।

(२) दूसरे भाग में उसने इस बात पर विचार किया था कि कर्त्ता के कर्म करने की स्वतन्त्रता किसी प्रकार की इच्छा-स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

(३) तीसरे भाग में इस बात पर बहस की थी कि क्या इच्छा-स्वातन्त्र्य कर्म के लिए आवश्यक है ?

(४) चौथे भाग में परतन्त्रतावाद को सिद्ध करने का यत्न किया है।

उसने इच्छा को पसन्द का माध्यम ठहराया है और इस पसन्द का कर्त्ता मन या जीव है। इच्छा के अनुकूल किए गए प्रत्येक कार्य में, किसी भी पसन्द की हुई वस्तु के लिए, तरजीह या रुचि पाई जाती है। इच्छा के असन्दिग्ध और स्थिर-कर्ता, मनुष्य के भीतर उत्पन्न या उठे हुए वे प्रवृत्ति हेतु हुआ करते हैं, जो पसन्द करते समय सबसे अधिक बलवान होते हैं। ये हेतु पहले से समझे और विचार किये हुए होने चाहियें, बिना विचार किए हुए प्रवृत्ति हेतु अपना कोई मूल्य नहीं रखते हैं। वह प्रवृत्तिहेतु इस अर्थ में अच्छा होना चाहिए कि अधिक से अधिक अनुकूलता और कम से कम प्रतिकूलता उन विकल्पों में, जो उस समय कर्त्ता के सम्मुख उपस्थित थे, रखता है। इडवार्डस के प्रस्तुत किये वाद पर आक्षेप यह किया जाता या किया जा सकता है कि पसन्द करने की इच्छा के लिए स्वतन्त्रता चाहिए। परन्तु सबसे अधिक बलवान् प्रवृत्तिहेतुओं से स्थिर की हुई इच्छा, परतन्त्रता पर निर्भर होती है और फिर इस स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनों की संगति किस प्रकार लगाई जा सकती है। इस आक्षेप के समाधान दोनों पक्ष वालों ने अपने-अपने ढंग से पृथक्-पृथक् किये हैं।

इच्छा-स्वातन्त्र्यवादियों का समाधान

इच्छा-स्वातन्त्र्यवादी वाद में उत्पन्न की हुई परतन्त्रता से इन्कार करते हुए कहते हैं कि किसी वस्तु की पसन्द करते समय इच्छा प्रत्येक

1. **निबन्ध का शीर्षक यह था**—"A careful and strict inquiry into the modern prevailing notions of that freedom of the will, which is supported to be essential to moral agency, virtue and vice, reward and punishment, praise and blame."

प्रकार के बाह्य बन्धनों से मुक्त होती है और स्वतन्त्रता के साथ पसन्द करने की इच्छा का ठहराव किया करती है। पसन्द करने की स्वतन्त्रता का अर्थ ही यह है कि इच्छा प्रवृत्तिहेतुओं से मुक्त है और उन हेतुओं की परवाह न करते हुए कर्म को स्थिर करने की स्वयमेव शक्ति रखती है। मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से भलाई को समझते हुए बुराई किया करता है अथवा बुराई के आकर्षण से न खिंचकर भलाई किया करता है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक प्रकार का निश्चय करने के लिए उसके भीतर स्वतन्त्रता मौजूद है।

परतन्त्रतावादियों का समाधान

परतन्त्रतावादी प्रवृत्तिहेतु रहित इच्छा से इन्कारी हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार पसन्द की स्वतन्त्रता जीवात्मा के भीतर पृथक् मौजूद नहीं है। मनुष्य के भीतर भी जैसी जगत् के बाहर कारण की शृंखला से प्रत्येक वस्तु बद्ध है और उसी बद्धता की सीमा में रहते हुए प्रत्येक कर्मकर्ता द्वारा किये जाया करते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ प्रवृत्तिहेतुओं से उपेक्षा करना अथवा उनकी परवाह न करने का नहीं है। इस बंधन में रहते हुए ही मनुष्य के लिए अवसर होता है कि वह जैसा चाहे करे।

एक और प्रश्न-कर्म के सम्बन्ध में कैसे और क्यों का उत्तर

क्या कोई असीम शक्ति संसार के भूत और भविष्यत् कार्यों को वर्तमान कार्य के सदृश नहीं देखती? इस प्रश्न के उठाने से इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न व्यक्तिगत नहीं रहता किन्तु समष्टिगत हो जाता है और एक ऐसा प्रश्न बन जाता है जो आचार और अध्यात्म के सम्बन्ध में प्रथम श्रेणी का है। कल्पना करो कि हमारे समस्त कर्म कारणकार्यवाद के नियम से निश्चित होते हैं और कारण दो प्रकार के होते हैं—(१) अध्यात्म जगत् से सम्बन्धित (२) प्राकृतिक संसार से सम्बन्धित। प्रयोजन या परिणाम जिसके लिये कर्म किया जाता है वह अन्तिम कारण होता है और साधन जिनसे उस कर्म की पूर्ति होती है गतिमय कारण कहे जाते हैं। अन्तिम कारण आदर्श होते हैं उनमें अपूर्णता या गति का प्रश्न नहीं होता, परन्तु गतिमय कारण वास्तविक होते हैं और कार्य प्रतिकार्य के समतापूर्ण नियमानुकूल यान्त्रिक रीति से काम करते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए यह प्रश्न होता है कि कैसे और क्यों किया गया? प्रत्येक के उत्तर के लिए दो विभिन्न सम्बन्धों का हवाला दिया जाएगा। (१) प्राकृतिक जगत् की वास्तविक घटनाओं का समबन्ध

(२) अध्यात्म या मानसिक जगत् की भाव-प्रधानमय घटनाओं का सम्बन्ध।

इस प्रकार इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न केवल दार्शनिक प्रश्न बन जाता है।

अन्तिम कारणत्व चाहता है कि कर्त्ता में स्वतन्त्रता हो, परन्तु गतिमय कारणत्व में यान्त्रिक परतन्त्रतावाद निहित है। पहले का सम्बन्ध मन और दूसरे का सम्बन्ध शरीर से है। दर्शनशास्त्र में इसीलिए इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न मौलिकता रखता है और अन्तिम कारणों की स्थिति का साधक माना जाता है। अन्तिम कारणों या उद्देश्यों के सम्बन्ध में यह बात समझने के योग्य है कि अपने सत्ताधिकार से वे अपनी कोई हस्ती रखते हैं या नाम रूपमात्र हैं? अर्थात् वे वास्तविकता के निर्माता हैं अथवा उसका बाह्य रूपमात्र? इसका निर्णय किसी घटना के आधार पर नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शनशास्त्र में प्रत्येक अनुभूत घटना के अर्थ लगाने की जरूरत हुआ करती है। इसलिए प्रश्न का रूप अब यह हो जाता है कि क्या प्राकृतिक नियम इच्छा-स्वातन्त्र्य के साथ चल सकते हैं अर्थात् क्या प्राकृतिक नियमों की कार्यप्रणाली में इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिए कोई स्थान मिल सकता है या नहीं? इस प्रश्न के सम्बन्ध में १७वीं शताब्दी के दो दार्शनिक भिन्न-भिन्न एक दूसरे से विरुद्ध दो प्रकार के विचार रखते थे।

तीसरा सर्ग

स्पाईनोजा (Spinoza)

उनमें से स्पाईनोजा परतन्त्रतावादी था। उसकी फिलॉसोफी में ब्रह्माण्ड वस्तुतत्त्व या नाम रूप दोनों दृष्टियों से ईश्वरीय सत्ता का प्रकटीकरण है।[1]

लाइबनिट्ज (Laibnitiz)

इसके विरुद्ध लाइबनिट्ज इच्छा स्वातन्त्र्यवादी था। उसकी फिलॉसोफी में ब्रह्माण्ड वास्तविकता रखता है और उत्पन्न होने से पहले ईश्वर के अन्दर विचाररूप में मौजूद था। उसके विचारों का दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है और प्रकरणानुसार उसकी अन्य आवश्यक बातों का

1. **स्पाईनोजा की परिभाषा में यह बात इस प्रकार कही जाएगी**—"Mind and Nature are models of the divine substance."

आगे भी उल्लेख होगा। पहले स्पाईनोजा के परतन्त्रतावाद का विवरण दिया जाता है।

स्पाईनोजा का परतन्त्रतावाद

स्पाईनोजा ने अन्तिम (प्रयोजन अथवा उद्देश्यमय) कारण को इन्द्रजाल कहकर रद्द कर दिया है। उसकी सम्मति में ब्रह्माण्ड की वास्तविक सत्ता के सयुक्तिक विचार से वह मेल नहीं खाता और न अद्वैतवाद से ही कि ईश्वर ही एक तत्त्व है जिसके अन्दर हम अपनी सत्ता रखते हुए रहते और हिलते जुलते हैं, उसकी संगति लगती है। यदि ईश्वर किसी परिणाम के लिए कार्य करता है तो मानना पड़ेगा कि वह किसी अप्राप्त वस्तु की इच्छा कर रहा है और यदि यह मान लें कि वह किसी अप्राप्त वस्तु ही की इच्छा कर रहा है तो फिर इससे उसकी पूर्णता में बाधा पहुंचेगी। ईश्वर के लिए स्पाईनोजा का कहना है कि— समझना चाहिए कि वह अपने स्वभाववश ही अपनी हस्ती रखता है और जो कुछ भी करता है स्वभाववश ही करता है। सब कार्य, किस प्रकार क्या होगा, ईश्वर ने पहले से निश्चय कर रखा है। यह निश्चय उसने अपनी सर्वज्ञता अथवा शिवसंकल्प से नहीं कर रक्खा है किन्तु अपनी अनन्तशक्ति और पूर्ण सामर्थ्य से किया हुआ है। इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि जब अन्तिम कारण ईश्वरीय कार्यों के निर्णय करने से असम्बन्ध हैं तो फिर वे व्यर्थ हैं और उनकी कुछ भी उपयोगिता मनुष्यस्वभाव में भी नहीं हो सकती। तब आखिर अन्तिम कारण के लिए यह भ्रम (इन्द्रजाल) उत्पन्न कैसे होता है? स्पाईनोजा उत्तर देता है कि मनुष्य के अज्ञान से, जो स्वयं उसके स्वभाव का एक अंग है, मनुष्य, अपनी उन्नति के कारणों को न जानते हुए, उत्पन्न होते हैं परन्तु अपने भीतर एक इच्छा पाते हैं कि लाभदायक वस्तुओं को प्राप्त करना चाहिए और उन्हें अपनी इच्छा का ज्ञान भी होता है इसलिए वे अपने को स्वतन्त्र समझ बैठते हैं, परन्तु वास्तव में वे इच्छा क्यों करते हैं इसका उन्हें ज्ञान नहीं होता। मनुष्य अपने लाभ की खोज किया करता है इसलिए उसे अन्तिम कारण सत्य प्रतीत होते हैं और चूंकि इन्हीं अन्तिम कारणों से वे कर्म करने की इच्छा किया करते हैं इसलिए कल्पना करने लगते हैं कि अन्य कारण भी यही (अन्तिम कारण) है। स्पाईनोजा, इन सब बातों की चर्चा करते हुए कहता है कि प्राकृतिक नियमों का कोई नियत उद्देश्य नहीं है। अन्तिम कारण, जिन्हें कहते हैं

वे सब मनुष्यों की ही गढन्त हैं। जगत् के समस्त कार्य परतन्त्रता से होते हैं परन्तु होते अत्यन्त पूर्णता से हैं।

बरीडैन का गदहा और स्पाईनोजा

बरीडैन के गदहे वाली उलझन को सुलझाने के लिए स्पाईनोजा कहता है—"यदि मनुष्य स्वतन्त्रता से काम नहीं करता तो बरीडैन के गदहे की स्थिति में होने से क्या वह भूख से मर जायेगा? यदि उत्तर हां में दिया जाये तो स्वीकार करना पड़ेगा कि वह मनुष्य गदहा या मिट्टी का माधो ही है। यदि उत्तर नकार में हो तो उस मनुष्य के लिये मानना पड़ेगा कि वह स्वतन्त्रता से जो चाहे कर सकता है।" इतना कथन करने के बाद स्पाईनोजा उस गदहे के संबंध में इस प्रकार उत्तर देता है—"मेरा उत्तर यह है कि मैं इस बात से पूर्णतया सहमत हूं कि जो मनुष्य उस (बरीडैन के गदहे) की स्थिति में हो वह भूख प्यास के सिवा कुछ नहीं सोच सकता और यदि खाना पीना दोनों उससे दूर ही रहें तो वह जरूर भूख-प्यास से मर जावेगा।" यदि तुम (स्पाईनोजा कहता है कि) मुझसे पूछो कि ऐसे मनुष्य को तो फिर गदहा काठ का उल्लू ही कहना होगा बजाय इसके कि उसे मनुष्य कहा जाय तो मैं इसका उत्तर यह दूंगा कि "मैं नहीं जानता" ठीक उसी तरह से जैसे मैं नहीं जानता कि क्यों एक आदमी अपने को फांसी पर लटका लेता है? या बच्चों, मूर्खों और पागलों को क्या समझना चाहिये?"

स्पाईनोज़ा की फिलोसोफी का निष्कर्ष

स्पाईनोजा के विचारों का निचोड़ यह है कि जगत् के समस्त कार्य ईश्वर के अनादि नियमानुकूल, ठीक उसी मर्यादा के अनुसार हुआ करते हैं जिस मर्यादा के अनुसार किसी भी त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर हुआ करते हैं। आचारिक नियम आध्यात्मिकता पर निर्भर होते हैं। प्रसन्नता या दिव्य सुख कृपा या दया का फल नहीं होते किन्तु उसकी सत्ता ईश्वर के भाव में निहित रहती है। वह दिव्य ज्ञान हमें यह सिखलाता है कि किसी से न द्वेष करना चाहिये न घृणा, न किसी को झिड़कना चाहिये, न किसी की हंसी उड़ानी चाहिये। जो कुछ हमारे पास हो उससे हमें सन्तुष्ट होना चाहिये और सदैव अपने पड़ोसियों की सहायता करने के लिए तैय्यार रहना चाहिये, पक्षपात या अंधविश्वास के साथ नहीं किन्तु बुद्धि की पथप्रदर्शकता के साथ।

लाइबनिट्ज का अन्तिम कारणवाद

लाइबनिट्ज ने जो अन्तिम कारणवाद की स्थापना की है वह जगत् के तत्त्वों पर विचार करने का आवश्यक परिणाम है। लाइबनिट्ज के मतानुसार जगत् में एक ही तत्त्व है परन्तु उसकी यह एक तत्त्व की कल्पना, स्पाईनोजा के अद्वैतवाद से सर्वथा भिन्न है। उसके एक तत्त्व और स्पाईनोजा के तत्त्व में दरजों का भेद नहीं किन्तु श्रेणी का भेद है। लाइबनिट्ज का यह तत्त्व एक सक्रिय शक्ति है। उसने अपने इस तत्त्व की खींची हुई कमान से उपमा दी है। जिस प्रकार बाहर के दबाव जाते ही कमान सीधी होकर अपनी असली हालत में आ जाती है इसी तरह वह तत्त्व भी बाहरी दबाव के जाते ही अपनी असली हालत में आ जाता है। वह तत्त्व प्रारम्भ में अप्रकटता का रूप धारण किये हुए होता है उसके बाद प्रकटता का रूप धारण कर लेता है। समस्त कर्तृत्व व्यक्तिगत होता है और चेतन शरीर में जो 'शरीर' और 'मन' दो वस्तुयें दिखाई देती हैं उनमें इतना अन्तर है कि शरीर मिश्रित और मन अमिश्रित है। मिश्रित शरीर में अनेक अमिश्रित और मन समाविष्ट होते हैं। प्रत्येक असलियत रखने वाली वस्तु का अन्तिम रूप अमिश्रित और वक्तव्यपूर्ण मन ही होता है, अतः स्पष्ट है कि किसी भी एक प्राणी का शरीर अनेक अमिश्रित सक्रिय शक्तिमान् चेतन तत्त्वों का समुदाय ही हुआ करता है और ये तत्त्व[१] एक दूसरे से इस प्रकार मेल रखते हैं कि इनके सम्मेलन से ही प्राणी चेतन समझा जाया करता है। लाइबनिट्ज के कथनानुसार इन सक्रिय, शक्तिमान्, वक्तव्यपूर्ण और स्वतन्त्र शरीरों के मेल का फल ही ब्रह्माण्ड हुआ करता है। उसने अपने इस वाद में आचारित जगत् का भौतिकी जगत् से क्या सम्बन्ध है, इसका भी समावेश किया है। लाइबनिट्ज कहता है कि उस चेतनतत्त्व (मोनाद) के कर्तृत्व में दो बातें होती हैं—(१) ज्ञान प्राप्त करना (२) इच्छा करना। इनमें से ज्ञानप्राप्ति की समता-बुद्धि और इच्छा की समता इच्छाशक्ति से है। लघुतम चेतन तत्त्वों में ज्ञानप्राप्ति की योग्यता गड़बड़ और निकम्मी होती है और इच्छा भी अन्धी। और इसीलिये वे चेतनाशून्य होते हैं, परन्तु महत्तम चेतन

---

१. इस तत्त्व का नाम लाइबनिट्ज ने मोनाद (Monad) रक्खा है। उसका कहना है कि ये तत्त्व उसी प्रकार अदृश्य होते हैं, जैसे भौतिक विज्ञान में प्रकृति के परमाणु समझे जाते हैं। दोनों में अन्तर स्पष्ट यह है कि परमाणु जड़ होते हैं परन्तु लाइबनिट्ज ने मोनाद को चेतन बतलाया है।

तत्त्वों में ज्ञान प्राप्ति ओर इच्छा करने की पूर्ण योग्यता होती है और वे इसीलिये चेतन होते हैं।[१]

कारण का बंधन

ब्रह्माण्ड में जब प्रत्येक घटित घटना, अनिवार्य कारण की जंजीर से जकड़ी हुई कही जाती है तब उसमें स्वतन्त्रता की खोज नहीं हो सकती और न उसकी खोज का प्रश्न ही उठाया जा सकता है, बल्कि असली प्रश्न, लाइबनिट्ज की सम्मति में, यह है कि किस प्रकार स्वतन्त्रता से परतन्त्रता (बन्धन) पैदा होती है। जब हम किसी क्रिया के लिये कर्म ठहराते हैं तो उसके कर्त्ता में स्वतन्त्रता का मानना अनिवार्य है। जिस प्रकार झुकी हुई कमान के विचार में स्वतन्त्रता मौजूद है, क्योंकि ज्यों ही बाहरी दबाव दूर होता है कमान सीधी हो जाती है। अतः स्पाईनोजा और लाइबनिट्ज के विचारों को संक्षिप्ततया इस प्रकार कह सकते हैं। पहले की दृष्टि में, कर्म परतन्त्रता का यांत्रिक दृश्य है जो पहले से ही पूर्णतया मिश्रित है और प्रत्येक घटना अनिवार्य कारणों का अनिवार्य फल होती है। दूसरे की दृष्टि में समस्त कर्म, कर्त्ता की इच्छा की पूर्ति में होते हैं और वे सभी किसी उद्देश्य या अन्तिम परिणाम से शासित होते हैं, दोनों का प्रत्यक्ष रूप यह है कि पहली सूरत में कारण की शृंखला वर्तमान से असीम भूतकाल की ओर फैली हुई है और दूसरी सूरत में उसका फैलाव अनन्त भविष्य की ओर है।

चौथा सर्ग

इच्छा-स्वतन्त्रता और बुद्धि तथा इच्छा

इच्छा-स्वातन्त्र्यकार की सम्मति में यह अनुभव से भी सिद्ध है कि जो काम हम सोच समझकर इरादे से करते हैं, उनको करते हुये हम अनुभव किया करते हैं कि हम अपनी इच्छा या पसन्द को काम में ला रहे हैं। इन कर्मों के करने में हमें बुद्धि और इच्छा दोनों से काम लेना

---

१. लाइबनिट्ज का यह वाद "The System of the Pre-established Harmony" कहा जाता है। इस वाद में ईश्वर में गुणों की कल्पना करते हुए जहां उन (गुणों) में अत्यन्त पूर्णता की कल्पना की गई है, वहां उन चेतना के आदिम तत्त्वों (Monad) में उन गुणों की अत्यन्त न्यूनता बतलाई गई है। वे गुण चाहे कितनी ही अल्प मात्रा में क्यों न हों परन्तु 'मोनादों' की सत्ता उनमें खाली नहीं है।

पड़ता है। इन दोनों में जो भेद है उसका विवरण इस प्रकार है—'बुद्धि' मनुष्य की एक योग्यता है जिसका काम यह है कि जो कुछ वह चाहता है उसके सम्बन्ध में इधर-उधर की सब बातों से उसे जानकार बना दे। 'इच्छा' दूसरी योग्यता है जिसकी प्रेरणा से मनुष्य कर्म करता है और जिससे उस कर्म में निहित उद्देश्य का वह अनुभव किया करता है। इच्छा-स्वातन्त्र्य में निषेध ओर विधानात्मक दोनों बातें हुआ करती हैं, उसका निषेधात्मक रूप उस अवस्था में प्रकट होता है जब वह बिना रोक-टोक के कोई काम करती है और विधानात्मक रूप उस अनुभव में आता है जब वह अनेक पर्यायों में से किसी एक को काम में लाने के लिये छांट लिया करती है।

इच्छा-स्वातन्त्र्य का स्वरूप और उस पर विचार

यह कहा जाता है कि इच्छा-स्वातन्त्र्य में वाद-विवाद का कारण उसका विधानात्मक रूप अर्थात् किसी पर्याय का छांटना है, परन्तु यह बात विचार से ठीक नहीं जंचती, क्योंकि यदि पर्यायों से ही कर्म नियत होते हैं तब पसन्द अथवा रुचि के लिये कोई स्थान बाकी नहीं रहता और यदि पसन्द नहीं रही तब इच्छा-स्वातन्त्र्य कहां? दर्शन में इच्छा-स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध कारणत्व के प्रकार से बतलाया जाता है। क्या उद्देश्य या अन्तिम कारण इन्द्रजाल और केवल नामरूपमात्र है? कदापि नहीं, क्यों ऐसा कहा जाता है? इसका कारण यह है कि मनुष्य अपनी सत्ता और उस जन्मसिद्ध प्रवृत्ति से, जो उसकी रक्षा के लिये प्राकृतिक नियम उसे देते हैं, अत्यन्त अनभिज्ञ उत्पन्न हुआ करता है। अतः संक्षेपतः प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य सर्वतोभावेन परतन्त्रता का फल या रूप है या किन्हीं सुबोध अर्थों में अपने अन्तिम उद्देश्य पर अधिकार भी है? उत्तर में कहा जा सकता है कि एक ओर तो यह असंभव है, यदि यह कह दिया जाये कि मनुष्य के समस्त कार्य गतिमय अथवा कार्यपूर्ति के साधक कारणों पर निर्भर नहीं होते, दूसरी ओर बिना अन्तिम कारण अथवा बिना अन्तिम उद्देश्य के स्वीकार किये भी, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि मनुष्य कर्त्तव्य की ओर चल सके या अपने व्यक्तित्व का कोई अर्थ बतला सके। अस्तु, अब देखना यह है कि वर्त्तमान विज्ञान ने इस प्रश्न के हल करने में कहां तक सफलता प्राप्त की है।

पांचवां सर्ग

इच्छा-स्वातन्त्र्य और विज्ञान

वर्तमान विज्ञान में जो समय-समय पर उतार-चढ़ाव होते रहते हैं उन्होंने इच्छा-स्वातन्त्र्य के प्रश्न का रूप बदलकर, इस प्रश्न पर विचार करने वालों का ध्यान दूसरी ओर लगा दिया है। अब यह प्रश्न इस रूप में है कि क्या मानव जीवन का प्रादुर्भाव प्रकृति के भिन्न-भिन्न अवयवों के मेल का परिणाम है या उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता है और सब कुछ करने में वह स्वतन्त्र है ? इस परिवर्तन का फल यह हुआ कि जहां इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न पहले व्यक्तिगत और आन्तरिक था वहां अब समष्टि और जगत् से सम्बन्धित प्रश्न हो गया। अब भी प्रश्न जिस परिवर्तित रूप में है, उसके दो पहलू हैं—

प्रश्न का नया रूप

(१) प्रकृति से बने हुए बाह्यजगत् में तो परिस्थिति और परतन्त्रता का पूर्णतया साम्राज्य है, परन्तु (२) मानव जीवन के विकास में स्वतन्त्रता, भीतर से बिना बाह्य प्रभावों से प्रभावित हुए काम करने की योग्यता, शरीर और बाह्य प्रकृति की इच्छानुसार काम में लगाने और उन्हें नियन्त्रण में रखने की शक्ति, जिससे अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति हो सके पाई जाती है, अथवा जीवन में आन्तरिक शक्ति का होना पाया जाता है जो उसकी वास्तविकता का प्रकाश करती है और प्रकृति में वास्तविकता है जो उसकी आन्तरिक शक्ति को सीमित रखती है[१]। प्रश्न (इच्छा-स्वातन्त्र्य) का अब असली रूप यह है।

विज्ञान के दो प्रश्न

विज्ञान में जो डारविन के विकासवाद से परिवर्तन हुए हैं, उनको लक्ष्य में रखते हुए देखा जाता है तो दो समस्यायें हैं जो वर्तमान विज्ञान के सामने हैं—

(१) योनिविकास, जिसके द्वारा प्रंचलित उन्नत प्राणियों की उत्पत्ति पुरानी और सरल योनियों से बतलाई जाती है।

---

१. अंग्रेजी के शब्द ये हैं—"In life there seems to be a potentiality which transcends its actuality.
In Matter an actuality which circumscribes its potentiality.

(२) जगदुत्पत्ति जो नीहार नैबिड्य (नेबुलाओं के घनत्व) से हुई और जिसमें अधिक दिलचस्पी पैदा हो जाने का कारण नूतन सम्बन्ध-नियमवाद और प्रकाश-मात्रावाद के आविष्कार हुए।[१]

प्राणिशास्त्र की सीमा

इस शास्त्र का सम्बन्ध चेतन प्राणियों की आदिमोत्पत्ति या उनके कर्तृत्व प्रकार से नहीं है, इस शास्त्र का अभिप्राय केवल इतना बतला देना है कि किस प्रकार विशेष योनियों में विभिन्नता हुई। इसीलिये इस शास्त्र में प्रकृति और चेतनामय जीवन को सिद्ध स्वीकार कर लिया गया है।

विकासवाद

विकासवाद के लिए भी, यह ठीक कहा जाता है कि उसका काम चेतनामय जीवन की आदिमोत्पत्ति बतलाना नहीं है, क्योंकि यह विकासवाद है उत्पत्तिवाद नहीं और यह भी ठीक है कि यह वाद इच्छा-स्वातन्त्र्य या उत्तरदायित्व संबंधी प्रश्नों का भी कोई हल उपस्थित नहीं करता, जिन प्रश्नों के लिए यह समझा जाता है कि वे बुद्धि के रूप में, आत्मज्ञान पाये जाने से मनुष्य के भीतर है।

जड़त्व नियम

न्यूटन के मतानुसार, जो उसने आदिम गतिनियम को प्रकट करते हुए प्रकट किया, वह जड़त्व नियम यह है कि प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु, चाहे वह गति में हो या ठहरी हुई हो, जिस हालत में भी होती है उसी में रहा करती है, उसमें परिवर्तन उसी अवस्था में होता है जब कोई बाह्य शक्ति हस्तक्षेप करती है।

प्राणीसंसार

व्यक्तियों, इन्द्रियमय शरीरधारियों स्वयं उत्पन्न होने वालों, अपने पांव पर खड़े होने वालों और ऐसे प्राणियों से, प्राणिसंसार बना करता है, जो अपने कर्तृत्व को अपने लिए सुरक्षित रखा करते हैं। वह कर्तृत्व यान्त्रिक नहीं होता बल्कि सोच-समझकर किया हुआ होता है। इसीलिए उसे केवल गति नहीं कह सकते किन्तु चेतनामय शक्ति, एक चेतन

---

१. नूतन सम्बन्ध-नियम वाद (New Principle of relativity) का अभिप्राय यह है कि दो स्थानों की दूरी और दो घटनाओं के बीच का समय निश्चित दूरी और निश्चित समय नहीं है। वे भिन्न-भिन्न अन्वेषकों के लिए अपना भिन्न-भिन्न मूल्य रखते हैं। (यह वाद भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित है)।

प्राणी, अपना उत्तरदायित्व समझने वाला, सदैव उद्देश्यमय हुआ करता है और चेतनामय पुरुषार्थ सदैव अन्तिमोद्देश्य से निश्चित हुआ करता है, चाहे उसकी पूर्ति का साधन गतिमय कारण ही क्यों न हो। अतः यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि प्राणिमात्र अन्तिम कारणों और उद्देश्यों को इन्द्रजाल ठहरावें।

एक उदाहरण

उदाहरण के लिये एक वृक्ष, अत्यन्त क्षुद्रजन्तु जिन्हें खुर्दबीन ही की सहायता से देखा जाता है, या किसी पशु को लो। प्राणिशास्त्र का काम, उसके शरीर की बनावट भौतिक और रासायनिक तत्त्वों से भूतकाल में कैसी थी और अब वर्तमान में कैसी है, इसका अत्यन्त पूर्णता के साथ वर्णन कर देना है, परन्तु वह वर्णित वितरण इतना स्पष्ट हो कि जिससे उस प्राणी का ज्ञान हो सके। पुराने ढंग को छोड़कर विज्ञान उसका वर्णन अब उसके ढांचे की बनावट और उसके कार्यों की जांच से किया करता है, परन्तु यदि हम मान लेवें कि उसका उद्देश्य, उसका अन्त और अन्तिम कारण केवल इन्द्रजाल है तो उसके बनावट और उसके कार्यों के जानने की कोई उपयोगिता नहीं रहती।

चेतना का विवरण देने में वैज्ञानिक दो भागों में विभक्त हैं—

चेतना और विज्ञान

(१) जड़ाद्वैतवादियों का विचार यह है कि शरीर के अवयवों के मेल से चेतना की उत्पत्ति हो जाती है।

(२) परन्तु जीवन-पार्थक्यवादियों का मत इसके सर्वथा विरुद्ध है। उनका कहना यह है कि जीवन के नियम और प्राणियों के कर्म करने की योग्यता का हल उपर्युक्त जड़वाद से नहीं हो सकता।

जीवन-पार्थक्यवाद और इच्छा-स्वातन्त्र्य

जीवन-पार्थक्यवादियों के मतानुसार जीवन एक शक्ति है जो विघ्न-बाधाओं के विरुद्ध काम करती है, अवसरों से लाभ उठाते हुये ऐसी सूरतें और ऐसी अवस्थायें पैदा करती है जिनसे वह अपना प्रकाश कर सके।

जीवन एक क्रान्तिकारी और आगे बढ़ाने वाली शक्ति है जो अपने प्रकाश के लिए नये-नये स्थानों की खोज किया करती है। कुछ विद्वानों के मतानुसार मालूम यह होता है कि कतिपय कार्बन मिश्रितों (Carbon Compounds) की अस्थिरता से लाभ उठाकर, इस धराधाम पर पांव

जमाने के लिये सूर्य की ताप-शक्ति का उपयोग लेते हुए उन्नत विकसित रूप में जीवन भिन्न-भिन्न योनियों में प्रकट हुआ।

परिणाम इच्छास्वातन्त्र्य

जीवन-पार्थक्यवादियों के उपयुक्त अनुसार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वयं वेडन के नियम ही इच्छा-स्वातन्त्र्य की वास्तविकता के पोषक हैं और इस बात को निराद्रित करते हैं कि स्वतन्त्रता इन्द्रजाल है।

छठा सर्ग

कारण और कार्यवाद

गैलिलियो (Galileo) के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के फैलने और डैकार्ट (Descrates) के नूतन पद्धतियों के प्रभाव से कारण और कार्यवाद की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ था। कार्य कारण का सम्बन्ध समझने की दृष्टि से वैज्ञानिकों के दो भेद हो गये। (१) पहले श्रेणी में वे वैज्ञानिक थे जो इस सम्बन्ध को वास्तविक सम्बन्ध समझते थे (२) और दूसरी श्रेणी के वैज्ञानिक इस सम्बन्ध को केवल आदर्श मानते थे। एक फरीक के मतानुसार यह सम्बन्ध मन की आन्तरिक आवश्यकता थी, परन्तु दूसरा फरीक उसे वस्तुओं का इस सम्बन्ध में वास्तविक रूप मानता था। अस्तु! कार्य कारण का सम्बन्ध सार्वत्रिक है और प्रत्येक का अनुभूत मौलिक नियम है। किसी बात की घटना का नाम देने से हमें कार्यकारण के सम्बन्ध का मानना अनिवार्य-सा हो जाता है। यदि एक वस्तु प्राकृतिक वस्तु है, तो क्यों ऐसी ही है, क्यों दूसरे प्रकार की नहीं? यदि एक घटना है तो वह क्यों घटित हुई और क्यों इसी प्रकार से घटित हुई? इस "क्यों" का उत्तर जिससे मिलता है उसी को हम कारण कहते हैं और वस्तु या घटना को कार्य। इस विश्वव्यापक विचारशैली से, जब उसका प्रयोग हम किसी घटना पर करते हैं तो स्वयमेव वह घटना परतन्त्रता का रूप धारण कर लेती है। परन्तु इस विश्वव्यापक विचारशैली से हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि वह परतन्त्रता हमारे विचार की आन्तरिक अवस्था है अथवा विचाराधीन वस्तु की बाह्य अवस्था, क्योंकि कारण दो विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के लिये प्रयुक्त हुआ करता है। (१) वे कारण जो वस्तुओं के प्रकार से सम्बन्ध रखते हैं, (२) वे कारण जिनका सम्बन्ध वस्तुओं के प्रकार से नहीं होता अपितु वे कर्ता के इच्छित और कृत कर्म हुआ करते है। अतः स्पष्ट है

कि कर्ता के इच्छित और कृत कर्म परतन्त्रता के कर्म नहीं हो सकते। यदि उन्हें परतन्त्रता कहा भी जाये तो उस परतन्त्रता के दूसरे अर्थ होंगे। कल्पना करो कि एक जंगल में आग लग गई। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—(१) एक तो यह कि जंगल के सूखे होने के कारण रगड़ से आग पैदा हुई और वायु ने उसे फैला दिया, (२) दूसरा कारण यह हो सकता है कि किसी ने सिगरेट जलाकर जलती हुई दियासलाई को जंगल की घास पर फैंक दिया। इस दूसरी सूरत में कर्ता के कर्म में परतन्त्रता का आरोप किया भी जाये तो वह परतंत्रता दूसरे अर्थ वाली होगी। यहां यह बात याद रख लेनी चाहिये कि जो कर्म इरादा करके ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं, उनके करने वालों में इस प्रकार की परतन्त्रता के साथ एक शक्ति भी होती है जिससे वे प्राकृतिक नियमों में निहित परतंत्रता नियम को काम में लाया करते हैं। वही शक्ति के स्वतन्त्र होने का संकेत करती है। इस कारण और कार्यवाद के सम्बन्ध में योरुप के कुछेक दार्शनिकों के मत, जो विषय से सम्बन्ध रखते हैं, दिये जाते हैं।

डैविड ह्यूम (David Hume १७११-१७७६)

हमारा समस्त ज्ञान अनुभव से प्राप्त हुआ करता है और अनुभव संस्कार और विचारों की धारा का नाम है जो एक-दूसरे के बाद श्रमपूर्वक मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होते रहते हैं। प्रत्येक अनुभव में, वर्तमान प्रभावों के सिवा भूतकालिक स्मृति और वासनाओं का भी समावेश होता है। हम वर्तमान संस्कारों का भूतकालिक संस्कारों से, जो उनसे मिलते जुलते होते हैं, मुकाबिला कर सकते हैं। इस प्रकार भूतकालिक संस्कारों के पुनः स्मरण से न केवल वर्तमान संस्कारों से मिलती जुलती पुरानी स्मृति ताजा होती है, बल्कि वे पुराने विचार भी ताजा होते हैं जो भूतकालिक अनुभव में सम्मिलित थे। इस प्रकार हम अपने अनुभवों को वस्तु का रूप देते हैं और संस्कारों और विचारों की जगह, जो हमारे अधिकार में होते हैं, हम एक ऐसी दुनिया का विचार करने लगते हैं जो ऐसी वस्तुओं से बनी है और जो हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान का स्रोत या कारण होती है। हम कितना ही ध्यान से अपने अनुभव की जांच या उसका विश्लेषण करें तो भी हम किसी घटना में कोई ऐसी चीज नहीं पाते हैं जिसे किसी अन्य वस्तु का कारण कहा जा सके।

एक उदाहरण

हम एक दियासलाई का बॉक्स लेकर उसमें से एक दियासलाई

निकालते हैं और उसे बॉक्स से रगड़ते हैं तब हम को एक और वस्तु अग्नि या प्रकाश का ज्ञान होता है, दोनों वस्तुयें दियासलाई और अग्नि एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न हैं। दियासलाई का तत्त्वत: विश्लेषण करने से भी अग्नि का कारण उसमें नहीं मिलता और इसी प्रकार अग्नि के भी विश्लेषण से दियासलाई के कार्य का चिह्न उसमें दिखाई नहीं देता। अत: ह्यूम की सम्मति के कारण और कार्य एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न वस्तु हैं और एक में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे उसके आधार पर दूसरे की कोई आशा कर सके। तब कारण और कार्य का सम्बन्ध इनमें नहीं खोजा जा सकता। यह सम्बन्ध इनके लिये जो हमारी विचारशैली है उसी में कहीं होना चाहिये ? अस्तु, ह्यूम ने परिणाम यह निकाला है कि कारण कार्यवाद कहीं नहीं पाया जाता और उन घटनाओं में इस प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है जो अनुभव का निर्माण करती है, यह विश्वास रिवाज के तौर पर हमारे अन्दर मौजूद है अन्यथा इस कारण कार्यवाद की कुछ असलियत नहीं है। हम हमेशा देखते हैं कि दियासलाई रगड़ने से आग पैदा हो जाती है इसलिये जब हमें जरूरत होती है दियासलाई रगड़ देते हैं और विश्वास रखते है कि जरूर आग पैदा हो जायेगी।

ह्यूम के इस तर्क पर विचार

ह्यूम का यह तर्क ह्यूम के सन्देहवाद (Humes Scepticism) के नाम से प्रसिद्ध है, यदि ह्यूम के इस तर्क को ठीक मान लिया जाये तो फिर तो समस्त वर्तमान विज्ञान इन्द्रजाल ही ठहरेगा, क्योंकि उसकी भित्ति कारण कार्यवाद ही पर ठहरी हुई है, और यदि यह मान लिया जाये कि समस्त ज्ञान अनुभव ही से उत्पन्न होता है तो ह्यूम का तर्क ठीक ठहरेगा, क्योंकि यह स्पष्ट है कि अनुभव से अनुभव की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। अवश्य योरुप के कुछेक दार्शनिकों ने ह्यूम का समर्थन अपने तर्कों से करते हुए अपनी सम्मति प्रकट की है कि भौतिक विज्ञान ह्यूम के निकाले परिणाम को स्वीकार करके कारणवाद के विचार को छोड़ सकता है, परन्तु ह्यूम का यह तर्क सन्तोषप्रद नहीं है। उसने कारण शब्द का ठीक प्रयोग नहीं किया है। उसने कदाचित् इस शब्द को भौतिक नियति या इच्छानुसार किये हुए कर्म के ही अर्थ में लिया है।

कांट

ह्यूम के इस तर्क का उत्तर जगत् प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट ने

दिया है।[१] उसने इस ज्ञान प्राप्ति के सम्बन्ध में एक नया वाद स्थापित करते हुए उसका नाम सर्वातिरिक्तवाद (Transcendental Theory) रक्खा है। उसने इस वाद के द्वारा प्रमाणित किया है कि सम्भावित अनुभव से ज्ञान का सम्बन्धमात्र है, साक्षात् अनुभव उसका स्रोत नहीं है, जैसी कि ह्यूम ने कल्पना की है। कांट के इस वाद में कारणत्व ज्ञान-प्राप्ति की एक सीढ़ी है और मन एक प्रकार सांचा है जिसमें अनुभव का आकार बना करता है। ज्ञान इस प्रकार (कांट के मतानुसार) दो साधनों से अपना रूप ग्रहण किया करता है (१) अनुभव—जिससे भीतरी मलवा प्राप्त हुआ करता है, (२) मन—जिससे आकार की प्राप्ति हुआ करती है।

कारणवाद के सम्बन्ध में विकासवाद

ह्यूम और कांट के विचारों से सर्वथा विभिन्न विचार कारणवांद के सम्बन्ध में विकासवाद ने उपस्थित किया है। एक व्यक्ति के शरीर के अन्दर शारीरिक कार्यप्रणाली की निरन्तरता और विभिन्न योनियों के विकास में ऐतिहासिक निरन्तरता ये दोनों भौतिक कारणवाद के विचार से सर्वथा विभिन्न हैं।

भौतिक कारणवाद के विषय में कारण और कार्य के मध्य कार्य-प्रणाली की निरन्तरता नपी-तुली, गणित के नियमों, दो और दो चार के सदृश होती है और समय तथा आकाश इस अवस्था को स्थिर रखा करते हैं। जब हम कहते हैं कि अग्नि से जंगल जल गया तो इसका अभिप्राय यह होता है कि हम भौतिक घटना की दो अवस्थाएं ले सकते हैं—(१) आग लगने से पहले उस जंगल की हालत (२) जलने के बाद की उसकी अवस्था, इन दोनों अवस्थाओं में निरन्तरता और क्रम दोनों पाये जाते हैं। अग्नि ने यद्यपि जंगल का रूप बदल दिया परन्तु वस्तु को नष्ट नहीं किया। अस्तु, इस उदाहरण में अग्नि, जिसे कारण कहते हैं, केवल रूप बदलने का हेतु हुई। इस उदाहरण में अग्नि मात्रा की दृष्टि से शक्ति समझी जाती है और इसे शक्ति समझने के विचार में कार्य और प्रतिकार्य की पूर्ण समता का समावेश है। निष्कर्ष यह है कि भौतिक कार्य कारणवाद प्रारम्भ से अन्त तक, गणित के नियमों के सदृश, नपा तुला होता है। परन्तु इस भौतिक कारण कार्यवाद की स्कीम में शारीरिक कार्यप्रणाली नहीं आती। शारीरिक कार्यप्रणाली में भी कारण कार्यवाद

१. देखो—"Critique of pure Reason" by Kant.

पाया जाता है, परन्तु वह गणित के नियमों के सदृश नपा तुला और यान्त्रिक नहीं होता। जीवित वस्तुओं में प्रति ऐतिहासिक निरन्तरता पाई जाती है परन्तु ऐतिहासिक निरन्तरता और गणितानुकूल यान्त्रिक निरन्तरता में दरजों का नहीं किन्तु श्रेणी का भेद होता है।

एक उदाहरण

एक जीवित प्राणी की दो अवस्थाओं को देखो—(१) जब वह माता की गोद में रहता है और उसे मल-मूत्र त्याग की बुद्धि नहीं होती। (२) जब वह युवा होकर वेशभूषा से सुसज्जित होकर स्वयं कारोबार करता है। ऐतिहासिक निरन्तरता का, जिससे प्राणी की इन दोनों अवस्थाओं की पहचान हुआ करती है, गणितिक निरन्तरता की समता से कुछ सम्बन्ध नहीं है। गणितिक निरन्तरता के क्षेत्र को चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न कर दो, उसकी समता ऐतिहासिक निरन्तरता से नहीं हो सकती। ऐसा होने पर भी, कांट कहता है कि शारीरिक कर्तव्य से हम कारणत्व के विचार को दूर नहीं कर सकते, क्योंकि प्राकृतिक वस्तुओं के सदृश, जीवित प्राणियों की बनावट में वर्तमान, भूतकाल से बनता और भविष्य को बनाता है।

जीवित प्राणियों के कारणत्व के निर्माण में एक बड़ा और आवश्यक साधन उनका जीवनोद्देश्य हुआ करता है जिसका भौतिक पदार्थों में न केवल अभाव होता है बल्कि वह भौतिक पदार्थों के नियमों से सर्वथा विरुद्ध भी है। जीवित प्राणियों के कर्म सोद्देश्य होते हैं और उद्देश्य बनाने का आवश्यक साधन इच्छा-स्वातन्त्र्य है और वह भी अभावात्मक अर्थ में नहीं अर्थात् रुकावटों का अभावमात्र नहीं होता किन्तु रचनात्मक अर्थों वाला भी होता है अर्थात् उत्पन्न करने की योग्यता भी उसमें होती है।

जीवित प्राणियों के कर्मों में एक और भी विशेषता होती है अर्थात् वे (कर्म) निरन्तर कुछ न कुछ नई बात पैदा करते रहते हैं और वे नई बातें न केवल ऐसी होती हैं कि जो पहले की देखी हुई नहीं होती, किन्तु कुछ ऐसी भी होती हैं जिनका पहले से कुछ विचार भी नहीं कर सकते।

स्वतन्त्रता का अभिप्राय

जब हम जीवित प्राणियों के इच्छा-स्वातन्त्र्य का उल्लेख करते हैं, तब इस प्रकार का उसका अभिप्राय नहीं होता कि पानी न्यागरा से गिरने में स्वतन्त्र है किन्तु तात्पर्य यह होता है कि जीवन नई बातों की

रचना करने में स्वतन्त्र होता है। जड़ता और जीवन के कारणत्व की तुलना करो तो पता चलेगा कि जड़वस्तु का भूत उससे सर्वथा पृथक् और पीछे छूट जाता है और वर्तमान में वह वस्तु जैसी है, वैसी ही रहती है, परन्तु उसका वर्तमान रूप वह नहीं रहता जैसा भूतकाल में था। परन्तु जीवित प्राणियों की अवस्था इससे सर्वथा भिन्न होती है। जीवित प्राणी अपने भूत को वर्तमान में ले जाता है और निरन्तर अपने भविष्य का निर्माण करता रहता है।

प्राकृतिक वस्तुओं के कारणत्व का रूप किसी अन्य वस्तु के साथ जुड़ा हुआ बाह्य सम्बन्ध हुआ करता है और यह स्पष्ट है कि उनमें से कोई कारण निरपेक्ष[१] कारण नहीं हो सकता, यदि उसके कार्यरूप में परिवर्तित हो जाने की सम्भावना हो अथवा वह कार्यरूप में परिवर्तित हो गया हो। जगत् में प्रचलित प्राकृतिक कारण इस दोष से मुक्त नहीं हो सकते, परन्तु जीवित प्राणियों से भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों काल मिले हुये रहा करते हैं। वह भूतकाल को अपने भीतर रखते हुये ही भविष्य की ओर चला करता है।

प्राकृतिक वस्तुओं के भविष्य का हिसाब लगाया जा सकता है यदि वर्तमान में काम करने वाली शक्तियों का हिसाब लगा लिया जावे, परन्तु जीवित प्राणियों के भविष्य का हिसाब नहीं लगाया जा सकता क्योंकि उनके भीतर परिवर्तन करने वाली जो शक्ति काम किया करती है वह उनसे न तो पृथक् हो सकती है और न पृथक् की ही जा सकती है। यह नियम सार्वत्रिक है और सभी प्रकार के जीवित प्राणियों में, चाहे वे बुद्धि रखते हों, जैसे मनुष्य अथवा तुच्छ कीट-पतंग और वृक्षादि काम करता हुआ देखा जाता है।

एक वृक्ष का उदाहरण

डिसाईडुअस (Deciduous) एक वृक्ष की कार्यप्रणाली को देखो, वह अपनी परिस्थिति के अनुकूल अपने में अपेक्षित परिवर्तन कर लिया करता है। न केवल तात्कालिक प्रभावों से प्रभावित होकर किन्तु ऋतुओं के अनुकूल जो प्रभाव उस पर पड़ने वाले होते हैं उनके लिये अपेक्षित परिवर्तन करके पहले से ही अपने को तैयार कर लिया करता है। वह (वृक्ष) प्रतीक्षा नहीं करता कि शीत आकर उसे सताने लगे तब वह अपनी कोमल कलियों को पाले से रक्षा करने की कोई स्कीम बनावे, किन्तु पहले से ही अपने पत्तों को गिरा कलियों को दृढ़ बना

लिया करता है। स्पष्ट है कि उसने अपने भविष्य अर्थात् आने वाली शीत ऋतु का प्रबन्ध वर्तमान काल में ही कर लिया। उसके इस सोद्देश्य कार्य को इन्द्रजाल नहीं कहा जा सकता।

परिणाम

इन समस्त घटनाओं पर विचार करके अनिवार्य रीति से यह नतीजा निकालना पड़ता है कि जहां जीवन है वहां सोद्देश्यता पाई जाती है और सोद्देश्यता के लिये स्वतन्त्रता अपेक्षित है। यह स्वतन्त्रता उस परतन्त्रता के मुकाबिले में है, जिसका साम्राज्य भौतिक संसार में फैला हुआ है और इस स्वतन्त्रता को प्राणी अपेक्षित प्रयोग में लाते और ला सकते हैं, प्राणियों की विभिन्नता की दृष्टि से इस स्वतन्त्रता का मात्राभेद तो प्राणियों में अवश्य पाया जाता है परन्तु स्वतन्त्रता है समस्त प्राणियों में, इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

सातवां सर्ग

बर्गसन (Bergson) और इच्छा-स्वातन्त्र्य

इच्छा-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में उस पुरानी पहेली 'बरीडेन के गदहे' को बर्गसन ने इस प्रकार सुलझाने की कोशिश की है बर्गसन कहता है कि इच्छा-स्वातन्त्र्य से एक भ्रम उत्पन्न होता है। वह भ्रम प्रायः कहा जाता है कि इच्छा-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में है परन्तु वास्तव में उस भ्रम का सम्बन्ध परतन्त्रता से है।

बर्गसन ने अपने प्रथम वर्गीय ग्रन्थ 'समय और इच्छा-स्वातन्त्र्य"[१] में इच्छा-स्वातन्त्र्यवाद की कठिनाइयों का अच्छा समाधान किया है और विचार करते हुए उत्तमता से बतलाया है कि किस प्रकार एक शारीरिक कृत्य के समाप्त होने से पहले एक भ्रम उत्पन्न होता है और वह भ्रम स्वाभाविक, या यों कहिये कि अनिवार्य रीति से उत्पन्न होता है कि एक शक्ति उस कृत्य का पहले से निश्चय किये हुये है। बर्गसन के कथनानुसार, हम प्रत्येक प्राणी की तरह जीवन का अनुष्ठान करने की प्रवृत्ति में बद्ध हैं। घड़ी-घड़ी के बाद ज्यों-ज्यों हमारी आयु कटती जाती

---

१. प्रकृति (सत, रज, तम की साम्यावस्था) प्रकृति रूप में कभी कार्य नहीं हुआ करती इसलिए वह निरपेक्ष कारण है, परन्तु मिट्टी के घड़ेरूपी कार्य में परिवर्तित हो जाती है इसलिए यह सापेक्ष कारण है। सापेक्ष कारण अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से कभी कारण और कभी कार्य हुआ करता है।

है, हम अपने को बनाते चले जाते हैं और बर्फ के गोले के सदृश कि ज्यों-ज्यों लुढ़कता है, बढ़ता चला जाता है, हम अपने भूतकाल के साथ बढ़ते रहते हैं। कर्म करने का प्रारम्भ करने से पहले बराबर हमें अपनी इच्छा बनानी पड़ती है। और उस रुचि (इच्छा) से हम न केवल आगे के कर्तव्य का कुछ निश्चय करते हैं बल्कि अपने लिये भी कुछेक अन्य आवश्यक बातें निश्चय करते जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कर्म का प्रारम्भ करते हुए हम अपने लिये जो निश्चय करते जाते हैं उसमें समस्त भूतकाल के समाविष्ट हो जाने से हम एक केन्द्राभिमुखी हो जाते हैं हमको चाहे उस भूतकाल की खबर हो या न हो, परन्तु वह हमारे साथ अपने छोड़े हुये संस्कारों आदि के द्वारा बराबर चलता रहता है। यही हमारे व्यक्तित्व का वैभव है। इन अवस्थाओं से गुजरते हुये जब हम पीछे फिरकर अपने समाप्त किये हुये कार्यों पर दृष्टिपात करते हैं तो हमको हमारा भूतकाल, कारण की शृंखला में दिखलाई देता है और प्रत्येक कार्य, अनिवार्य प्रभावों से जो पड़ चुके हैं, पहले से निश्चित प्रतीत होने लगता है। ये प्रभाव हमें बाहर से आये हुये प्रतीत होते हैं और भान होने लगता है कि हमारे ऊपर कहीं से डाले गये हैं परन्तु सच्चाई यह है कि हम उसी भूतकाल से बने हुये हैं। जिस कार्य को स्वतन्त्रता से वर्तमानकाल में करते हैं, समाप्त होकर वही भूतकाल अथवा परतन्त्रता का रूप धारण कर लेता है। यही वह परतन्त्रता का भ्रम है जिस का ऊपर उल्लेख हुआ है।

क्या भविष्य का ज्ञान सम्भव है?

यदि कल्पना की जाये कि कोई व्यक्ति, उन समस्त प्रभावों का जानकार है, जो हम पर कर्म करते हुये पड़ते रहते हैं तो वह हमारे भविष्य में किये जाने वाले कर्मों की पेशीनगोई कर सकता है परन्तु यह सम्भव उसी अवस्था में हो सकता है जब पेशीनगोई करने वाला, हमारे उस कर्म के प्रारम्भ करने की घड़ी तक प्रारम्भ से पूरी-पूरी जानकारी रखता हो। यदि ऐसी किसी सूरत की कल्पना की जाये तो इसके फलरूप में मानना पड़ेगा कि उस कर्मकर्त्ता और पेशीनगोई करने वाले में कोई अन्तर नहीं रहा और वह पेशीनगोई करने वाला उस कर्म करने वाले की प्रतिकृति मात्र है।

---

१. "Time and Freewill" by Bergson.

एक उदाहरण और उस पर विचार

एक व्यक्ति पीटर है जिसने एक महत्त्वपूर्ण निश्चय किया है और एक दूसरा व्यक्ति पाल है जिसे उस निश्चय के करते समय तक पीटर की प्रत्येक प्रवृत्ति का भान है तो बतलाओ कि क्या पाल बतला सकेगा कि पीटर क्या निश्चय करेगा? उत्तर इस प्रश्न का हां में दिया जायेगा। कल्पना के तौर पर तो यह मान लेना ठीक है कि पाल को पीटर के सम्बन्ध में सब कुछ ज्ञान है अर्थात् उसे वह भी ज्ञान है जो कर्म करने का प्रारम्भ करते समय पीटर की स्मृति में नहीं था, विचार यह करना चाहिये कि उस ज्ञान में क्या-क्या बातें सम्मिलित हैं? उस ज्ञान में, कम से कम निम्न बातें समाविष्ट होनी चाहियें—

(१) निश्चय करते समय तक पीटर के समस्त भूतकाल का ज्ञान।

(२) पीटर का उस समय तक का समस्त जीवनचरित्र, क्योंकि उन्हीं के प्रभावों से प्रभावित होकर पीटर ने निश्चय किया है।

(३) संख्या १, २ के अन्तर्गत उन समस्त का समावेश समझना चाहिये जिनसे पीटर, पीटर बना है।

विचार का फल

ऊपर जिन बातों का उल्लेख हुआ है उन पर विचार करने से प्रकट होता है कि जीवन के दो रूप हैं—

(१) वह अपने कर्मों के द्वारा अपने को बनाता हुआ नये रूपों में प्रकट होता है जिसमें उसका भूतकाल वर्तमान के कर्तव्यों में सम्मिलित होता हुआ भविष्य के निर्माण का कारण बना करता है। स्पष्ट है कि यह इच्छा-स्वातन्त्र्य का एक रूप है।

(२) भूतकाल, जो पीछे रह जाता है, अनन्य व्याकरणीय होता है। वह समय-समय पर पूर्ण किये हुए कर्मों का लेखा है। उसमें इतिहासानुसारेण निरन्तरता पाई जाती है। प्रत्येक भावी घटना उसी भूतकाल का फल होती है। स्पष्ट है कि वह परतन्त्रता का रूप है।

बर्गसन ने, उपर्युक्त बातों को प्रकट करते हुए कहा है कि चेतन-जगत् का ज्ञान प्राप्त करने से इच्छा-स्वातन्त्र्य जैसे कठिन विषय पर अच्छा खासा प्रकाश पड़ जाता है। वह कहता है कि प्राकृतिक जगत् और उसके समस्त फैलाव पर नजर डालने से, हृदय में प्रश्न उठते हैं कि जगत् का प्राथमिक नियम क्या है?

क्या प्राकृतिक तत्त्व से उत्पादक शक्ति का जगत् में प्रकाश होता है ? क्या जगत् स्वयमेव एक जीवन रूप है, जो अपना प्रकाश करता है ? क्या इच्छा-स्वातन्त्र्य प्राणियों का हृदय परतन्त्रता, उनका नामरूपमात्र है ? या इसके विपरीत इच्छा-स्वातन्त्र्य भ्रम और इस जगत् का बाह्य आकार मात्र है, जिसका भविष्य एक प्रकार की परतन्त्रता से बंधा हुआ है, जो उसके भूतकाल को अपरिवर्तनीय बनाता है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है, बर्गसन का उत्तर यह है कि दोनों (इच्छा-स्वातन्त्र्य और परतन्त्रता) साथ-साथ अपने को प्रकट किया करती हैं।

जीवन और प्रकृति

बर्गसन ने अपने दर्शन में जिन दो वादों[१] का विवरण दिया है उनके समझने के लिये आवश्यक है कि उनसे सम्बन्धित कुछ अन्य बातें भी जान ली जायें। उनमें से जीवन और जड़-जगत् का सब से पहले जान लेना आवश्यक है। किसी वस्तु के ज्ञान प्राप्त करने के दो साधन हुआ हैं। (१) उसका आन्तरिक ज्ञान, (२) उसका बाह्यज्ञान। ज्ञाता मन होता है और ज्ञातवस्तु जगत्। इस ज्ञानप्राप्ति के सम्बन्ध में भी दो वाद हैं। (१) द्वैतवाद, (२) चेतनाद्वैतवाद।

द्वैतवाद

(१) इस वाद का झुकाव मन को ज्ञान प्राप्ति के कार्य में इस प्रकार लगा देना, जिससे वह उस समय किसी दूसरी ओर न जा सके। इस क्रिया को कोई भी कर्ता, जिसके भीतर संकल्प विकल्प करने की योग्यता है, किसी **दूसरी** वस्तु पर काम में ला सकता है।

(२) न केवल ज्ञान का प्रारम्भ अपितु अनुभव के प्रकल्प निरूपण द्वारा ज्ञान प्राप्ति की समस्त कार्यप्रणाली को, जिसमें, ज्ञेय भी सम्मिलित है, मन की ही उपाधि ठहराना अद्वैतवाद है।

ज्ञानप्राप्ति से सम्बन्धित वाद

जगत्-सम्बन्धी समस्त ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुआ करता है। (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) त्वचा इत्यादि इन्द्रियों के द्वारा ज्ञेय के साकार रूपों का, यद्यपि हमें ज्ञान होता है, परन्तु विज्ञान प्रकट करता है कि प्रकृति नामरूप रहित है।

चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति

वस्तु से आई (या वस्तु से लौटी हुई) किरणों के द्वारा जो रूप वस्तु का आंख में बना करता है, वह प्रकाश की किरणों के नेत्र पटल

पर एकत्रित होने से बना करता है, परन्तु इस प्रकार प्रकाश किरणों की एक केन्द्राभिमुखता प्रकृति में नहीं पाई जाती।

भौतिक विज्ञान में (१) परावर्तन अर्थात् एक वस्तु की छाया दूसरे पर पड़ने अथवा (२) प्रकाश, गरमी, रंग आदि की प्रतिच्छाया[१] के नियम वर्णित हैं, परन्तु किरणों की एक केन्द्राभिमुखता, जिससे किसी वस्तु का रूप हमारे भीतर उत्पन्न हुआ करता है, न तो उस वस्तु में पाई जाती है और न प्रकाश की किरणें उसके लिए कुछ करती या कर सकती हैं। उस वस्तु की ज्ञानप्राप्ति का कारण नेत्रों का यान्त्रिक व्यापारमात्र हुआ करता है। अन्य श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु का ज्ञान प्राप्त हुआ करता है उसका कारण भी उन इन्द्रियों का यान्त्रिक व्यापार ही होता है। निष्कर्ष यह है कि विज्ञान के अनुसार जगत् की असलियत जो शक्ति की दीप्तिमात्र बतलाई जाती है, जिन्हें साधारण रीति से प्रकाश, शब्द और उष्णतादि कहा जाता है, परन्तु आंखों में कोई रूप बनने से इन प्रकाश की किरणों को एक केन्द्राभिमुख होना चाहिए, परन्तु यह एक केन्द्राभिमुखता न तो शक्तियों की दीप्ति से होती है और न स्वयं वस्तु द्वारा बल्कि मनुष्य की इन्द्रियों के यान्त्रिक व्यापार से हुआ है।

एक और आवश्यक विचार

एक दूसरी आवश्यक बात यह है कि इन्द्रियों की शक्ति सीमित हुआ करती है, परन्तु प्रकृति में इस प्रकार की सीमा का अभाव है। इस सीमा का सीमात्व इन्द्रिय-व्यापार में देखा जाता है, जिसका कारण मनुष्य की अपनी हस्ती हुआ करती है। मनुष्य, जिन कार्यों को, शरीर की स्थितिरूप परतन्त्रता के वशीभूत होकर किया करता है, उन्हीं से इस सीमा का प्रादुर्भाव हुआ करता है। अतः स्पष्ट है कि हमारी इन्द्रियां, छंटे हुए विषयों को ग्रहण किया करती हैं और इसलिए इस जगत् की असलियत उतनी ही समझा करते हैं जितनी इस निर्वाचन की सीमा के अन्तर्गत हुआ करती है।

एक उदाहरण

कल्पना करो कि कुछ अत्यन्त सूक्ष्मरूप वालों का, चक्षु द्वारा, हमें

---

१. बर्गसन ने अपनी फिलोसोफी में दो वाद उपस्थित किये हैं—
   (I) उत्पादक विकासवाद (Theory of Creative Evolution)
   (II) दूसरा वाद उसका वह है जिसकी निर्देशक परिभाषा 'अकस्मादुद्भूत' (Emergent) है।

ज्ञान है। हम सुर्ख रंग के देखने की सीमा जहां से शुरू होती है, उससे इधर और बैगनी रंग देखने की सीमा जहां समाप्त होती है, उससे उधर नहीं देखा करते हैं।[१] इसलिए उन सूक्ष्म रूप वालों से अधिक सूक्ष्म रूपों का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। अब कल्पना करो कि यदि हमारी इन्द्रियशक्ति इतनी अल्प न होती, जैसी की है, तो हम ऐसी वस्तुओं को भी देखा-सुना करते हैं जिन्हें न अब देख सकते हैं और न सुन सकते हैं। उस हालत में हमारा जगत् सम्बन्धी ज्ञान, अब की अपेक्षा बिल्कुल और होता। हमारा ज्ञान उस अवस्था में चाहे और होता परन्तु उससे जगत् में कुछ परिवर्तन न होता। जगत् जैसा अब है उस समय भी वैसा ही रहता।

इन्द्रियज्ञान और अनुभव

जगत् का जो ज्ञान, विज्ञान से, हम को होता है, उसकी अपेक्षा हमारा इन्द्रिय ज्ञान बहुत अधूरा है परन्तु मनुष्य का अनुभव इन्द्रिय-ज्ञान की तरह अधूरा नहीं होता, ज्ञान में निरन्तरता पाई जाती है और क्योंकि इन्द्रियज्ञान भिन्न-भिन्न इन्द्रियों में बंटा रहता है इसलिए उसमें अधूरापन होना अनिवार्य-सा है, परन्तु अनुभव समस्त इन्द्रिय ज्ञानादि की समष्टि हुआ करता है। इसलिए वह पूर्ण और अविभक्त हुआ करता है, चाहे वह जगत् की अपेक्षा अल्पमात्रिक ही क्यों न हो।

जगत् में भी निरन्तरता पाए जाने का विचार अनिवार्य-सा है, इसी के द्वारा इस जगत् के वास्तविक छिद्र और शून्यता आदि का विचार करते हैं।

अस्तु, इस प्रकार दो प्रकार की निरन्तरता यहां पाई जाती है—

(१) इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव की निरन्तरता।

(२) प्रकृति की निरन्तरता, जैसा विज्ञान ने समझा हुआ है।

इन सब विचारों का फल यह है कि ज्ञान के दो रूप हैं—

(१) ज्ञानजन्य श्रेय का साक्षात् ज्ञान।

(२) इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान से बने अनुभव का विचारपूर्ण अर्थ-ज्ञान।

जीवन और प्रकृति के सम्बन्ध में दो वाद

एक वाद में प्रकृति को बतलाया गया है कि प्रकृति जीवन की

---

१. Reflacting telescope with object glass coverging rays to focus.

सम्पत्ति है, दूसरे में जीवन के लिये प्रकट किया गया है कि वह एक नई शक्ति है, जो प्रकृति में उद्भूत होती है और प्रकृति को, गिरावट और अस्थैर्य की ओर से उन्नति की ओर ले जाने वाली सीढ़ी या उसके ऊपरी धरातल की तरह होकर, समता की ओर ले जाती है।

एक तीसरा विचार एक विद्वान् जौड (Joad) ने उपस्थित किया है, जिसके द्वारा उसने प्रकट किया है कि जीवन (जीवात्मा) और प्रकृति दोनों अन्तिम सत्यता रखते हैं। इस वाद को उसने सार्वलौकिक दर्शन (Common Sense Philosophy) कहा है।

कल्पक विकास (Creative Evolution)

ब्रह्माण्ड अन्ततः एक सचेष्ट वस्तु है, जहां तक उसके मिश्रित होने का सम्बन्ध है वह सचेष्ट वस्तुओं का संघात है और उस (ब्रह्माण्ड) का जड़त्व शक्ति के फैलाव और उसके निर्माता सचेष्ट अवयवों के पूरित कार्यों की एक अवस्था है। इस वाद को लाइबनिट्ज ने आध्यात्मिक हेतुओं के साथ प्राकृतिक और आचारिक फिलोसोफी के आधार पर उपस्थित किया था, परन्तु बर्गसन ने, इस वाद को, विकासवाद की कल्पनाओं के व्याख्यान के तौर पर उपस्थित किया है।[१] और वैज्ञानिक सिद्धान्तों और नियमों से उसकी पुष्टि की है।

वाद का आध्यात्मिक नियम

एक उदाहरण से यह नियम समझा जा सकेगा। कल्पना करो एक स्रोत है। पानी का ऊपर चढ़ना और उतरना एक अभिन्न जाति के दो विरुद्ध कार्य हैं। वह शक्ति, जो पानी को नीचे लाती है, पृथ्वी का आकर्षण है और वह उस शक्ति से समता में रहती है जो पानी को ऊपर चढ़ाया करती है। स्पष्ट है कि स्रोत के जल में, उतार और चढ़ाव, दोनों प्रकार की गति पाई जाती है। यदि यह पूछा जाय कि इनमें से असली कौन-सी है तो उत्तर यही दिया जा सकता है कि उतार, चढ़ाव का अनिवार्य फल है। बर्गसन के इस वाद के अनुसार, जीवन और प्रकृति

१. मनुष्य को देखने का ज्ञान आकाश (ईथर) में तरंगों के उठने से हुआ करता है। जब ४० नील तरंगें उठ लेती हैं तब हमें सुर्ख रंग दिखाई दिया करता है और जब ८० नील तरंगें उठा करती हैं तब बैंगनी रंग को हम देखा करते हैं। बीच में उठी हुई तरंगों से अन्य रंग जाने जाया करते हैं। यदि ४० नील से कम या ८० नील से अधिक तरंगें उठें तो मनुष्य नहीं देख सकता।

एक ही गति की दो विभिन्न दिशायें हैं। जीवन चढ़ाव स्थानी है, जिसमें आगे बढ़ने और ऊपर चढ़ने की योग्यता होती है। समस्त वे शब्द, जिनसे चेतना (जीवन) वर्णित होती है, इस बात की पुष्टि करते हैं और हमारा अनुभव भी इसी का साक्षी है। जीने की इच्छा, आत्मशक्ति, उद्योग, प्रयत्न और पुरुषार्थ आदि वाक्य और शब्द, सभी वाक्य-शक्ति और शब्द-शक्ति, इस विचार से प्राप्त करते हैं कि जीवात्मा शक्ति का केन्द्र, आगे को बढ़ाने वाला और ऊपर को उठाने वाला है और यह उनका प्रयत्न किसी विशेष आकर्षक उद्देश्य की ओर नहीं,किन्तु स्वतन्त्रता की ओर है। जीवन के इस आगे बढ़ने के यत्न के रास्ते में एक चीज है जो बाधक होती है वह निश्चेष्ट भार (प्रकृति) है। जिसे विरोधी नहीं किन्तु रुकावट का हेतु कहना चाहिए। इसी का नाम प्रकृति या प्राकृतिक वस्तु है, परन्तु यह प्राकृतिक प्रभाव, जो जीवन के प्रतिकूल है, मालूम ऐसा दिया करता है, मानो जीवन के कर्त्तव्य का परिणाम है। प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्य में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है जो प्राकृतिक प्रभावों को बढ़ाकर स्वतन्त्रता के लिए एक रुकावट बनती है और उसे नष्टप्रायः-सा कर देती है। बर्गसन व्यक्तियों के सम्बन्ध में इतनी बात कहते हुए सिद्धान्तरूप में प्रकट करता है कि "जो बात व्यक्ति के लिए ठीक है वही समष्टि के लिए भी।"

यदि हम जीवन को, उसके व्यक्तित्वरूप में देखने की जगह, समष्टिरूप में, विकास के पीछे एक शक्ति के तौर पर देखें और समस्त ब्रह्माण्ड को अपने भीतर समझें जो दिशा और काल के अन्तर्गत है और एक ही जीवन को अनेक योनियों में विचारें तो इस कल्पना का फल यह होगा कि ब्रह्माण्ड में हम को एकमात्र अनथक और आगे बढाने वाली शक्ति प्रकट होगी और प्रतीत होगा कि उसी का यह सब प्रकाश है और वही वास्तविकता रखती है और वही रुकावटों के विरुद्ध सतत यत्नशील है। यह जीवन की वह अवस्था है जिसे विकासवाद ने प्रकट किया है और जो इस नए रूप में हमारे सम्मुख है।

उदाहरण पर विचार

उदाहरण पर विचार करने से प्रकट होता है कि उस स्रोत के उतार-चढाव का देखने वाला, इन दोनों गतियों से भिन्न कोई व्यक्ति है, परन्तु जीवन और प्रकृति को देखने वाला इनसे पृथक् नहीं, बल्कि

१. देखो—"Creative Evolution" by Bergson.

चढ़ाव के भीतर उसका एक अंग ही है, इसलिए गति का अंग और साथी है। इस बात से वह द्रष्टा यद्यपि अनभिज्ञ नहीं परन्तु जब वह उतार की गति (प्रकृति) में रुकावट डालने का भरसक यत्न करता है तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह उस उतार वाली गति (प्रकृति) को अधिक शक्तिमान् समझता है। अस्तु, इस प्रकार उदाहरण पर विचार करने से केवल प्रकृति की असलियत और जीवन के इन्द्रजालमात्र होने के दावे की हकीकत खुल जाती है। जड़त्व और कर्त्तव्य परस्पर विपरीतता रखते हैं। प्रकृति में जड़त्व है और कर्त्तव्य का अभाव है इसलिए जब तक कोई गतिदाता न हो, वह निष्क्रिय और निकम्मी ही रहेगी। इसलिए संसार में केवल एक तत्त्व (प्रकृति) की कल्पना, विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है।

डिकार्टेस (Descartes)

डिकार्टेस ने माना है कि समस्त गति यान्त्रिक होती है और वह गति ईश्वर द्वारा दी जाकर जगत् का रचना-कार्य पूरा किया जाता है।

एच०डब्ल्यू० कार० (H.W. Carr)

इस पर 'कार' ने लिखा है कि भौतिक विज्ञान में जो क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हुए हैं उनके आधार पर, प्रकृति को जैसा अब तक अविनाशी समझा जाता रहा है, भविष्य में ऐसा समझना असम्भव है। वर्तमान भौतिक विज्ञान के अनुसार प्रकृति नित्य नहीं उसमें, वेग की दृष्टि से विभिन्नता है। अब प्रकृति शक्ति नहीं बल्कि प्राकृतिक कार्यप्रणाली की आधारशिला है।[१]

जीवन के विकास में कर्त्तव्य देखा जाता है और इसके भीतर जो नियम निहित है, वह प्रत्येक जगह एक जैसा ही पाया जाता है और वह प्रकृति को प्रयोग में लाकर नए-नए रूप और आकृतियों की रचना करता है। इस प्रकार जिन रूप और आकृतियों की वह रचना करता है उनमें उस (कर्त्तव्य के नियम) की सीमा होती जाती है। जीवन, उन रूप और आकृतियों की अपेक्षा से उनका उत्पादक और प्रकृति की अपेक्षा से उसका संग्रहीता है।

सापेक्ष विकासवाद

लौयड मार्गन (Loyed Margan) ने गिफार्ड लेक्चर्स (Gifford Lectures) के प्रसंग से जो जीवन और प्रकृति के सम्बन्ध में विचार

१. "The Freewill Problems" by Herbert. W. Carr P. 58

प्रकट किये थे उन्हीं को अपने सापेक्ष विकासवाद का नाम दिया है। इस वाद का मूल, एलेक्जेण्डर के दिशा, काल और देवता[१] शीर्षक लेख में मिलता है। इस वाद का सार यह है कि समस्त ब्रह्माण्ड, जो प्रकृति, जीव और मन का संघात है, केवल एक कार्यप्रणाली का परिणाम है। इस वाद को प्रकट करने के लिए इसका जो नाम सापेक्ष विकास दिया था, वह अब दार्शनिक जगत् में प्रचलित हो चुका है। मूल नियम, जो इस वाद के अन्दर निहित है, वह स्पाईनोजा के अद्वैतवाद से मिलता जुलता है। अन्तर यह है कि यह (सापेक्षवाद) खालिस प्राकृतिक वाद है जो चेतना-द्वैतवाद के विरुद्ध है परन्तु जड़ाद्वैतवाद से भी अपने को अलग रखता है।

वाद का विवरण

इस वाद का विवरण इस प्रकार है कि विकास में जीवन और मन के अनेक दरजे या क्षेत्र हैं, परन्तु वह विकास, जहां तक बुद्धि से समझा जा सकता है, विश्वव्यापी है। इस वाद के क्रमशः विकास की उपमा, ऐसे उष्ण धर्म परिणाम से दी जा सकती है जिसकी प्रवृत्ति उष्णता कम करने की ओर हो। इस वाद में विकास, अपचय की एक कार्यप्रणाली प्रतीत होती है जो अस्थैर्य की परम संख्या से समता की ओर चलता है। विकासवाद का एक दूसरा पहलू भी है जो वस्तुओं को प्रारम्भिक सरलता से पृथक् करके, बढ़ती हुई असरलता की ओर ले जाता है। परन्तु यह पहलू सापेक्ष विकासवाद के विरुद्ध है। सापेक्ष विकासानुसार प्रारम्भ में केवल दिशा और काल थे। इनके साथ ही एक अत्यन्त सरल नियम भी था जिसमें गति और परिवर्तन सम्मिलित थे। प्रत्येक परिवर्तन के साथ गुणों के एक नये क्रम की वृद्धि होती जाती है।

सापेक्षवाद का एक उदाहरण

विकासवाद के दोनों पहलू जड़ और चेतनात्मक जगत् के एक ही कार्यप्रणाली के अंग होते हैं। इसी विचार को स्पाईनोजा ने अपने अद्वैतवाद में एक तत्त्व का रूप दिया है जो बुद्धि और विचार के रूप में अपने को प्रकट किया करता है। अस्तु, सापेक्षवाद भली-भांति समझा जा सके इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है। पानी दो प्रकार की गैसों, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन से बनता है परन्तु इन गैसों के पृथक्-पृथक् जो गुण होते हैं, वे पानी में नहीं होते। पानी के गुण इन से सर्वथा

१. Alexander's "Space, Time and Deity."

भिन्न हैं यद्यपि पानी की मात्रा उतनी ही होती है जितनी उसके निर्माता गैसों की होती है। बादल, नदी, समुद्र, बर्फ, पाला, पानी की भाप इत्यादि, इसी पानी के अनेक रूप होते हैं, इन्हीं के साथ इन्द्रधनुष, बादल की गरज आदि की भी उत्पत्ति हो जाती है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों प्रकार की गैसों के मेल से इतनी सूरतें पैदा हो गईं, परन्तु यह भी नहीं कह सकते कि इनकी उत्पत्ति अचानक हो गई और इनका कुछ भी सम्बन्ध पानी के विकारों से नहीं है। जो कुछ कहा जा सकता है वह केवल इतना कि इनकी उत्पत्ति जल और उसके विकारों की अपेक्षा से होती है, परन्तु इनके लिए अन्त में कहा यही जा सकता है कि ये एक दिव्य तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं फिर भी इन्हें कारणत्व की जंजीर में नहीं जोड़ा जा सकता जिससे स्थूल जगत् जुड़ा हुआ है।

उदाहरण पर विचार

यह पानी का उदाहरण आंशिक है। सापेक्ष विकास का तात्पर्य यह नहीं कि जीवन और मन, पानी के गुणों की तरह, किन्हीं नवीन अणुओं से मिश्रित वस्तु के गुण हैं बल्कि अभिप्राय यह है कि यह विकास निर्णीत काल की परम्परा है, जो निरन्तर वैकासिक पंक्ति से भिन्न, उत्तम चिन्तित दरजे या क्षेत्रों को उपस्थित किया करती है और उससे प्रत्येक नये दरजे या क्षेत्र के साथ, कर्त्तव्य की एक नई लड़ी, प्रकट हो जाया करती है। जीवन इन्हीं उदार और विस्तृत अर्थों में सापेक्ष कहा जाता है।

दोनों वादों का अन्तर

कल्पक विकासवाद अन्तिम उद्देश्यवाद या सोद्देश्य कर्तृत्ववाद ही कहा जा सकता है। उत्पत्ति के विचार से उद्देश्य को पृथक् नहीं कर सकते और उद्देश्य के साथ अन्तिम उद्देश्य को प्रेरक या नियन्त्रक के तौर पर मानना अनिवार्य है, अन्तिम कारण और उद्देश्य को स्वीकार करके इच्छा-स्वातन्त्र्य को न स्वीकार करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। कांट ने जो एक वाक्य "स्वातन्त्र्य-निमित्त का प्रमाणीकरण" कहा था वह पूर्ण रूप से इस कल्पक विकासवाद पर लागू होता है। कांट का अभिप्राय, इन शब्दों के प्रयोग में लाने का यह था कि आचारक निमित्त को प्राकृतिक निमित्त से पृथक् करें। कल्पक विकासवाद के अनुसार जीवन न तो प्राकृतिक है और न प्रकृति का गुण है और न उसके किसी गति का परिणाम अर्थात् जीवन प्रकृत्ति के न तो किसी प्रकार के विकास का

फल है न उसकी किसी यान्त्रिक गति का नतीजा। वह इनसे सर्वथा भिन्न एक संगठक और मेलोत्पादक शक्ति है।

सापेक्ष विकासवाद का रूप

अब सापेक्षवाद पर विचार कीजिए। यह वाद घटनाओं को तो स्वीकार करता है परन्तु उनके किसी प्राकृतिक निमित्त के परिणाम होने को, असम्भव बतलाता है और उसका परिणाम यह भी है कि घटनाओं को कुछ इस प्रकार समझ लिया जावे कि जिससे अन्तिम कारण (उद्देश्य) के किसी रूप में भी प्रश्न उठाने की जरूरत ही बाकी न रहे। इस वाद के अनुसार जीवन और मन को, सर्वसम्मत जगदुत्पत्ति की एकमात्र कार्यप्रणाली में दरजे या क्षेत्र बतलाया जाता है। जैसे एक वृक्ष में, उसकी बढ़ोतरी की हालत में पत्ते, फूल और फल, एक के बाद दूसरा, दरजे के तौर पर निकलते हैं, परन्तु उनके इस प्रकार निकलने पर, उनके लिए हम प्राकृतिक या अन्तिम कारणों की, तलाश नहीं करते और समझ लेते हैं कि यह श्रेणीबद्धता वृक्षों में स्वाभाविक है। इसी प्रकार सांसारिक विकास में, जीवन और मन, अपरिहार्य लेवल के तौर पर, असली तत्त्व के अक्षय भण्डार से, स्वभावतः उत्पन्न हुए समझे जाते हैं।

इस पर हर्बर्ट डब्ल्यू कार की सम्मति

मनुष्योत्पत्ति के सम्बन्ध में नये विचारों के प्रकट होने से, मनुष्य-स्वभाव के समझने में भी परिवर्तन हो गया है। अब हम इच्छा-स्वातन्त्र्य को व्यक्तिगत प्रश्न नहीं समझते जिसके द्वारा एक व्यक्ति, एक बड़ी शक्तिसम्पन्न सत्ता के सम्मुख, अपने कर्तव्यों के सम्बन्ध से उत्तरदाता समझा जाता था। इस उत्तरदायित्व की बात को पुराने ही रूप में हम समझते तो भविष्य में भी रहेंगे, परन्तु यह आवश्यक होगा कि उसके अर्थ परिवर्तित रूप रखते हों। इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रश्न अब नये रूप में इस प्रकार है कि हम इच्छा-स्वातन्त्र्य की तात्त्विक स्थिति को, मनुष्य-स्वभाव के निर्मातृ-वर्ग में समझते हैं। मनुष्य की बुद्धि में, वस्तुओं के अनुकूल प्रतिकूल समझने की स्वतन्त्रता निहित है, उसे हम इच्छा-स्वातन्त्र्य ही कह सकते हैं।

आठवां सर्ग

पहले सर्गों से इच्छा-स्वातन्त्र्य के रूपों में, जो समय-समय पर पश्चिमी दार्शनिक संसार में परिवर्तन होते रहे और उन परिवर्तनों के सम्बन्ध में उस समय के दार्शनिकों में क्या और किस प्रकार के मतभेद होते रहे, इन सब बातों का दिग्दर्शन कराया गया है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछेक विद्वानों की सम्मतियां विस्तृत रूप से देकर उन पर विचार किया गया है, जिससे इच्छा-स्वातन्त्र्य जैसे गहन विषय के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश पड़े। अब इस विषय के अनुकूल और प्रतिकूल वादों की केवल एक सूची देकर कुछेक अन्तिम शब्दों के साथ यह प्रकरण समाप्त किया जाएगा।

इच्छा स्वातन्त्र्यवाद किन वादों के विरुद्ध है?

यह स्वातन्त्र्यवाद जिन-जिन वादों के विरुद्ध कहा जाता है, उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) कुछेक वैज्ञानिकों का कहना है कि यह वाद, प्राकृतिक नियमों के, जैसा विज्ञान ने उन्हें समझा है, विरुद्ध है। उनका कथन है कि इससे दृश्य संसार का प्रवाह टूटता है और यह कि यह वाद शक्ति-सामञ्जस्यवाद के भी विरुद्ध है।

(२) विचार-शास्त्र या विचार-नियमों के भी, यह वाद विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि कार्यकारणवाद और उपर्युक्त तर्क, एकता के पोषक हैं और वही एकता विचार नियमों के भी अनुकूल है, परन्तु इस वाद से वह भंग होती है।

किन बातों से अनुकूलता रखता है?

इच्छा-स्वातन्त्र्य के समर्थन में निम्न वाद हैं—

(१) न्याय के विचार से स्वतन्त्रता अनिवार्य है।

(२) उत्तरदायित्व का विचार भी स्वतन्त्रता चाहता है।

(३) सुकृत और दुष्कृत्य तथा फलाफल की बात भी उसी समय कही जा सकती है जब कर्म की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली जाये।

उपसंहार

इस उपोद्घात को समाप्त करने से पहले एक बात की ओर पाठकों का विशेष रीति से ध्यान आकर्षित किया जाता है कि ग्रन्थ में जहां-जहां विज्ञान (साइंस) की बात कही गई है, उसमें इच्छा-

स्वातन्त्र्य के विरुद्ध पक्ष का, विशेष रीति से, उल्लेख किया गया है। उसका एक हेतु यह भी है कि अधिक से अधिक विरुद्ध मत सुन और समझ लेने और अनेक अल्प महत्त्वपूर्ण होने का ज्ञान हो जाने से असल-विषय में श्रद्धा के भाव बढ़ जाया करते हैं। अन्यथा वर्तमान वैज्ञानिकों के अनेक अगुआ इस (इच्छा-स्वातन्त्र्य) वाद के पोषक हैं।

सर आर्थर एडिगटन के मत से, यह बात भलीभांति प्रकट हो जाती है कि वर्तमान विज्ञान परतन्त्रतावाद का समर्थक नहीं है। उनकी सम्मति में, इस स्वातन्त्र्यवाद के लिए यह समय विशेष रीति से फूलने और फलने का आ गया है।[१]

वेद और शास्त्रादि में तो इस वाद का समर्थन किया ही गया है, परन्तु पश्चिम के विचारकों में से भी अधिकांश की सम्मति इस वाद के समर्थन में हैं।

ग्रन्थ में, यत्न किया गया है कि कर्म के प्रत्येक पहलू पर यथासम्भव प्रकाश पड़े। यह बात पाठकों को, ग्रन्थ के प्रथम १४ अध्यायों के अध्ययन से, अच्छी तरह मालूम हो जायेगी।

ग्रन्थ को लिखने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि देश के नरनारियों में पुरुषार्थ करने का प्रेम पैदा हो और वे पुरुषार्थी बनें। जिससे जगत् अकर्मण्यों का नहीं अपितु पुरुषार्थियों का निवासस्थान बनकर अधिक से अधिक सुख-शान्ति की जगह बन सके। एवमस्तु॥

—नारायण स्वामी



१. एडिगटन का मत जानने के लिए देखो इस ग्रन्थ के उन्नीसवें अध्याय में "विज्ञान का पक्ष"।

कर्म-रहस्य

पहला अध्याय

कर्म से सम्बन्धित पदार्थ

ऋग्वेद में एक जगह कर्म से सम्बन्धित ३ पदार्थों का उल्लेख, इस प्रकार किया गया है—"एक साथ रहने वाले, परस्पर मित्र, दो पक्षी (ईश्वर+जीव) समान वृक्ष (प्रकृति) पर आश्रय करते हैं, उन दोनों में से एक (जीवात्मा) उस वृक्ष के फलों का भोग करता है, दूसरा (ईश्वर) न भोगता हुआ साक्षीमात्र है।"[१]

मतलब इसका साफ है कि इस प्राकृतिक जगत्-रूपी वृक्ष पर स्थित जीवात्मा, अपने पुरुषार्थ कर्म से उसके फलों को खाता है अर्थात् जगत् के अनेक प्रकार के भोगों का उपभोग करता है परन्तु ईश्वर जीव की भांति जगत् का उपभोग न करता हुआ, साक्षीमात्र रहता है और जीव जैसे कर्म करता है उसका वैसा ही फल उसे दे दिया करता है। इस प्रकार जीव कर्मकर्त्ता, ईश्वर फलदाता और यह जगत् कर्मक्षेत्र है जिसमें जीव अपनी इच्छानुसार अच्छे और बुरे कर्मों को करके उनका फल भोगा करता है।

जगत् का वैचित्र्य

जगत् में तरह-तरह के मनुष्य, पशु, पक्षी और वृक्ष आदि दिखलाई देते हैं और फिर मनुष्यों में देखें तो उनमें भी अनेक प्रकार के प्राणी हैं। कोई अमीर, कोई गरीब, कोई आंख वाला, कोई अन्धा, कोई लंगड़ा, कोई लूला इत्यादि। इस प्रकार जगत् के इस वैचित्र्य का कारण भी, मनुष्यों के कर्म ही हुआ करते हैं। अपने कर्म ही से मनुष्य सुखी दुःखी हुआ करता, पशु-पक्षी बना करता और तरह-तरह के भोगों को भोगा करता है।[२]

मनुष्य क्या है ?

मनुष्य, जिसे कर्म का कर्ता कहा जाता है, वह क्या है ? कर्म की

---

१. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ (ऋ० १.१६४.२०)

२. कर्मवैचित्र्यात्सृष्टिवैचित्र्यम्॥ (सांख्यदर्शन ६.४१)

पहेली समझने के लिये, यह जान लेना आवश्यक है। मनुष्य, जीव और शरीर के समुदाय का नाम है। जीवात्मा जब किसी भी शरीर में जाया करता है तब उसी समुदाय का नाम मनुष्य, पशु और पक्षी आदि हो जाया करता है। इसी समय हमें मुख्य रीति से मनुष्य का जिक्र करना है। इसलिए उसी का विवरण दिया जाता है।

मनुष्य शरीर के भेद

मनुष्य के आमतौर से तीन शरीर हुआ करते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

यह शरीर १० इन्द्रियों के गोलकों का समुदाय है और इसमें शरीर के वे भीतरी अवयव भी शामिल होते हैं, जिन्हें हृदय, फेफड़ा, मस्तिष्क और पाचनक्रिया के अवयव कहते हैं और जिसका काम अनिच्छित रीति से, प्राकृतिक नियमों के अनुसार हुआ करता है। इस शरीर के विकसित और पुष्ट होने से शारीरिक उन्नति हुआ करती है।

१. स्थूल शरीर—

यह शरीर पांच स्थूलभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—का कार्य हुआ करता है।

२. सूक्ष्म शरीर—

यह शरीर सूक्ष्मभूतों से निम्न भांति बना करता है—

सूक्ष्मभूतरूपी कारण	सूक्ष्मशरीररूपी कार्य
(१) महत्तत्त्वरूपी कारण	(१) बुद्धि
(२) अहंकाररूपी कारण	(१) अहंकार[१]
(३–७) पंचतन्मात्रा कारण	(३) शब्द (४) स्पर्श (५) रूप (६) रस (७) गन्ध
(८–१६) दशेन्द्रिय (गोलकों से भिन्न)	(८–१७) ५ प्राण, ५ ज्ञानेन्द्रिय।

कारण शरीर

कारण रूप प्रकृति, सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था रूप में, सर्वत्र आकाशवत् जगत् में और जगत् से बाहर फैली हुई है, उसी के उस भाग को, जो स्थूल शरीर के अन्दर होता है। घटाकाश,

---

१. अहंकार को सूक्ष्म शरीरावयवों की गणना से पृथक् करके सूक्ष्म शरीर केवल १७ वस्तुओं ही का समुदाय माना जाता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अहंकार का काम शरीर के पृथक् निर्मित हो जाने और मेरे तेरे की भावना उत्पन्न हो जाने से पूरा-सा हो जाता है।

मठाकाशवत्, कारणशरीर कहा जाता है। जब मनुष्य इस शरीर से काम लेता है, तब उसकी प्रवृत्ति अहंकार से ऊंची होती है क्योंकि यह शरीर प्रकार की दृष्टि से सर्वदेशी-सा होता है और तभी मनुष्य में ईश्वरभक्ति उत्पन्न हुआ करती है।

तीन शरीर और पांच कोष

इन तीन शरीरों का विभाग एक-दूसरे प्रकार से भी किया गया है। इसी विभाग का नाम "कोषविभाग" है। इन तीन शरीरों और कोषों का सम्बन्ध इस प्रकार है—

शरीर	कोष
(१) स्थूल शरीर....	(१) अन्नमय कोष
(२) सूक्ष्म शरीर....	(२) प्राणमय कोष
	(३) मनोमय कोष
	(४) विज्ञानमय कोष
(३) कारण शरीर....	(५) आनन्दमय कोष

यहां यह बात याद रखनी चाहिये कि मनुष्य जब कर्म करता है तो दोनों प्रकार के इन्द्रिय, मन आदि अन्तःकरण और चक्षु आदि बाह्यकरण अथवा यों कहिये कि दोनों प्रकार के सूक्ष्म और स्थूल शरीर मिलकर ही काम कर सकते हैं। मन, इन्द्रियों को कर्मविशेष करने के लिए प्रेरित करता है और इन्द्रियां उसी के अनुसार कर्म कर देती हैं। कोई यह चाहे कि बिना सूक्ष्म शरीर के स्थूलशरीर से ही काम कर लेवें, तो बिना मन और बुद्धि के उसमें लगा वह कार्य उद्देश्यरहित, बालकों जैसा होगा और यदि वह चाहे कि बिना स्थूलशरीर के सूक्ष्मशरीरमात्र से काम करके सूक्ष्मशरीर वालों की दुनिया अलग बसा लेवें तो यह असंभव है। मन बिना स्थूल इन्द्रियों के कोई सांसारिक काम नहीं कर सकता। इसीलिए सांख्यदर्शन में कहा गया है कि "स्वतन्त्र (बुद्धितत्त्व भी भोगों को) नहीं भोग सकता उस (देह) के बिना जैसे छाया और चित्र[१]।" अर्थात् जैसे छाया या चित्र बिना स्थूल शरीर के नहीं खिंच सकता या होता, इसी प्रकार बुद्धि भी बिना स्थूलशरीर के काम नहीं कर सकती।

आत्मा

आत्मा, जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है, सच्चित् स्वरूप है और उसके स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं। इन्हीं गुणों को जगत् में

१. न स्वातन्त्र्यात्तदृते छायावच्चित्रवच्च॥ (सांख्यदर्शन ३.१२)

सार्थक करने के लिये उसको शरीर मिला करता है। शरीर दो प्रकार की इन्द्रियों का समुदाय है, जैसा कहा जा चुका है और वे इन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में विभक्त हैं। अर्थात् १० इन्द्रियों में से ५ ज्ञानेन्द्रियां और ५ कर्मेन्द्रियां हैं। ज्ञानेन्द्रिय आत्मा के ज्ञान गुण और कर्मेन्द्रिय आत्मा के कर्म गुण को सार्थक करने के लिये हैं। अतः स्पष्ट है कि आत्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञानोपब्धि के सिवा कर्म करना भी है।

आत्मा के सम्बन्ध में एक कल्पना

जिस समय आत्मा को कर्त्ता कहा जाता है तो इस पर एक आपत्ति उपस्थित की जाती है। आत्मा का अनेकत्व, उसका ईश्वर से भिन्नत्व स्वीकार करते हुए भी न्यायादि द्वैतवादसमर्थक दर्शनों के कुछेक टीकाकार, गुरुपरम्परा के आधार से कहते हैं कि जीव एकदेशी नहीं अपितु विभु है अर्थात् प्रत्येक जीव पृथक् होते हुये भी विभु है और एक-दूसरे को आच्छादित (Overlap) किये हुये है। इस कल्पना से जीव का जीवन नष्ट होता है क्योंकि विभु होने से उसे (जीव को) गतिशून्य ही (ईश्वरवत्) मानना पड़ेगा और गतिशून्य होने से फिर कर्म किस प्रकार कर सकता है?

यह कल्पना क्लिष्टकल्पना

इसलिये जीव के सम्बन्ध में इस प्रकार उसके विभुत्व की कल्पना, कल्पनामात्र है। किसी भी व्यक्ति को अधिकार है कि इस प्रकार की कल्पना करे परन्तु यह कदापि अधिकार नहीं कि वह इस कल्पना का उद्‌गम न्यायादि दर्शनों को ठहरावे। न्यायदर्शन में जीव को स्पष्ट शब्दों में कर्मकर्त्ता कहा गया है। उदाहरण के लिये देखो—एक जगह कहा गया है कि "पूर्व (शरीर में) किये (कर्मों के) फलों के अनुबन्ध (लगाव) से इस (वर्तमान शरीर) की उत्पत्ति होती है[१]।" फिर एक दूसरी जगह कहा गया है—

"जैसे शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म है, वैसे ही (आत्मा और शरीर) संयोग की उत्पत्ति का निमित्त (भी) कर्म है[२]।"

फिर एक जगह लिखा है—"कर्मक्षय की उपपत्ति होने से उसका (आत्मा का शरीर से) वियोग सिद्ध है[३]।"

---

१. पूर्वकृतफलानुबंधात्तदुत्पत्तिः॥ (न्यायदर्शन ३.२.६४)
२. शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म॥ (न्यायदर्शन ३.२.७०)
३. उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः॥ (न्यायदर्शन ३.२.७२)

इन और इस प्रकार के अनेक वाक्यों से, जो इस तथा अन्य दर्शनों में जगह-जगह आये हैं, आत्मा का कर्तृत्व सिद्ध है। इसलिये आत्मा परिच्छिन्न (एकदेशी) ही है, उसके विभु (सर्वदेशी) होने की कल्पना कल्पनामात्र है।

क्या आत्मा विभु न होने पर भी अकर्ता ही है?

कुछेक सज्जन जीवात्मा को विभु तो नहीं मानते, परन्तु उसके अकर्तृत्व के पक्ष का समर्थन करते हैं। वे अपने पक्ष के समर्थन में सांख्यदर्शन के इस वाक्य को उपस्थित किया करते हैं-

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः॥ (सांख्य ६.५४)

अर्थात् प्रकृति के विकार अहंकार में यहां कर्तृत्व का आरोप किया गया है और पुरुष (जीव) को अकर्त्ता बतलाया गया है। अपने पक्ष के समर्थन में, सांख्य के उपर्युक्त सूत्र के सिवा, ये सज्जन, गीता का भी एक श्लोक प्रमाणरूप में उपस्थित किया करते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते॥ (गीता ३.२७)

श्लोक का भाव यह है कि समस्त कर्म तो प्रकृति के गुण (सत्, रज, तम) करते हैं। परन्तु अहंकार से मूढ़ हुआ आत्मा अपने को कर्त्ता मानता है।

थोड़ा ही विचार करने से इस पक्ष का खोखलापन प्रकट हो जाता है। संसार में प्रकृति के विकार अथवा गुण दो रूप में हुआ करते हैं—

(१) पत्थर, पहाड़ और दीवार आदि के रूप में।

(२) जीवित प्राणियों के शरीर के रूप में। विचारणीय यह है कि सांख्य या गीताकार जब कर्तत्व का आरोप प्रकृति के विकारों में करते हैं, तो उनका तात्पर्य इन दोनों में से किन विकारों से हुआ करता है? यदि कहो कि पहले से है, तो यह बात प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से अप्रामाणिक ठहरेगी, क्योंकि कोई भी पत्थर या दीवार आदि को कर्म करते हुये नहीं देखता। यदि कहो कि उनका तात्पर्य दूसरे रूप में रहने वाले प्रकृति के विकारों से है, तो प्रश्न यह है कि उनका तात्पर्य दूसरे रूप में रहने वाले प्रकृति के विकारों से है तो प्रश्न यह है कि इन दोनों विकारों में अन्तर क्या है? विचार करने से साफ प्रकट हो जाएगा कि दूसरे विकारों में, जीवित प्राणियों के भीतर रहने वाले आत्मा का प्रभाव मौजूद रहा करता

है और उसी आत्मा की प्रेरणा से जीवित प्राणियों के शरीरों द्वारा कर्म हुआ करते हैं। इसीलिये गीता में कहा गया है कि "हे अर्जुन! समस्त कर्मों की सिद्धि के लिये, किये हुये के अन्त वाले सांख्यशास्त्र में, ये पांच कारण बतलाये हैं–

(१) अधिष्ठान–शरीर।

(२) कर्त्ता=जीवात्मा।

(३) करण=भिन्न–भिन्न इन्द्रियां।

(४) चेष्टा=अनेक प्रकार की (प्राणियों द्वारा की हुई) चेष्टायें।

(५) दैव=प्रारब्ध।

ऐसी हालत में अच्छी समझ न होने से दुर्बुद्धि केवल आत्मा को ही कर्त्ता समझता है, वह (कुछ) नहीं समझता[१]।" इन वाक्यों में स्पष्ट कहा गया है कि केवल आत्मा कर्त्ता नहीं होता किन्तु आत्मा और शरीरादि के मेल ही से कर्म किया जाया करता है। एक जगह उपनिषद् में भी यही बात कही गई है अर्थात् आत्मा, मन और इन्द्रिय से मिलकर ही कर्त्ता और भोक्ता हुआ करता है[२]। और ऐसा कहना और मानना स्वाभाविक है, क्योंकि मनुष्य न केवल आत्मा है और न केवल शरीर, किन्तु दोनों का संघात और कर्म मनुष्य ही किया करता है, इसलिये केवल शरीर अथवा केवल आत्मा को कर्त्ता कहना भ्रममात्र है।

वैशेषिक दर्शन में भी एक जगह इसी प्रकार की बात कही गई है अर्थात् आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ के द्वारा क्रिया होती है। इस संयोग और प्रयत्न में आवश्यक रीति से मन आत्मा के साथ शरीर रहा करता है।[३]

एक जगह वेदान्तदर्शन में भी कहा गया है कि "शास्त्र के सार्थक

---

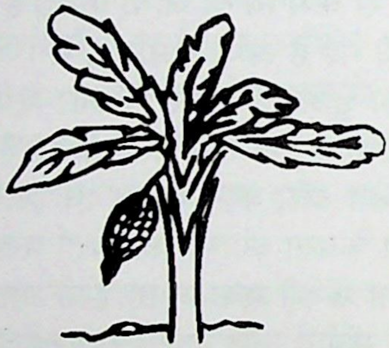
१. पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ १४॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥
(गीता १८. १३, १४, १६)

२. आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ (कठोपनिषद् ३.४)

३. आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म॥ (वैशेषिक ५.१.१)

होने से जीव कर्त्ता है।[१]" फिर दूसरी जगह विहार के उपदेश से भी उसे कर्त्ता कहा गया है।[२]

शरीर, आत्मा और कर्तृत्व के सम्बन्ध में उपर्युक्त संक्षिप्त से कथन के बाद यत्न किया जाएगा कि आगे के पृष्ठों में इन में से प्रत्येक के सम्बन्ध में युक्ति, प्रमाण और तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जावे।



१. कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्॥ (वेदान्त २.३.३३)

२. विहार उपदेशात्॥ (वेदान्त २.३.३४)

बृहदारण्यकोपनिषद् (४.३.१२) में मुक्तजीव का यथेष्ट विचरना कहा गया है। इससे जीव का स्वतन्त्र कर्त्ता होना पाया जाता है।

दूसरा अध्याय

आत्मा की स्वतन्त्र और नित्य सत्ता तथा अन्य कल्पनायें

वेद में एक जगह लिखा है कि "श्वास लेता हुआ गतिमान्, शीघ्रगामी, जीवन (चेतना) युक्त शरीरों के बीच में स्थिरता से निवास करता है। मृत प्राणी का वह अमर जीव अनित्य प्रकृति भावों (कर्म-वासना) के साथ, अन्य योनियों (शरीरों) के साथ विचरता है[१]।"

वेद के इस मंत्र में, स्पष्ट है कि जीव को चेतनामय, स्थिर, अमर और एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में जाने वाला कहा गया है।

(२) फिर वेद में एक दूसरी जगह कहा गया है, जैसा कि कहा जा चुका है कि "एक साथ रहने वाले, परस्पर मित्र, दो पक्षी (ईश्वर+जीव) समानवृक्ष (प्रकृति) पर आश्रय करते हैं। उन दोनों में एक (जीवात्मा) उस वृक्ष के फलों को खाता है, दूसरा (ईश्वर) न खाता हुआ साक्षीमात्र है[२]।" इस मन्त्र में प्रकृति को भोग्य, जीवात्मा को भोक्ता और ईश्वर को साक्षी बतलाया है और तीनों के नित्य होने का भाव प्रकट किया गया है।

(३) जब जीव उपर्युक्त वेदमन्त्रानुसार कर्त्ता और भोक्ता है तो "स्वतन्त्र कर्ता" के नियमानुसार कर्ता को कर्म करने में स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इसीलिये जीव को नित्य होने के सिवा कर्म करने में स्वतन्त्र भी कहा गया है। वेद में इसकी पुष्टि इस प्रकार की गई है—

---

१. वेद का मन्त्र इस प्रकार है—
अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ (ऋग्वेद १.१६४.३०)
(अनत्) श्वास लेता हुआ (एजद्) गतिमान् (तुरगात्) शीघ्रगामी, (जीवम्) जीवन (चेतना) युक्त (पस्त्यानाम्) शरीरों के (मध्ये) बीच में (ध्रुवं) स्थिरता से (आशये) निवास करता है, (मृतस्य) मृतप्राणी का (अमर्त्यो जीवो) वह अमर जीव (मर्त्येना स्वधाभिः) अनित्य प्रकृति भावों (कर्म+वासना) के साथ (सयोनिः चरति) अन्य योनियों (शरीरों) के साथ विचरता है।

२. द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ (ऋग्वेद १.१६४.२०)

"(हे मनुष्य!) तू उत्पादकशक्तिवाला है, आगे बढ़ने वाला है, तू विरोधियों को दूर करने वाला है (इसलिये तू) अपने समान लोगों से आगे बढ़ और कल्याण प्राप्त कर[१]।" श्रोता को करने न करने का अधिकार हुआ करता है, इसीलिये उपदेश दिया जाया करता है।

(४) जीवात्मा के सम्बन्ध में पूर्वी और पश्चिमी जगत् में जो-जो कल्पनायें अब तक होती रही हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) जीवात्मा नित्य, सत्तावान् और कर्म करने में स्वतन्त्र परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है।

(२) जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ब्रह्म जब अन्तःकरणस्थ अविद्या में, जो सत्त्वगुण का अशुद्ध रूप कही जाती है, प्रतिबिम्बित होता है तब इस उपाधि से उसकी जीव संज्ञा हो जाती है। अविद्या के दूर होने पर जीव कुछ भी बाकी नहीं रहता।

(३) जीव संवेदनों, इच्छाओं, कामनाओं, प्रेम और चित्त की वृत्तियों का एक पुलिंदा है और उसकी सत्ता केवल नाम-रूपात्मक है।

(४) जीवात्मा अतीतात्मक अर्थात् केवल अनुभव-मूलक है।

(५) जीव, नित्य सत्य का आभासमात्र है।

(६) जीव ईश्वर के पैदा किये हुये हैं।

(७) जीवात्मा शरीरावयवों के मेल का परिणाम है।

इन कल्पनाओं पर विचार

पहले हम दो से लेकर सातवीं कल्पना तक पर संक्षेप के साथ विचार करते हैं।

दूसरी कल्पना

इस कल्पना के मूलप्रवर्तक श्री शंकराचार्य जी हैं जिनके मत में केवल एक निर्गुण ब्रह्म ही असली तत्त्व है और वही समस्त जीव और जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। शंकर स्वामी ने गीता की टीका में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि अभाव से भाव और भाव से अभाव नहीं हुआ करता। जब इस प्राकृतिक जगत् और अप्राकृतिक जीव का उपादान कारण (Material cause) ब्रह्म को बतलाया जाता है, तो ब्रह्म को भी प्राकृतिक और अप्राकृतिक दोनों प्रकार का होना चाहिये, अन्यथा अभाव से भाव हो जायेगा और सिद्धान्तहानि होगी,

१. स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि।
२. आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ (अथर्ववेद २.११.२)

यदि ब्रह्म को प्राकृतिक मानें तो उसका निर्गुणत्व ही नहीं अपितु ब्रह्मत्व भी रुखसत हो जायेगा। इसलिये जीव और ब्रह्म के एकत्व की कल्पना को क्लिष्ट कल्पना ही कह सकते हैं।

तीसरी कल्पना

दूसरी कल्पना, यदि चेतनाद्वैतवादियों की थी, तो यह तीसरी कल्पना कि जीव संवेदन आदि का पुलिंदामात्र है, जड़ाद्वैतवादियों की है, जिनकी दृष्टि में प्रकृति ही एक तत्त्व है, जीव-ईश्वर कुछ नहीं। संवेदन, इच्छा और प्रेम मनुष्य के भीतर, मनुष्य बन जाने पर उत्पन्न हुआ करते हैं। यदि जीव इन्हीं संवेदन आदि का समुदायमात्र है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य पहले बन गया और चेतनामय जीव पीछे पैदा हुआ। यदि बिना चेतनामय जीव के मनुष्य, मनुष्य बनकर, मनुष्यत्व के व्यवहार कर सकता है, तो फिर चेतनामय जीव के उत्पन्न होने की जरूरत ही क्या रह जाती है? यह भी सम्भव नहीं कि जड़ प्रकृति में किसी भी प्रकार से चेतना पैदा की जा सके।

चौथी कल्पना

जीव को अतीतात्मक अर्थात् केवल अनुभवमूलक कहना भी ठीक नहीं हो सकता। अनुभव अथवा बीते काल के कार्यों ने यदि आत्मा को जन्म दिया, तो पिछले कर्म को करने और अनुभव को प्राप्त करने वाला कौन था?

पांचवीं कल्पना

जीव नित्य सत्ता का आभासमात्र है। हीगल ने जहां बाइबिल में वर्णित जुहोवा को १९वीं शताब्दी में मरा हुआ कहलाया, वहां उसने अपने दार्शनिक विचारों के प्रकार की दृष्टि से एक नित्य सत्ता की कल्पना की और उसी का आभास जीव को ठहराया। उपनिषद् ने भी एक जगह ब्रह्म को आतप (प्रकाश) और जीव को छाया ठहराया है[१]। प्राचीन मिश्र में भी जीव के छाया होने की बात प्रचलित थी। परन्तु उपनिषद् या मिश्र में, जीव को छाया कहने पर भी, उसकी स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती रही थी, लेकिन हीगल उसे स्वतन्त्र सत्तावान् होने से वंचित करता है। यही हीगल के मत की त्रुटि है। केवल छाया होने से जीव, जीव का कार्य नहीं कर सकता।

१. कठोपनिषद् ३.१ (छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति)

छठी कल्पना

जीव, ईश्वर के पैदा किये हुये हैं। यह कल्पना प्राय: सैमीटिक मतों के मानने वाले, ईसाई यहूदी आदिकों में प्रचलित है। राशडाल भी इसी कल्पना का पोषक है। इस कल्पना के करने वाले जहां जीव को उत्पन्न मानते हैं वहां दूसरी ओर उसके अनन्त होने का ढोल पीटते हैं। कोई सादि वस्तु शान्त न होकर अनन्त हो इस कल्पना की, सैमीटिक लौजिक के सिवा और कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। उत्पन्न के लिये मृत्यु अनिवार्य है।

सातवीं कल्पना

जीवात्मा शरीरावयवों के मेल का परिणाम-मात्र है। हैकल और हक्सले इस कल्पना के, १९वीं शताब्दी में, सबसे बड़े पोषक थे। इनमें से हक्सले ने अपने प्रसिद्ध व्याख्यान ''जीवन के प्राकृतिक आधार'' विषय पर देने के बाद अपनी सम्मति बदल ली थी। उसने जो पुस्तक पशुओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में लिखी थी, उसकी भूमिका में लिखा था कि ''जीव शरीर से मेल का परिणाम नहीं, अपितु उसकी रचना का कारण है[२]।'' परन्तु हैकल ने अपना मत नहीं बदला, उसने इस कल्पितवाद की स्थापना के लिये १७ और कल्पनायें कीं। परन्तु जब उसने इस बात की जांच करनी चाही, कि चेतना शरीर में किस प्रकार पैदा हुई, तो उसे स्वीकार करना पड़ा कि—

(१) अपने से भिन्न प्राणियों की चेतना का परीक्षात्मक बोध नहीं हो सकता[३]।

(२) अपनी चेतना की परीक्षा के सम्बन्ध में कठिनता यह है कि चेतना का परिज्ञान हमें चेतना के द्वारा ही हो सकता है। यही उसकी वैज्ञानिक परीक्षा में भारी अड़चन है[३]।

---

१. हक्सले के अंग्रेजी के शब्द ये हैं—"Life is the cause and not the consequence of organisation."

२. अंग्रेजी शब्द ये हैं—"Thus we can never have a complete objective certainy of the consciousness of others."

३. देखो आत्मदर्शन का उपोद्घात पृष्ठ ५१-७८, हैकल के शब्द ये हैं—"The only source of our knowledge of consciousness, is that faculty itself, that is the chief cause of the extraordinary difficulty of subjecting it to scientific research." (Riddle of the Universe by Ernest Hacckal. P. 14 and 15).

इसके बाद यह कहने का कि चेतनामय जीवन शरीर के संगठन का परिणाम है, कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। इसके सिवा १९वीं शताब्दी की जड़वाद की चढ़ी हुई कमान, २०वीं शताब्दी में उतर चुकी है और अब उसका स्थान आत्मवाद ने ले लिया है। २०वीं शताब्दी का विज्ञान जड़वाद को जड़वाद के स्थान में भी नहीं देखना चाहता है, वह इस जड़ता को भी आदिमूल चेतना में खोजने की धुन में लगा हुआ है। अस्तु यह कल्पना भी कल्पनामात्र है और इसका एक अप्रतिष्ठित कल्पना से अधिक मूल्य कुछ नहीं है। पहली कल्पना के सम्बन्ध में एक दो शब्द कहने से पूर्व इस बात पर हम थोड़ा और विचार कर लेना चाहते हैं कि बुद्धधर्म के विचार आत्मसम्बन्धी क्या हैं और कहां तक उनकी संगति पहली कल्पना के साथ लगाई जा सकती है?

बुद्ध धर्म और जीवात्मा

बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनन्द ने बुद्ध से पूछा कि जगत् के लिये जो यह कहा जाता है कि वह खाली है, इसका क्या मतलब है? बुद्ध ने उत्तर दिया कि आनन्द! जगत्, आत्मा (Self) या इसी प्रकार की किसी अन्य वस्तु से खाली है। आनन्द ने फिर पूछा कि फिर आखिर यह है क्या? बुद्ध ने उत्तर दिया कि यह ५ इन्द्रियों के गोलक और मन तथा मन से सम्बन्धित संकल्पों का समुदाय है इसमें आत्मा या अन्य इसी प्रकार की किसी वस्तु का समावेश नहीं है[२]।

फिर एक जगह "वहन वजीरा" ने चेतन आत्मा के लिये कहा है कि वह चेतना संबंधी कल्पनाओं का एक बंडल है[३]।

बुद्धमतानुयायी कहते हैं कि आत्मा नहीं है, परन्तु वह सदैव प्राकृतिक न्यायानुकूल भावी जन्मों में होता और विकसित होता रहता है। बुद्ध मत का इस प्रकार आत्मा की सत्ता से इंकार करना और साथ ही आवागमन (पुनर्जन्म) का मानना, ये दोनों बातें साथ-साथ चलने वाली नहीं हैं। यह एक प्रकार की भ्रान्ति ही है चाहे तो बुद्धधर्म में हो, चाहे उसमें आरोप की जाती हो[३]।

---

१. Buddhism by Mrs. Rhys Davide, p. 52.

२. Do, p. 55 चेतना सम्बन्धी कल्पनाओं के बंडल के लिये अंग्रेजी के शब्द— Bundle of formation हैं।

३. Do, p. 137.

यह कहा जाता है कि बुद्ध ने एक व्याख्यान 'अनता' (अनात्मा) विषय पर दिया कि आत्मा अस्थिर है और इस अस्थिर आत्मा का संबंध भूतकालिक या भावी अस्थिर आत्माओं से, प्रेषित शक्ति (Transsmitted Energy) अथवा विकास द्वारा हुआ करता है। इस पर कुछ भिक्षुओं के हृदय में शंका उत्पन्न हुई कि जब शरीर में कोई स्थिर आत्मा नहीं है तब कोई अस्थिर आत्मा क्यों किसी में से कर्मों के फलों का उपभोग करे, जिसे किसी अन्य आत्मा ने किया हो? बुद्ध को इस शंका का ज्ञान हो गया और उन्होंने भिक्षुओं से कुछ प्रश्न किये। वे प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

बुद्ध—यह शरीर या शरीरान्तर्गत जीव (Mind) स्थिर है या अस्थिर?

भिक्षु—अस्थिर।

बुद्ध—यदि यह आत्मा अस्थिर है तो क्या सुख-दुःख भोग सकती है या नहीं?

भिक्षु—भोग सकती है।

बुद्ध—परन्तु क्या आत्मा को अस्थिर कहते हुये यह उचित होगा कि उसे सुख-दुःख भोगने वाला माना जाये और साथ ही कहा जाये कि वह परिवर्तित भी होता है? और यह भी कि यह मेरा है और मैं यह हूं। यह मेरा आत्मा है?

भिक्षु—नहीं[१]।

स्पष्ट है कि इन प्रश्नोत्तरों से भिक्षुओं के हृदयों में उठी हुई शंका का समाधान नहीं हुआ, न हो सकता था। अपितु अन्तिम प्रश्नोत्तर से प्रकट है कि भिक्षु ने आत्मा के अस्थिर होने पर उसे सुख-दुःख भोगने वाला स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार की एक और उलझन एक दूसरे प्रश्नोत्तर से उत्पन्न होती है। यह प्रश्नोत्तर राजा मिलिन्द और बुद्धभिक्षु नागसेन के मध्य में हुए थे—

मिलिन्द—क्या पुनर्जन्म सम्भव है जब कि एक आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में नहीं जाता?

नागसेन—हां, सम्भव है।

मिलिन्द—किस प्रकार सम्भव है? कोई उदाहरण देवें।

नागसेन—कल्पना करो कि एक व्यक्ति ने एक दीपक को दूसरे से

१. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 138 and 139.

जलाया, तो क्या कहा जा सकता है कि पहला दीपक दूसरे में चला गया?

मिलिन्द—नहीं।

नागसेन—क्या आप इसे स्वीकार न करेंगे, कि आपने बचपन में कुछ पद्य अपने गुरु से सीखे थे?

मिलिन्द—मैं स्वीकार करता हूं।

नागसेन—तो क्या वे पद्य आपके गुरु के शरीर से निकलकर आप में आये थे?

मिलिन्द—नहीं।

नागसेन—इसी प्रकार बिना आत्मा के एक शरीर से निकलकर दूसरे में जाने के पुनर्जन्म संभव है[१]।

दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि पहले में एक दीपक का प्रकाश दूसरे में गया और दूसरे में अध्यापक का पद्य-ज्ञान उसके भीतर से निकलकर मिलिन्द के भीतर गया। बिना किसी वस्तु के एक जगह से निकलकर दूसरी जगह जाने के न दूसरा दीपक प्रकाशित हो सकता था और न ही मिलिन्द को पद्यज्ञान प्राप्त हो सकता था। नागसेन का तर्क, तर्क नहीं अपितु तर्काभास (हेत्वाभास) ही कहा जा सकता है। आवागमन के सिद्धान्त पर बुद्धमतानुसार पूरा प्रकाश पड़ जाये, इसलिये हम प्रश्नोत्तरों का शेषांश भी यहां उद्धृत करते हैं—

मिलिन्द—तो वह चीज क्या थी, जिसका पुनर्जन्म हुआ?

नागसेन—मन (Mind) और शरीर पुनरुत्पन्न होते हैं।

मिलिन्द—क्या कहीं पहले मन और शरीर ही पुनरुत्पन्न होते हैं?

नागसेन—नहीं, ऐसा नहीं है, बल्कि बात यह है कि पहले मन और शरीर से किये हुये कर्म होते हैं। वे कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी और इन्हीं कर्मों से दूसरे मन और शरीर उत्पन्न होते हैं।

मिलिन्द—यदि पहले मन और शरीर उत्पन्न नहीं होते, तो क्या पहला व्यक्ति बुरे कर्मों के फल से बच नहीं जाता?

देरा (नागसेन)—यदि वह व्यक्ति फिर पैदा न होता, तो अवश्य बुरे कर्मों के फल से बच जाता, परन्तु पुनरुत्पन्न होने से नहीं बच सकता।

मिलिन्द—कोई उदाहरण दें।

---

१. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 141 and 142.

नागसेन—कल्पना करो कि एक आदमी किसी दूसरे आदमी के आम चुरा ले गया और मालिक ने न्यायाधीश के सन्मुख चोर को अपराधी ठहराया, अब अगर चोर कहे कि "मैंने इस आदमी के आम नहीं चुराये हैं। मैंने जो आम लिये हैं, वे इस व्यक्ति के लगाये हुये नहीं थे।" तो क्या चोर की बात ठीक मानी जायेगी ओर वह अपराधी न समझा जायेगा?

मिलिन्द—चोर अवश्य अपराधी समझा जायेगा।

नागसेन—क्यों?

मिलिन्द—चोर कुछ कहे, परन्तु यह बात वह स्वीकार करता है कि कारणरूप पहले आम के वृक्षों से उत्पन्न, कार्यरूप पिछले आमों को उसने चुराया है।

नागसेन—ठीक है। इसी प्रकार एक व्यक्ति जिसने अच्छे या बुरे काम वर्तमान मन और शरीर से किये हैं और उन्हीं के बदले में उसे दुबारा जन्म लेना पड़ता है तो वह इस जन्म में बुरे कामों[१] के फल भोगने से, जो उसने पहले जन्म में किये थे, बच नहीं सकता। इसके सिवा एक और उदाहरण नागसेन ने राजा (मिलिन्द) के सन्देह निवारणार्थ दिया है। विषय के स्पष्ट हो जाने के उद्देश्य से उसका भी उल्लेख यहां किया गया है—

नागसेन—कल्पना करो कि एक व्यक्ति ने एक ग्वाले से दूध भरा हुआ एक बर्तन क्रय किया और उस बर्तन को दूध समेत ग्वाले के पास छोड़कर यह कहकर चला गया कि इसे मैं कल ले जाऊंगा। अब जब कल वह व्यक्ति अपना दूध लेने आया, तो देखा कि वह दूध खट्टा होकर और फटकर दही के समान हो चुका था। उस व्यक्ति ने ग्वाले से कहा कि मेरा दूध दो। मैंने तुमसे दूध खरीद किया था दही नहीं। इस पर झगड़ा करते हुये यदि वे आपके पास आवें तो आप उनका क्या निर्णय करेंगे?

मिलिन्द—मैं ग्वाले के हक़ में निर्णय करूंगा।

नागसेन—क्यों?

मिलिन्द—चाहे दूध का खरीददार कुछ कहे, परन्तु वह दही उसी दूध का परिवर्तित रूप है।

१. Sacred Books of the East Series XXXV, and passages in Warrens Buddism in translations.

नागसेन—इसी प्रकार एक मन और शरीर मृत्यु आने पर समाप्त हो जाता है और दूसरा मन और शरीर पुनर्जन्म से पैदा होता है, परन्तु यह दूसरा मन और शरीर पहले मन और शरीर से उत्पन्न हुये थे, इसलिये इनका छुटकारा पहले मन और शरीर के किये हुए बुरे कर्मों से नहीं हो सकता।[१]

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि नागसेन ने यह समझने में भूल की है कि वर्तमान मन और शरीर पहले मन और शरीर के कार्य हैं। पहला मन और शरीर मृत्यु होने पर जल चुका था। दूसरा मन और शरीर दूसरे माता-पिता के रजोवीर्य अर्थात् नये उपादान कारण से बना है। फिर इस नए शरीर को पुराने शरीर से निकला या उत्पन्न हुआ किस प्रकार कहा जा सकता है ? नित्य आत्मा माने बिना पुनर्जन्म की गुत्थी सुलझा लेना सम्भव नहीं है।

बुद्धधर्मानुयायी अपने को जड़वादी (Materialist) या शून्यवादी (Nihilist) कहे जाने के सर्वथा विरुद्ध हैं। वह अपने लिए यह कहने वाला भी नहीं मानते कि शरीर का प्रारम्भ और अन्त केवल प्राकृतिक द्रव्यों से हुआ है[२]। परन्तु इसके साथ ही वह नित्यात्मा की सत्ता भी स्वीकार नहीं करते इस स्थिति में उन्हें आत्मवादी कहा जाये या जड़वादी, यह कहना अत्यन्त कठिन है।

एक जगह कहा गया है कि एक मनुष्य मर गया। उसका जीवन चला गया। उसका जीवन क्या था ? इस पर प्रकाश डालने के लिए कहा गया है कि वह एक शक्ति थी, जिसमें व्यक्तिगत प्रवृत्तियों या कार्य-प्रणालियों का असीम विस्तार सम्मिलित होता है और जो सदैव से सुरक्षित होती है और किसी भी क्षण में उसकी वास्तविकता एक सुसंघटित व्यक्ति के रूप में देखी जा सकती है। अन्तिम मानसिक या चेतनापूर्ण कार्य, ठीक उसी समय का जब शरीर जीवित प्राणी के शरीर के सदृश कार्य करना छोड़ देता है, सकर्मक कारणत्व के रूप में अपने पूर्वजों के सदृश होता है और वह अपनी हेतुक शक्ति, नवीन स्थापित गर्भ में, गर्भाणु के रूप में भेजता है। वह गर्भ चाहे मनुष्य का हो या मनुष्येतर प्राणियों का। परन्तु गर्भ से, उपर्युक्त कार्यप्रणाली का, क्या

१. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 143
२. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 145

प्रभाव प्रकट होता है और गर्भ किस रूप में और कहां तक इस कार्यप्रणाली से प्रभावित होता है ? इस सम्बन्ध में श्रीमती राइस डैविड्स के कथनानुसार, बौद्धसाहित्य में चाहे वह पुराना हो या नवीन, कोई उत्तर नहीं मिलता।[१] उपर्युक्त वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्धमतानुसार कोई वस्तु मृत्यु होते समय, मरने वाले के शरीर से निकलकर नवीन स्थापित गर्भ में गर्भाणु के रूप में जाती है, परन्तु वह क्या वस्तु है और उसका क्या प्रभाव गर्भ पर होता है ? स्थिर आत्मा का विश्वास न रखने से, इसका कोई उत्तर बुद्धधर्म नहीं दे सकता।

स्थिर आत्मा के मानने की झलक फिर भी बुद्ध-साहित्य में, कहीं न कहीं, आ ही जाती है। इसका एक उदाहरण दिया जाता है—बौद्धों का विश्वास है कि यदि कोई बौद्ध, प्राचीन देरा और देरी (Theras and Theris) के सदृश शुद्ध हो और वैसी ही शुद्ध बुद्धि रखता हो तो वह अपने अनेक पुराने जन्मों की बातें याद रख सकता है। जैसे अनेक बच्चे अपने पहले जन्म से सम्बन्धित व्यक्तियों और स्थानों का हाल बता दिया करते हैं[२]।

स्पष्ट है कि स्थिर आत्मा के बिना किस प्रकार कोई जन्म-जन्मान्तर का हाल बता सकता है। बौद्ध-साहित्य प्रायः गौतम बुद्ध के निर्वाण के अनेक शताब्दी बीतने पर तैयार होना शुरू हुआ था। इसी का कारण है कि उसमें अनेक सुनी सुनाई बातों का समावेश हो जाने से वह एक सिद्धान्त और नीति का बाकी नहीं रहा और इसलिए उसमें अनेक स्थानों पर परस्पर विरोधी बातों का समावेश हो गया। जैसे एक जगह बुद्धघोष ने लिखा है कि "यह महान संसार-चक्र बराबर चल रहा है परन्तु इसका कोई रचयिता नहीं है। इसका प्रारम्भ भी अज्ञात है। यह केवल कारण और कार्य के प्रभाव से चल रहा है[३]।" परन्तु इस समय जो धार्मिक और आचारसम्बन्धी सुधार का कार्य बौद्धमतानुयायियों द्वारा हो रहा है उसमें बराबर घोषणा की जा रही है कि बुद्धमत नास्तिकवाद नहीं है[४]।

---

१. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 145 and 147.

२. I Gleanings in Buddha Fieds by L. Hearn. p. 267.
II Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 147 and 148.

३. Way of purity by Buddha Ghosh Ch : XVII.

४. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 152

फिर एक जगह लिखा है कि बुद्धमतानुयायी व्यक्ति को नित्य मानते हैं और उसे समझते हैं कि वह अनादि और अनन्त है और बराबर उसके जन्म होते रहेंगे, उस समय तक जब तक कि पुनर्जन्म होने के हेतु तिरोहित (Suspend) न हो जायेंगे[१]। बुद्धमतानुयायी जीवन को आवश्यक और अनिवार्य रीति से उत्कर्ष और अपकर्ष, उन्नत और अवनत और चढ़ाव तथा उतार की, एक कार्यप्रणाली मानते हैं। परन्तु उसी जीवन के लिए फिर यह कहना कि वह आनन्दमय और नित्य है, अपनी बात का खण्डन करना है[२]।

बुद्धधर्म के समालोचक और प्रशंसक दोनों इस बात से सहमत हैं कि बुद्ध धर्म का आत्मा-सम्बन्धी विचार निम्न दो सूरतों में से एक अवश्य होना चाहिए—

(१) आत्मा की सत्ता से पूर्णतया इन्कार नहीं करना चाहिये या—

(२) जीवन, जैसा कि बौद्ध उसे समझते हैं, मरने पर समाप्त नहीं हो जाना चाहिये।

श्रीमती राइस डैविड्स ने यह ठीक ही लिखा है कि उनकी दृष्टि में अब तक ऐसा विचार उपस्थित नहीं किया जा सका है, जिसमें यह तो कहा जाय कि जीवन की सत्ता तो है परन्तु वह जीवन नहीं है[३]। बुद्ध के लिए पिटको में कहा गया है कि उसने शिक्षा दी है कि एक बौद्ध सन्त मरने पर, बुझने वाली अग्नि की ज्वाला की तरह, समाप्त हो जाता है, जिस (ज्वाला) के लिए कोई नहीं कह सकता कि वह कहां गई, यहां गई या वहां[४]?

गौतम बुद्ध के इस वाक्य का इतना अर्थ हो सकता है कि जिस प्रकार बुझने वाली अग्नि को कोई नहीं कह सकता कि कहां गई इसी प्रकार उस मरने वाले सन्त के जीव के लिए भी कोई नहीं कह सकता कि कहां गया? फिर उसको यह कहना कि वह कुछ रहा ही नहीं ठीक प्रतीत नहीं होता।

फिर एक जगह बुद्ध ने कहा है कि बुद्ध संत जो निर्वाण पद प्राप्त

---

१. Do p. 182 २. Do p. 187

३. Do p. 188 देवी जी के शब्द ये हैं—"I Have come across no such conception as "being but not life."

४. Do p. 190.

करने वाला है उस (निर्वाण) में जीवन बाकी नहीं रहता[१]। यह बात केवल बुद्ध और 'अर्हन्त' के मत से सम्बन्धित है। श्रीमती राइस डैविड्स ने लिखा है कि यहां इस वाक्य में निर्वाण के अर्थ पूर्णतया जाने के (Completely gone out) हैं। और बुद्ध धर्म में इस जाने का अभिप्राय, पवित्रता के बाद, शान्त और स्वस्थ होना है। जिसका तात्पर्य यह है कि उसका अर्थ इनका मरना, मरना नहीं है, जिसमें साधारणतया यह प्रयुक्त हुआ करता है। इसीलिए आगे एक दूसरी जगह लिखा है कि पूर्णता प्राप्त मनुष्य की, जिसने जीवन में ही निर्वाण प्राप्त कर लिया है, अन्तिम मृत्यु नहीं है कि वह जीवन के समस्त चक्र को समाप्त कर देती हो[२]।

निर्वाण के सम्बन्ध में बौद्धभिक्षुओं के दो मत हैं—(१) निर्वाण जीवन के पूर्णतया समाप्त हो जाने को कहते हैं, (२) निर्वाण महोज्ज्वल जीवन है, जिसमें नित्य सुख प्राप्त करता है[३]।

निर्वाण बुद्ध धर्म का एक रहस्य है जिसे ठीक रीति से कोई नहीं जानता कि क्या वस्तु है। अस्तु, यह बात उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होती है कि बुद्धमतानुयायी खुले तौर से जीव की नित्य और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। परन्तु उनके साहित्य में, अनेक ऐसी बातें मिलती हैं, जिनसे उसके स्वीकार करने की झलक निकलती है। इस मामले में जैन-साहित्य स्पष्ट है, वह खुले तौर से जीव की नित्य और स्वतन्त्र सत्ता मानता है।

पहली कल्पना की पुष्टि

दूसरी से सातवीं कल्पनाओं पर विचार करने और उनकी निस्सारता प्रकट करने के बाद यह स्वीकार करने के लिए बाधित होना पड़ता है कि आत्मा की नित्य और स्वतन्त्र सत्ता है जैसा कि पहली कल्पना में प्रकट किया गया है[४]। न्यायदर्शन में भी जीव के नित्यत्व का प्रतिपादन

---

१. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 191 अंग्रेजी के शब्द ये हैं— "Perfected with a going out (निर्वाण) wherein is no redsiduum of life."

२. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 191–193.

३. Do p. 195

४. इस सम्बन्ध में अधिक जानने के लिए लेखक के लिखे ग्रन्थ आत्मदर्शन को देखना चाहिये जिसमें जीवात्मा की नित्य और स्वतन्त्र सत्ता युक्ति और प्रमाण से प्रमाणित की गई है।

किया गया है। उसमें एक जगह लिखा है कि पुनर्जन्म की सिद्धि से आत्मा का नित्यत्व सिद्ध है[१]।

जेम्स सेठ ने एक जगह लिखा है कि इच्छा-स्वातन्त्र्य की स्थापना के लिए आवश्यक है कि आचार नैतिक जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जाये, वही जीव सदाचारमय जीवन का हृदय और केन्द्र है, वही आचार, नैतिक स्थिति की कुंजी है। × × × जीव की सत्ता को केवल नाम रूप ठहराकर, उसकी तह में ईश्वर को ही देखना और उसी को एकमात्र सत्य ठहराने का आशय आचारमय जीवन को नष्ट कर देना ही है[२]।

प्रो० राइस ने सभी दृष्टियों से ईश्वर और मनुष्य की इच्छाओं के पार्थक्य पर विचार करते हुये और उससे होने वाले परिणामों को लक्ष्य में रखते हुये यह सिद्धान्त स्थिर किया है—

"मैं स्थिर करता हूं कि ईश्वर और हमारी (जीव की) परिमित इच्छा दोनों, ब्रह्माण्ड में पृथक्-पृथक् प्रकट हो रही हैं और यह कि इस घोषणा से किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न नहीं होता[३]।" फिर एक जगह राइस महोदय ने, जीव की स्वतन्त्र सत्ता के सम्बन्ध में, लिखा है कि "तुम ब्रह्म में हो, परन्तु इससे तुम्हारी सत्ता वहां नष्ट नहीं हो गई[४]।"

जेम्स वार्ड ने ह्यूम और वेन के उपर्युक्त (आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरुद्ध) मतों का खण्डन करते हुये स्थिर किया है कि आत्मा अवश्य है। यदि उसे (आत्मा को) केवल विचारों और अनुभवों का बंडल कहें और उससे भिन्न कोई निश्चय और नियन्त्रण करने वाला आत्मा न मानें, तो मनुष्य का फिर कोई उद्देश्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। इन सब बातों पर विचार करते हुये, जेम्स वार्ड ने निश्चय किया है कि आत्मा है और इच्छा-स्वातन्त्र्यमय है[५]।

दूसरा अध्याय समाप्त हुआ

---

१. आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ न्याय० ४.१.१० ॥

२. A study of Ethical Principles by James Seth. p. 401–403.

३. The World and The Individual by J. Royee p. 441.

४. Do p. 465 and p. 466.

५. Pluralism and theism by James Ward p. 290.

मूल पुस्तक के अतिरिक्त एक विषय संगत निबन्ध जीवात्मा का लक्षण

वह कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है। इसी को जीव कहते हैं।

इनके अतिरिक्त एक और बात स्पष्ट ही है और कोई इससे इन्कार नहीं कर सकता। वह यह है कि जीव का भोक्तृत्व परिच्छिन्न है विभु नहीं। अर्थात् हम किसी एक वस्तु के विषय में ही जान सकते, अनुभव या प्रेरणा कर सकते हैं सबके विषय में नहीं। हमारा ज्ञान, हमारी क्रिया और हमारा सुख-दुःख परिमित है अपरिमित नहीं। हम कई हैं एक नहीं। मेरा ज्ञान मेरे लिये है और दूसरे का ज्ञान दूसरे के लिए। मेरी विचार-शृंखला और अन्य पुरुष की विचार शृंखला एक नहीं। यदि किसी कमरे में दो व्यक्ति बैठे हैं तो दोनों की विचारधारायें अलग-अलग उनके मस्तिष्कों में बह रही हैं, एक का दूसरे के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। मैं नहीं जान सकता कि आपके मन में क्या है? और अगर आप शब्दों या संकेतों द्वारा बता भी दें तो ऐसा ज्ञान आपका ज्ञान नहीं किन्तु मेरा ज्ञान होगा। कल्पना कीजिए कि दो पुरुष किसी विषय की बाबत विचार कर रहे थे। वे सो गये। जब सोकर उठे तो सोने से पहले जो उनकी विचारधारायें थीं, वे सोने के पीछे भी अपनी-अपनी धारा से मिलकर बहने लगेंगी। यह सम्भव नहीं है कि यज्ञदत्त की सोने से पूर्व की धारा देवदत्त की जाग उठने से पीछे की धारा के साथ बह निकले। यह सब नदियां इतनी अलग हैं कि एक नदी का जल दूसरी नदी में बह ही नहीं सकता। इससे जीव का परिच्छिन्नत्व और नानात्व सिद्ध होता है। एक शरीर के भीतर वह जीव किसी स्थानविशेष में है या सब स्थानों में फैला हुआ है? शरीर ही को जीव कहते हैं या जीव शरीर से अलग है? यह एक अलग प्रश्न है। परन्तु इस स्थल पर केवल इतना बताना काफी है कि मेरा जीव मेरे शरीर के बाहर नहीं और आपका जीव आपके शरीर के बाहर नहीं। इस प्रकार जीवात्मा का यह लक्षण हुआ— **ज्ञातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वाणुः।**

एक अतिरिक्त निबन्ध : जीवात्मा का लक्षण

अर्थात् जीवात्मा वह अणु है जिसमें, जानने, क्रिया करने और सुख-दुःख भोगने की शक्ति हो।

यह लक्षण समस्त सजीव पदार्थों पर लागू होता है, न केवल मनुष्य पर ही। पशु-पक्षी कीट-पतंग आदि भी इस लक्षण के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योंकि इनमें विभुत्व का अभाव और अणुत्व का भाव होने के अतिरिक्त सुख-दुःख, ज्ञान और प्रेरणा भी पाई जाती है।

(श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'जीवात्मा' नामक ग्रन्थ से साभार)

तीसरा अध्याय

जीवात्मा और उसके गुण

जीवात्मा की नित्य और स्वतन्त्र सत्ता प्रमाणित होने पर उसके गुणों पर विचार करना चाहिये।

जीवात्मा के गुण

न्यायदर्शन में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान और प्रयत्न को आत्मा का चिह्न (लिंग) कहा गया है[१]। अर्थात् इनमें से प्रत्येक लिंग (चिह्न) आत्मा की सत्ता को प्रकट किया करता है, परन्तु ये सब, आत्मा के गुण नहीं हैं[२]। इनमें से गुण तो केवल दो हैं ज्ञान और प्रयत्न। बाकी चार इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख, ये शरीर के निमित्त से, आत्मा में, संयोगसंबंध के तौर पर समझे जाया करते हैं। शरीर के अभाव से इनका भी अभाव हो जाया करता है। परन्तु ज्ञान और प्रयत्न, शरीर चाहे रहे या न रहे, ये समवाय सम्बन्ध के तौर पर, ठीक उसी तरह से आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, जैसे अग्नि का गुण उष्णता। जिस प्रकार उष्णता अग्नि से अलग नहीं हो सकती, इसी प्रकार ज्ञान और प्रयत्न आत्मा से पृथक् नहीं हो सकते। वैशेषिकदर्शन में इन छः की जगह (१) प्राण (२) अपान (३) निमेष (४) उन्मेष (५) जीवन (६) मनोगति (७) इन्द्रियान्तरविकार (८) सुख (९) दुःख (१०) इच्छा (११) द्वेष और (१२) प्रयत्न आत्मा के लिंग कहे गये हैं[३]। इन लिंगों में भी ज्ञान और प्रयत्न के सिवा बाकी सब शरीर के निमित्त से हैं और शरीर के अभाव से इनका भी अभाव हो जाया करता है।

जीवात्मा के गुण और शरीर की रचना

शरीर मनुष्य को आत्मा के गुणों को सार्थक करने के लिये मिला

---

१. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यत्मनो लिङ्गम्। (न्यायदर्शन १.१.१०)

२. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्। (वैशेषिक ३.१.१९)
अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ-विषयों के समीप होने से जो सिद्ध होता है, वह अन्य है। अर्थात् आत्मा नित्य है उसके गुण ज्ञान और प्रयत्न भी नित्य हैं, परन्तु इन्द्रियों और अर्थों के संयोग से जो इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं, वे अन्य और अनित्य हैं।

३. प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। (वैशेषिक ३.२.४)

करता है। आत्मा के गुण, ज्ञान और प्रयत्न हैं। शरीर में भी दो ही प्रकार की इन्द्रियां हैं जिनके समुदाय का नाम शरीर हुआ करता है और वे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय हैं। अतः स्पष्ट है कि शरीर की बनावट भी आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न होने की पुष्टि करती है।

आत्मा के गुण किस प्रकार कार्य में आया करते हैं?

आत्मा का ज्ञान-गुण—आत्मा को ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त हुआ करता है। बाह्य जगत् का ज्ञान प्रतिबोध (निदिध्यासन) द्वारा। इन दोनों साधनों के द्वारा आत्मा अपने बाहर और भीतर का ज्ञान प्राप्त किया करता है।

आत्मा का प्रयत्न गुण—बाह्य प्रयत्न के लिये आवश्यक है कि आत्मा का मन और इन्द्रियों के साथ सहयोग हो। तीनों मिलकर ही कर्म किया करते हैं और उनका फल भोगा करते हैं[१]। वैशेषिकदर्शन में भी एक जगह ऐसा ही कहा गया है। "मन सहित आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ कर्म करता है।" जिस तरह और आत्मा के संयोग से हाथ से क्रिया होती है, इसी प्रकार आत्मा की प्रेरणा से मन में भी क्रिया होती है[२]। आत्मा भी अकेला बाहर कर्म नहीं कर सकता, इसीलिये कहा गया है कि हाथ के संयोग और वेग से शरीर में क्रिया होती है[३]। सांख्य में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुये कहा गया है कि द्रष्टा और श्रोता आदि (कर्त्ता) तो आत्मा है और इन्द्रियां उसके साधन हैं[४]।

अतः प्रयत्न के लिए आवश्यक है कि या तो आत्मा शरीररहित हो अथवा शरीर, सुषुप्तावस्था में हो जाने के सदृश बेकार हो।

तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।

---

१. (क) आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। (कठोपनिषद् ३.४)
   (ख) आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म। (वैशे० ५.१.१)

२ हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम्। (वैशे० ५.२.१४)

३ आत्मकर्महस्तसंयोगाच्च। (वैशे० ५.१.६)

४ द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्। (सांख्य० २.२९)

चौथा अध्याय
कर्म के लक्षणादि

कर्म का लक्षण

वैशेषिक दर्शन में कर्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"जो एक द्रव्य वाला हो अर्थात् अनेकद्रव्याश्रित न हो, गुणवाला न हो, संयोग और विभाग में निरपेक्ष स्वतन्त्र कारण हो[१]।"

द्रव्य ९ हैं—(१) पृथिवी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु, (५) आकाश, (६) काल, (७) दिशा, (८) आत्मा और (९) मन[२]।

कर्म के लक्षण में पहली बात यह बतलाई गई है कि कर्म एक द्रव्याश्रित हो अर्थात् उसका संबंध केवल एक द्रव्य से हो। गुण द्रव्यों के हुआ करते हैं कर्म द्रव्य नहीं, अपितु किसी न किसी द्रव्य के आश्रित हुआ करता है, इसलिये स्पष्ट है कि कर्म का कोई गुण नहीं हो सकता।

कर्म जब उत्पन्न होता है, तब किसी न किसी संयोग या विभाग को उत्पन्न किया करता है। इस संयोग या विभाग के उत्पादन में, यद्यपि कर्म, द्रव्य और पूर्वसंयोग के नाश की अपेक्षा रखता है, तथापि न तो वह द्रव्य, कर्म की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होता है और पूर्व, क्योंकि द्रव्य नित्य होता है और संयोग-नाशभाववाला होता है, इसलिये कर्म, संयोग विभागों में निरपेक्ष कारण हुआ करता है।

कर्म किस क्रिया को कहते हैं

(१) ऊपर उठना, (२) नीचे को दबाना, (३) सिकोड़ना, फैलाना और (५) चलाना, ये क्रियायें हैं, जब इनका या इनमें से किसी का सम्बन्ध कर्त्ता के साथ होता है तब इन्हें कर्म कहा करते हैं[३] इसके सिवा संयोग, वियोग और बलप्रयोग का कारण भी कर्म ही हुआ करता है[४]। जैसे धनुष में तीर चलाना संयोग और उसका खींचना वेग और छोड़ देना वियोग, ये भी कर्म ही हैं।

---

१. एकद्रव्यमगुणं संयोगवियोगेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्॥
(वैशेषिकदर्शन १.१.१९)

२. पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि॥
(वैशेषिक १.१.५)

३. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि॥ (वैशेंषिक १.१.७)

४. संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्॥ (वैशेषिक १.१.२०)

कर्म-कर्मान्तर का साक्षात् कारण नहीं होता

जिसका कर्म साध्य हो वह कर्म नहीं कहा जा सकता[१]। तात्पर्य यह है कि कर्म से कर्मान्तर नहीं बनता अर्थात् ऐसा कोई कर्म नहीं जिसका साक्षात् कारण कोई कर्म हो। एक उदाहरण से यह बात भलीभांति समझी जा सकती है। एक व्यक्ति ने एक गेंद को जमीन पर खींचकर बलपूर्वक फेंका। यह एक कर्म हुआ। इस कर्म के बाद वह गेंद भूमि से उछलती है और फिर गिरना आदि अवश्य अन्य कर्म हैं परन्तु इनका साक्षात् कारण पहला कर्म नहीं। इससे कर्म ने वेग पैदा किया, इस वेग के कारण गेंद के उछलने आदि की क्रिया हुई। कर्म से जो वेग पैदा हुआ वह कर्म नहीं अपितु कर्मत्व कहते हैं। वैशेषिकदर्शन में इसीलिये कर्म से कर्मत्व को भिन्न कहा गया है[२]। वैशेषिकाचार का कहना है कि कर्मत्व एक वस्तु है जो सभी कर्मों से हुआ करती है। इसलिये उसका सम्बन्ध किसी कर्मविशेष से नहीं जोड़ा जा सकता, साधारण रीति से कर्म में कर्मत्व को शामिल करके इस संघात को ही कर्म कहा और समझा जाता है, परन्तु दार्शनिक दुनिया में जहां बाल की खाल निकाली जाती है, कर्म से कर्मत्व भिन्न ही कहा जाता है। इसलिये यहां कर्म से वेगरूपी कर्मत्व उत्पन्न होता है और उसी से गेंद के उछलने आदि की क्रिया उत्पन्न होती है और इसीलिये कर्म, कर्म का साक्षात् कारण नहीं माना जाता और न माना जा सकता है।

कर्म कार्य का विरोधी है

कर्म कार्य (फल) को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है, इसलिये कार्य (फल) कर्म का विरोधी है[३]। कर्म कारणरूप में होता है और उससे उत्पन्न फल कार्य रूप में समझा जाता है और कारण और कार्य दो किनारे की वस्तु मानी ही जाती हैं इसीलिये कर्म और कार्य में विरोध माना जाता है।

द्रव्यों का कारण कर्म नहीं होता

द्रव्य नित्य होते हैं, यह बात कही जा चुकी है, इसलिये जब वे नित्य होते हैं, तब उनकी उत्पत्ति आदि का प्रश्न हीं नहीं उठ सकता, इसीलिए द्रव्यों का कारण कर्म नहीं, यह बात वैशेषिक दर्शन में कही गई है[४]।

---

१. कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते॥ (वैशेषिक १.१.११)
२. कर्मसु भावत्कर्मत्वमुक्तम्॥ (वैशेषिक १.१.१५)
३. कार्यविरोधी कर्म॥ (वैशेषिक १.१.१४)
४. न द्रव्याणां कर्म॥ (वैशेषिक १.१.२१)

पांचवां अध्याय

पारतन्त्र्यवाद

कर्म के सम्बन्ध में विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीनकाल से लेकर प्रचलित विज्ञान-युग तक में दो स्कूल बराबर समानान्तर रेखा की तरह काम करते रहे हैं—(१) कर्म-स्वातन्त्र्यवाद (२) पारतन्त्र्यवाद। इनमें से पहले पारतन्त्र्यवाद और उसकी शाखा तथा उपशाखाओं पर विचार किया जायेगा।

(१) भाग्यवाद (Fatalism)

विज्ञान के युग का प्रारम्भ होने से कुछ पहले, भाग्य-(दैवाधीनता) वाद की तूती बोल रही थी और प्रत्येक व्यक्ति सन्तुष्ट रहता था कि जो कुछ उसके भाग्य (किस्मत) में लिखा है, वही होगा उसमें अगर मगर करना बे-फायदा है—

ह्वै है वही जो राम रचि राखा।
को कर तर्क बढ़ावे शाखा॥

अथवा "पेश आना है वही जो कुछ कि पेशानी में है।" इस वाद के अनुयायी समझा करते हैं कि मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही ईश्वर की ओर से सब कुछ नियत हो जाता है कि क्या उसके जीवन में घटनायें घटित होती होंगी। फिर उनमें मनुष्य के कर्म या तदबीर (पुरुषार्थ) का कुछ भी दखल नहीं हो सकता।

राशडाल ने एक बड़ा उपयोगी उदाहरण भाग्यवाद का दिया है जिससे इस वाद का रूप भलीभांति प्रकट हो जाता है। उदाहरण इस प्रकार है—

एक उदाहरण

यदि एक तुर्क के घर में आग लग जाये, तो वह हाथ रक्खे बैठा रहेगा और जलते हुए घर को देखा करेगा, परन्तु आग के बुझाने का यत्न न करेगा। वह कहेगा कि यदि अल्लाह की इच्छा है कि उसका घर जल जाये तो उसके विरुद्ध कोई तदबीर करना निष्प्रयोजन है, क्योंकि ईश्वरेच्छा के विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता और यदि अल्लाह चाहता है कि उसका घर बच जाये तो फिर उसको किसी प्रकार की सहायता की जरूरत नहीं वह स्वयं आग बुझा देगा। भाग्यवादी ठीक इसी प्रकार अकर्मण्यता का आश्रय लेने वाले हुआ करते हैं।

भाग्यवाद की दो शाखाएं

भाग्यवाद के अनुयायी एक तो ऐसे ही लोग होते हैं, जो मनुष्य का एक ही जन्म माना करते हैं। ऐसे लोगों का दृष्टिकोण ठीक वैसा ही हुआ करता है जैसा ऊपर उदाहरण में वर्णन किया गया है। दूसरे ऐसे लोग होते हैं, जो अनेक जन्मों (आवागमन) को मानते हैं। ऐसे लोगों में से कुछेक शिक्षित पुरुषों का ऐसा विचार होता है कि पिछले जन्मों के कर्मानुसार ही भाग्य निर्मित हुआ करता है। अन्य के विचार प्रथम श्रेणी के पुरुषों के ही अनुरूप हुआ करते हैं। अस्तु, भाग्यवाद के रूप बदल जाने से अब प्रचलित युग में उपर्युक्त प्रकार का भाग्यवाद अप्रतिष्ठित हो गया और अब इसके मानने वाले बहुत थोड़े व्यक्ति इधर-उधर दिखाई पड़ते हैं।

(२) इपीक्यूरिस का परतन्त्रतावाद

इपीक्यूरस (Epicurus) दैववाद का विरोधी था, उसने इस वाद से बचने के लिए कर्म के प्रारम्भ होने के सम्बन्ध में एक अनोखी कल्पना की है। वह कहता है—"यह अच्छा है कि देवताओं से सम्बन्धित कल्पित कहानियों पर विश्वास किया जाये, किन्तु किस्मत का गुलाम बनना अच्छा नहीं है। उन कहानियों के अनुसार, देवताओं को प्रसन्न करके उनकी मिन्नत मानकर अपना काम तो निकाला जा सकता है। परन्तु भाग्य की परतन्त्रता को कौन टाल सकता है? इस भाग्य की परतन्त्रता से बचने के लिए इपीक्यूरस ने परमाणुओं के भीतर, एक प्रकार से भीतर ही काम करने वाली शक्ति की कल्पना की है, जो उन्हें गतिमान् बना दिया करती है। वह कहता है कि कर्म मस्तिष्क से शुरू होता है और शरीर द्वारा उसकी पूर्ति हुआ करती है। भाव से भाव और अभाव से अभाव ही हुआ करता है। इसलिए मस्तिष्क, जिससे कर्म करने की इच्छा का प्रारम्भ हुआ करता है, वह जिन परमाणुओं से बना है, उनमें भी इपीक्यूरस की कल्पित गति के अंकुर का होना आवश्यक है और इसलिए वही मस्तिष्क के निर्माता परमाणुओं की इच्छारूप गति, मस्तिष्क में कार्य के प्रारम्भ करने का कारण बन जाया करती है[१]। तात्पर्य यह है कि इपीक्यूरस, इच्छास्वातन्त्र्य के लिए अपने हृदय में मानव का भाव रखते हुए भी एक ऐसी कल्पना का शिकार बना है

१. A History of the Problem of Philosophy by Pane Jenart (English translation) p. 322 and 329.

जिससे भाग्य की गुलामी से निकलकर परमाणुओं का गुलाम बन गया है। उसकी दृष्टि में समस्त कर्मों का कारण परमाणुओं के भीतर निहित, इच्छाशक्ति ही हुआ करती है। उसने इस वाद को उपस्थित करते हुए कहीं भी यह प्रकट नहीं किया है कि परमाणुओं में इस कल्पित इच्छाशक्ति के होने का प्रमाण क्या है?

३. न्यू प्लाटनइज्म का परतन्त्रतावाद

यद्यपि प्लाटिनस के मतानुयायी इच्छा-स्वातन्त्र्य का समर्थन करते रहे हैं और भाग्यवाद को सदैव त्याज्य बतलाते रहे हैं, परन्तु अपने साम्प्रदायिक विचारानुसार जो कर्म प्रारम्भ होने की कल्पना की है, वह कल्पना एक प्रकार का परतंत्रतावाद ही है। इच्छा-स्वातन्त्र्य की संगति किस प्रकार ईश्वर और ब्रह्माण्ड के संगठन से लगाई जा सकती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्लाटिनस ने कहा है कि धर्म तो स्वतन्त्र है, परन्तु उसके अनुसार किया हुआ कर्म, ब्रह्माण्ड के नाटक के उस समष्टि में शामिल रहता है, जो इस नाटक के रचयिता के दिये हुये भागानुसार, नाटक में भाग लेने वालों में से प्रत्येक के कृत्यों से बना करती है। परन्तु इस नाटक के रचयिता का दिया हुआ भाग, होता ऐसा ही है जो प्रत्येक के लिए अधिक से अधिक अनुकूलता रखता है[१]। जब इस समस्त ब्रह्माण्डरूपी नाटक में भाग लेने वालों के कृत्य, नाटक के रचयिता के दिए हुए भागानुसार ही बना सकते हैं तो मनुष्य में कर्म-स्वातन्त्र्य कहां रहा? प्लाटिनस का यह वाद भाग्यवाद का एक परिवर्तित रूप ही कहा जा सकता है। इसमें कर्म-स्वातन्त्र्य की गन्ध भी नहीं है।

(४) स्पाईनोजा का परतन्त्रतावाद

स्पाईनोजा चेतनाद्वैतवादी था, उसके सिद्धान्त श्री शंकराचार्य जी से मिलते जुलते हैं। वह कहता है कि जगत् के समस्त कार्य ईश्वर के अनादि नियमानुकूल ठीक उसी प्रकार से होते हैं, जैसे निश्चित मर्यादा के अनुसार किसी भी त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर हुआ करते हैं। जगत् का प्रत्येक कार्य किस प्रकार होगा, ईश्वर ने सर्वज्ञता या शिवसंकल्प से नहीं किये हैं, किन्तु अपनी अनन्त शक्ति और पूर्ण सामर्थ्य से कर रखे हैं। मनुष्य अज्ञानी है और यह अज्ञान उसके स्वभाव का एक अंग है। इसी अज्ञान से अपने भीतर उन्नति की इच्छा करते हुए उस इच्छा के प्रभाव से, अपने को स्वतन्त्र समझ बैठता है।

१. Enneadas III, 1, 5.

वास्तव में जगत् के सब कार्य परतन्त्रता से होते हैं परन्तु होते अत्यन्त पूर्णता से हैं।

शंकर स्वामी मनुष्य के अज्ञान को नैमित्तिक मानते हैं, उनका कहना है कि माया के फेर में पड़ जाने से, इस अज्ञान का परदा मनुष्य पर पड़ जाया करता है। परन्तु स्पाईनोजा मनुष्य के अज्ञान को, उसके स्वभाव (Nature) का एक अंग मानता है। यदि अज्ञान स्वाभाविक है, तो स्पाईनोजा की फिलोसोफी में, मनुष्य को, दुःखों से मुक्त होने के विचार से सदा के लिए हाथ धो बैठना चाहिए। इसमें यह भी एक प्रश्न होगा कि जब आत्मा की कोई नित्य सत्ता नहीं, तो यह अज्ञान किसका स्वभाव है? क्या माया की तरह से इसे भी ईश्वर के ही गले मढ़ना पड़ेगा?

(५) होबस का यान्त्रिक जड़वाद

होबस, इच्छा-स्वातन्त्र्य को मनुष्य के मस्तिष्क से पृथक् करता है। वह कहता है कि हमारे विचार और कल्पनायें, असल में मस्तिष्क में फैली हुई एक गति के सिवा और कुछ नहीं है। वह गति मस्तिष्क में खत्म नहीं हो जाती, किन्तु हृदय तक पहुंचती है, जहां उसके लिये आवश्यक होता है कि वह जीवनरूपी गति की सहायक बने या उसके काम में बाध डाले। पहली सूरत प्रसन्नता और दूसरी सूरत दुःख का कारण होती है। वह गति, जिसके भीतर सुख और दुःख निहित होते हैं। सुखद वस्तुओं के आकर्षण करने और दुःखद वस्तुओं के हटाने के लिये याचना अथवा प्रकोपोत्तेजन का कारण बना करती है। यह याचना ही, उद्योग अथवा प्राणियों की आन्तरिक गति का सूत्रपात करती है। उस गति से जब कर्त्ता में प्रसन्नता के भाव उद्‌भूत होते हैं, तब उसे सुख की स्वाभाविक इच्छा कहते हैं, परन्तु वर्तमान दुःख की दृष्टि से वह द्वेष और भावी दुःख के लिहाज से उसे डर कहा करते हैं[१] ××× इस प्रकार उत्पन्न हुए इच्छा, भय और द्वेष हमारे कार्यों के प्रारम्भिक परन्तु निहित कारण हुआ करते हैं। ये गहरी इच्छायें ही इच्छाशक्ति हुआ करती है। ××× जिसे इरादा करके काम करना कहते हैं, वह इच्छाओं और भयों की पुनरुक्ति मात्र होती है[२]।

---

१. On Human Nature by Hobbes (Ch : VII)

२. Do (Ch : XII)

स्पष्ट है कि होबस के मत में प्रत्येक वस्तु अन्त में एक प्राकृतिक अणु की गति का ही रूप धारण कर लिया करती है, जिसका पूर्व से निश्चित होना आवश्यक है। फल इसका यह हुआ कि मनुष्य में उससे अधिक इच्छा-स्वातन्त्र्य नहीं है, जितनी एक बेसमझ पशु में होती समझी जा सकती है।

होबस के इस परतन्त्रतावाद में, इपीक्युरस की परतन्त्रतावाद सम्बन्धी कल्पनाओं की एक झलक मौजूद प्रतीत होती है।

(६) मनोवैज्ञानिक परतन्त्रतावाद

मनोविज्ञान की प्रवृत्ति यह है कि जीव को न माना जाये। उसकी ओर से कहा यह जाता है कि शारीरिक जगत् के सिवा, मानसिक संसार में हमको किसी मूलतत्त्व (जीव) के होने की पेशीनगोई नहीं करनी चाहिए। उसकी दृष्टि में अतीतात्मक कोई वस्तु असली (सत्य) नहीं है, नामरूपात्मक या अनुभवमूलक वस्तु ही सत्य हो सकती है। उसी को जानकर उसे श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार जिसको हम जानते हैं या जिसका हम वर्गीकरण कर सकते हैं, मनोविज्ञान की दृष्टि में वह जीव नहीं है अपितु उसे केवल "मानसिक आलोक" या "मनोवैज्ञानिक अहं" कहा जा सकता है। इसी वाद को डाक्टर वार्ड (Dr. Ward) ने "व्यंजक दृश्यवाद" का नाम दिया है। + + + मनोविज्ञान प्रकृतिविज्ञान ही है, इसलिये उसका क्षेत्र नामरूपात्मक जगत् ही होना चाहिए। उसकी सफलता इसी प्रकार हो सकती है कि जीवसम्बन्धी सभी कल्पनाओं को छोड़कर दृश्य जगत् का विवरण देवें। ह्यूम, लॉक और बरकले आदि महानुभाव थोड़ा-थोड़ा विचारभेद के साथ इस वाद के समर्थक हैं। लॉक के कथनानुसार हमारे अन्दर मस्तिष्क के अनेक कार्यों और शरीर की अनेक गतियों के प्रारम्भ करने, सह लेने, जारी रखने या समाप्त करने की एक शक्ति है। वह शक्ति इन कार्यों को मस्तिष्क की प्रेरणा से, जो एक से दूसरे को तरजीह देते हुए किसी काम के करने या न करने का, मानो विधान कर रही होती है। उसी शक्ति को इच्छाशक्ति कहते हैं[१]। लॉक का कहना है कि समस्त कार्य जिनका हमें ज्ञान है, विचार और गतिमूलक हैं। मनुष्य को अपने मस्तिष्क की प्रेरणानुसार विचार करने, न करने, गति देने, न देने की, जहां तक

१. On the Human Understanding by Locke Booke Book II (Ch : 21 Sec. 5)

योग्यता है, वह स्वतन्त्र है[१]। इसके बाद लॉक फिर कहता है कि स्वतन्त्रता का सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा से भी नहीं है। कल्पना करो कि एक आदमी गहरी नींद में सो रहा है। उसे बेखबरी में ही एक दूसरे कमरे में पहुंचाकर उस कमरे को बन्द कर दिया गया। उस बन्द कमरे में एक और व्यक्ति था, जिसे सोने वाला आदमी देखना और उससे बात करना भी चाहता था। जब वह (सोने वाला) जागा तो उस दूसरे व्यक्ति को दखकर खुश हो गया और बन्द कमरे से निकलने की जगह उसी में उस व्यक्ति के साथ रहना चाहता है। इस घटना का उल्लेख करते हुए, लॉक एक प्रश्न करता है कि क्या उस पुरुष (सोने वाले) का, उस बन्द कमरे में ठहरना, उसकी इच्छानुसार नहीं है? और उत्तर देते हुए कहता है कि इसमें किसी को भी संदेह नहीं होगा कि वह (सोने वाला) अपनी इच्छानुसार ही उस बन्द कमरे में ठहरना चाहता है यद्यपि उसे, उस बन्द कमरे से बाहर जाने की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है[२]। लॉक ने इस उदाहरण से परिणाम यह निकाला है कि इच्छा और स्वतन्त्रता दो पृथक्-पृथक् वस्तुएं हैं। इच्छा स्वतन्त्रता से पहले उत्पन्न होती है। स्वतन्त्रता एक शक्ति है जैसी इच्छा होती है, स्वतन्त्रता से मनुष्य वैसा ही कर्म किया करता है। लाइबनिट्ज ने भी एक जगह लिखा है कि इच्छा करने की स्वतन्त्रता एक वस्तु है और कर्म करने की स्वतन्त्रता दूसरी वस्तु है[३]।

लॉक ने उपर्युक्त तर्क उपस्थित करते हुए परिणाम यह निकाला है कि वर्तमान कर्म से सम्बन्धित समस्त प्रस्तावों के करने, न करने में, मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। क्योंकि वह इच्छा करना बन्द नहीं कर सकता और स्वतन्त्रता चाहती है कि इच्छा करे या न करे[४]। इस प्रश्न का उत्तर कि यदि मनुष्य में इच्छा-स्वातन्त्र्य नहीं है, तो वह किस प्रकार इच्छाओं को निश्चित किया करता है[५]। असुविधाओं के भण्डार में से, जो प्राकृतिक बन्धनों अथवा बनाए हुए स्वभावों ने एकत्र कर रखा है,

१. Do sec. 8
२. On the Human Understanding by Locke Booke Book II (Ch : 21 Sec. 10)
३. New Essays II (Ch : 21. sec.8)
४. On the Human Understanding by Locke Booke Book II (Ch : 21 Sec. 24)
५. A History of the Problems of Philosophy. p. 73

बारम्बार असुविधायें निकालकर मनुष्य की इच्छा को अपने साथ ले लेती है और ज्यों ही एक काम पूरा हो चुकता है। जिसे इसी प्रकार की प्रभावित इच्छा से प्रारम्भ किया गया था, दूसरी असुविधायें इच्छा को प्रभावित करके दूसरा काम शुरू करा देती हैं[१]। इतना विवरण देने के बाद लॉक कहता है कि हमारे भीतर एक शक्ति है, जिससे हम किसी खास इच्छा को रोक भी सकते हैं[२]।

लॉक ने इन्हीं (मनोवैज्ञानिक) हेतुओं से इच्छा या कर्म-स्वातन्त्र्य का विरोध किया है, लॉक के समय के मनोवैज्ञानिक और प्रचलित मनोविज्ञान में बड़ा अन्तर हो गया है, उस समय का मनोविज्ञान जड़वाद से प्रभावित था, परन्तु वर्तमान मनोविज्ञान आत्मवाद से प्रभावित है। इसलिये यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिये कि लॉक ने जिन मनोवैज्ञानिक हेतुओं से कर्म-स्वातन्त्र्य और जीव की सत्ता का निषेध किया है, वे आज प्रचलित नहीं हैं।

(७) मालब्रांश Malebranche का परतन्त्रतावाद

मालब्रांश ने अपने "अनियत कारणवाद" में समस्त कर्तृत्व का आरोप ईश्वर में ही किया है। ऐसा करते हुए भी उसने जीव की सत्ता स्वीकार की है। यही बड़ा भेद उसमें और शंकाराचार्य आदि के मतों में है। मालब्रांश ने जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हुये भी उसे (जीव को) किसी प्रकार के भी यत्न प्रारम्भ करने के अधिकार से वंचित रक्खा है। उसकी दृष्टि में किसी प्रकार भी यत्न, ईश्वरेच्छा से बाहर नहीं हो सकता। ईश्वर ही विशेष भलाई की ओर हमें ले जाता है और वही किसी विशेष भलाई का ज्ञान और उसका प्रेम हमें देता है। हमारे मस्तिष्क के कार्यों में जितनी वास्तविकता है, उसका कर्त्ता भी ईश्वर ही है। परन्तु ईश्वर पाप का कर्त्ता नहीं है। पापी कुछ नहीं करता, क्योंकि पाप कुछ नहीं है। पाप यही है कि जीव कुछ नहीं करता और बेकार रहता है, ईश्वर का अनुसरण नहीं करता। मालब्रांश ने पाप के एक ही पहलू अकर्मण्यता का उल्लेख किया है, परन्तु कर्मण्यतारूप पाप की चर्चा नहीं की। चोरी करना, डाका डालना, किसी का वध करना आदि अनेक पाप हैं जिन्हें दुष्कर्मण्यता तो कह सकते हैं, परन्तु अकर्मण्यता

१. On the Human Understanding by Locke Booke Book II (Ch : 21 Sec. 45)
२. On the Human Understanding by Locke Booke Book II (Ch : 21 Sec. 50)

नहीं। यदि जीव कुछ नहीं कर सकता तो फिर इन पापों का कर्त्ता भी तो ईश्वर को ही होना चाहिये। यही अन्धेरा पक्ष मालब्रांश की कल्पना में है जिसकी ओर उसने अधिक ध्यान नहीं दिया।

(८) जान स्टुआर्ट मिल का परतन्त्रतावाद

मिल के, परतन्त्रतावाद के अनुसार मनुष्य की इच्छा और कार्य दोनों नियत और अनिवार्य हैं, ऐसा प्रकट करते हुए इसी पक्ष का समर्थक मिल ने अपने को बतलाया है। मिल के कथनानुसार, उसके परतन्त्रतावाद का शुद्ध रूप यह है—''मनुष्य के मस्तिष्क में निमित्त पहले से मौजूद होते हैं और इसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति और चरित्र भी पहले से तैयार होते हैं।'' मिल का कथन है कि ''यदि किसी मनुष्य को ठीक-ठीक मानते हैं और उस पड़ने वाले प्रत्येक प्रभाव या प्रलोभनों का भी भलीभांति, ज्ञान रखते हैं तो मिश्रित रीति से बतलाया जा सकता है कि वह भविष्य में किस प्रकार काम करेगा।'' अस्तु, यह कहते हुए भी उसने अपने परतंत्रतावाद और भाग्यवादियों के परतन्त्रतावाद में भेद किया है। वह कहता है कि मनुष्य किसी लक्ष्यविशेष की ओर चलने के लिये, किसी शक्तिविशेष के बंधन में नहीं है, अपितु यदि वह चाहे तो किसी लक्ष्यविशेष का विरोध भी कर सकता है। वह अपने भाव को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये कहता है कि ''जब हम कहते हैं कि प्रत्येक कार्य परतन्त्रतावशात् ही होता है, तब इसका मतलब केवल इतना ही होता है कि यदि कोई रुकावट न हुई, तो वह अवश्य घटित होगा। प्राकृतिक साधन, जिन पर मनुष्यों के कर्म निर्भर होते हैं और जो अनियन्त्रित हैं उनके अनुकूल सदैव कार्य हुआ करता है। वे प्राकृतिक साधन क्या हैं और उनकी आवश्यकता या परतन्त्रता किसे कहते हैं? इनका उत्तर देने के लिये मिल ने कहा है कि ''हम शारीरिक परम्परा को आवश्यकता या परतन्त्रता कहते हैं। जैसे बिना भोजन के मरना आवश्यकता है। परन्तु यदि किसी व्यक्ति को विष दे दिया जाये तो उसके लिये हम, मौत को आवश्यक नहीं कहेंगे, क्योंकि सम्भव है कि औषधि के उपचार से विष का प्रभाव जाता रहे और वह आदमी न मरे।'' इस उदाहरण के देने के बाद मिल कहता है कि ''मनुष्य के कर्म दूसरी (विष से मृत्यु वाली) कोटि में आते हैं। वे कर्म कदापि किसी एक लक्ष्य के इस प्रकार बन्धन में नहीं होते कि उन पर किसी दूसरे लक्ष्य का प्रभाव न पड़ सके। इसलिये वे कारण (प्राकृतिक साधन),

जिन पर कर्म निर्भर होते हैं, कदापि अनियन्त्रित नहीं होते और कोई भी कार्य, यदि उसके कारण को नियन्त्रित न किया जाये तो वह अवश्य होकर रहेगा[१]।''

मिल ने अपने परतन्त्रतावाद का जो विवरण ऊपर दिया है, वह दैव (भाग्य) वाद से सर्वथा पृथक् है। मिल के परतन्त्रतावाद में कर्म-स्वातन्त्र्यवाद के लिये कुछ गुंजाइश है। एक बात, जिसकी ओर मिल अथवा इसी श्रेणी के विचारक ध्यान नहीं दिया करते, यह है कि वे जहां प्राकृतिक बन्धनों आदि पर विचार करते हैं, उसके साथ यह कभी नहीं सोचा करते कि मनुष्य के भीतर, कर्म करने के लिये, किसी स्वतन्त्र इच्छा के होने की, चाहे वह कितनी ही मात्रा में क्यों न हो, सम्भावना है या नहीं ? यदि मिल की विस्तृत सम्मति को, जो किसी दूसरी जगह, इसी ग्रन्थ में अंकित है, देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि उसके बाद में इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिये स्थान है, परन्तु उसने जी खोलकर नहीं अपितु दबे शब्दों में ही उसको स्वीकार किया है।

(९) वैज्ञानिक परतन्त्रतावाद

जड़वाद के विस्तार और आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता के न मानने से पश्चिमी देशों में, जहां विज्ञान का बोलबाला हो रहा था, वहां दूसरी ओर इच्छा वा कर्म-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध होना फैशन में दाखिल हो गया था और इसीलिये इन पश्चिमी देशों में अनेक दार्शनिक और वैज्ञानिक कर्म-स्वातंत्र्यवाद के विरोधी हुये, जिनमें से कुछेक का उल्लेख किया जा चुका है, यहां समष्टि रूप से, जो पक्ष विज्ञान के नाम से कहा जाता था और अब भी प्रायः कहा जाता है, उसका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है—

विज्ञान का पक्ष

विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य की प्रकृति, वस्तुओं की सार्वत्रिक प्रकृति का एक भाग है और मनुष्य का जीवन भी, विश्व की विस्तृत चेतना का एक अंश है। प्राकृतिक नियमों में अपवाद नहीं हुआ करता, जो अपवाद प्रतीत होते हैं, वे भ्रममात्र होते हैं और ज्ञान का प्रकाश होने पर दूर हो जाते हैं। इसी वाद के आधार पर जब मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान और भौतिक-विज्ञान का, मनुष्य की जीवन समस्या पर आक्रमण होता है, तब मनुष्य के कल्पित इच्छा-स्वातन्त्र्य का सफाया हो जाता है और उसे

१. Rech. dela verite by Malebranche Book I (English Translation)
१. System of Logic by J.S. Mill Book VI (Ch. II p. 547-549)

अपनी परतंत्रता स्वीकार करनी पड़ती है। इसी वाद का नाम वैज्ञानिक परतंत्रतावाद, नियतिवाद आदि है।

प्राकृतिक आवश्यकतावाद

प्रचलित वैज्ञानिक परतन्त्रतावाद (Determinism) के विस्तार से पहले एक परतंत्रतावाद, प्राकृतिक आवश्यकतावाद (Necessitaria-nism) के नाम से प्रचलित था। उसका सिद्धान्त यह था—"मनुष्य को बंधन में रखने वाली शक्तियां, लक्ष्य, स्वभाव और निर्मित चरित्ररूपी आंतरिक शक्तियां ही हुआ करती हैं। परन्तु इन आंतरिक शक्तियों और बाह्यजगत् में प्रचलित प्राकृतिक शक्तियों के मध्य, कोई वास्तविक असम्बद्धता नहीं है। अन्त को ये दोनों (बाह्य और आभ्यन्तर) शंक्तियां एक ही होती हैं। मनुष्य के कर्तृत्व का असली आधार भीतर की अपेक्षा बाहर अधिक है। बाह्यशक्तियां अधिक बलवती और महत्त्वपूर्ण हैं। आन्तरिक शक्तियों का समावेश उन्हीं के अन्दर है, बल्कि यों कहिये कि वे उन्हीं का अंशमात्र हैं। हम अपना स्वभाव बाह्य प्रकृति से, वंशपरम्परा के द्वारा लेते हैं और एक बार, जब प्राप्त कर लेते हैं तब अवस्थाओं के बल और शिक्षा से उसकी पुष्टि और वृद्धि करते रहते हैं। उन्हीं बाह्य प्रभावों के वशीभूत होकर, जो प्रभाव हमारे ऊपर नित्यप्रति पड़ते रहते हैं, पुनरावृत्ति के रूप में हम जो कुछ करते हैं, वही होता है। जैसे कि पशु, पौधे और यहां तक कि पत्थर भी अपने भीतर किया करते हैं। इस प्रकार के (प्रभावों से उत्पन्न) कार्य और (उन्हीं के वशीभूत होकर किये हुये हमारे) पुनः कार्य मिलकर, उन घटनाओं की पूरी शृंखला उत्पन्न करते हैं, जिनसे हमारा जीवन बनता है। इसलिये हम स्वतन्त्र नहीं हैं। किन्तु बाह्यप्रकृति की आवश्यताओं के बंधन में हैं। बाह्यप्रकृति के जो नियम हैं, वही हमारे भी हैं। बाह्यप्रकृति की जो आवश्यकतायें, हमारे जीवन से उसी प्रकार जुड़ी हुई हैं, जैसे दुलड़ी रस्सी की एक लड़ दूसरी के साथ जुड़ी होती है। यह प्राकृतिक आवश्यतावाद का संक्षिप्त विवरण है। इस आवश्यकतावाद और प्रचलित वैज्ञानिक परतंत्रतावाद में जो कुछ अंतर था, वह विकासवाद के विचारों के प्रादुर्भूत होने से दूर हो गया और इसीलिये अब इस आवश्यकतावाद का पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रहा। वह प्रचलित वैज्ञानिक परतंत्रतावाद ही एक अंग बन गया।"

विकासवाद का इस वाद पर प्रभाव

विकासवाद के प्रभाव से अब विज्ञान, अन्य विकसित पदार्थों की

तरह, मनुष्य को भी, विकास की पैदावार समझता है। मनुष्यस्वभाव को भी समझना चाहिये कि वह विकासमय है जिसमें, नित्यप्रति, विकास होता रहता है। विज्ञान की दृष्टि में मनुष्य अपने समय और अवस्था की, सन्तति और बच्चों की तरह, शक्तिहीन उनके हाथ में है। मनुष्य के जीवन और चरित्र की वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि ब्रह्माण्ड में प्रचलित, सार्वत्रिक विकास से विकसित, अन्य पदार्थों के साथ वह भी अपना स्थान ले रहा है और स्थान पर अपना प्रदर्शन कर रहा है।

विज्ञान के पक्ष का निचोड़ यह है कि विज्ञान के लाभ और उसे अपनी इच्छाओं की पूर्ति की ओर चलने देने के लिये आवश्यक है कि इच्छा–स्वातन्त्र्य का प्रत्येक अंश में, जो इन शब्दों से प्रकट हो सकते हैं, विरोध किया जाये, उसकी स्वीकारी का अर्थ विज्ञान ने मनुष्य के जीवन के जो अर्थ समझे हैं, उनसे दस्तबरदार होना है[१]।

इस परतन्त्रवाद का मूल कारण

जैसा प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि विज्ञान ने मनुष्य को भी, स्वतन्त्र, सत्ताशून्य, जीवरहित, एक यन्त्र समझ रखा है। ऐसा समझने से ही वह उसे (मनुष्य को) ब्रह्माण्ड की एक बड़ी मशीन का एक पुरजा समझता है और ऐसा समझने से ही वह (विज्ञान) समझता है कि जब मशीन हिलती है, तो कैसे सम्भव है कि उसका कोई पुरजा न हिले ? विज्ञान की सबसे बड़ी भूल यही हुई है कि उसने मनुष्य को चेतना और उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति न समझकर, उसे एक जड़यन्त्र के सदृश समझ लिया। यही कारण है कि वह उसे स्वतन्त्र सत्ता, स्वतन्त्र इच्छा और कर्मस्वातन्त्र्य से वंचित करता है। विज्ञान की वर्तमान प्रवृत्ति भी, कुछ अंश में बहुत आशाजनक नहीं है। सर जैम्स जीन आदि, कुछेक वर्तमान के प्रसिद्ध वैज्ञानिक शंकर के, अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का समर्थन करते हुए जगत् में एक ही चेतन शक्ति के होने अथवा चेतनाद्वैतवाद का ढिंढोरा पीटने की ओर प्रवृत्त–से हो रहे हैं। यद्यपि जिस परिणाम पर वे साइंस को पहुंचाना चाहते हैं, अब तक की, की गई उस (साइंस) की परिभाषाओं के अनुसार, वह (परिणाम) उसकी सीमा से बाहर और दर्शन के क्षेत्र की वस्तु है और जैसा कि जूड ने लिखा है कि इन वैज्ञानिकों को उसे दार्शनिकों के लिए ही छोड़ देना

१. A Study of Ethical Principles by James Seth Part III Ch : I (15th Edition).

चाहिए। अस्तु, जो कुछ हो, कर्मस्वातन्त्र्य और जड़ या चेतनाद्वैतवाद असल में दो किनारे की वस्तु हैं। नीचे की पंक्तियां इसे स्पष्ट करेंगी—

इच्छा-स्वातन्त्र्य और अद्वैतवाद

आचार को लक्ष्य में रखते हुए जिस इच्छा-स्वातन्त्र्य की अपेक्षा हो सकती है, उसके स्वीकार करने का फल यह होगा कि हमें उन दार्शनिकवादों से हाथ धो लेना पड़ेगा, जो जड़ या चेतनाद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। जब हम इच्छा स्वातन्त्र्य को स्वीकार करते हैं तो उसका अभिप्राय यह होता है कि हम एक ऐसे अध्यात्म-जगत् में प्रविष्ट होते हैं जो प्रकार की दृष्टि से इस प्राकृतिक जगत् से भिन्न है और इसीलिए उपयुक्त विज्ञान के सहयोग के दावे से भी, इस प्राकृतिक जगत् से भिन्न है और इसीलिए उपर्युक्त विज्ञान के सहयोग के दावे से भी, दस्तबरदार होते हैं और इसीलिए उपर्युक्त विज्ञान के सहयोग के दावे से भी दस्तबरदार होते हैं।

(२) इसका अभिप्राय यह भी है कि हम जीव के बहुत्व[१] को स्वीकार करके चेतनाद्वैतवाद को भी रद्द करते हैं। प्रो० जैम्स ने भी यह कहकर कि "स्वतन्त्र सत्तामय व्यक्तिगत के स्वीकार करने से हम प्रत्येक प्रकार के अद्वैतवादों से पृथक् होकर, अनेकतावाद के जगत् में प्रविष्ट होते हैं।" इसकी पुष्टि की है।

(३) इस (इच्छा-स्वातन्त्र्य) के स्वीकार करने से यह भी आवश्यक होगा कि नेकी के साथ बदी की सत्ता को भी स्वीकार किया जाये।

(४) यह भी समझ लेना चाहिए कि इच्छा-स्वातन्त्र्य की स्वीकारी का अर्थ, जीव की स्वतन्त्र सत्ता के स्वीकार करने के भी हैं।

सर आर्थर इण्डिगटन और विज्ञान का पक्ष

जहां कुछेक वैज्ञानिक, उपर्युक्त भांति परतन्त्रतावाद को विज्ञान का पक्ष होने की घोषणा कर रहे हैं, वहां सर आर्थर इडिंगटन विज्ञान को इच्छा-स्वातन्त्र्य का समर्थक प्रकट कर रहे हैं। इडिंगटन का कहना है कि "जहां तक प्राकृतिक जगत् का सम्बन्ध है, उसमें हमें अणुमात्र भी परतन्त्रतावाद का चिह्न नहीं दिखाई देता इसलिए अब इच्छा-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में, सन्देह करने की कोई बात नहीं है[२]।"

---

१. पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥ (सांख्यदर्शन ६.४५) अर्थात् जीव अनेक हैं, क्योंकि प्रति शरीर में उनकी पृथक्-पृथक् व्यवस्था देखी जाती है।

२. Leader, Allahabad, 29/12/1930.

छठा अध्याय

आचारिक और धार्मिक विश्वास का पक्ष

इससे पहले अध्याय में परतन्त्रतावाद के अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख हो चुका है, जिससे पाठक उस वाद के अनेक और विभिन्न पहलुओं से वाकिफ़ हुए हैं। अन्त में विज्ञान की परतन्त्रताप्रदर्शक युक्तियों को, इसलिए रखा गया है, क्योंकि वह किसी व्यक्तिविशेष का मत नहीं, अपितु वैज्ञानिकों के सम्प्रदाय में से अधिकांश का मत समष्टिरूप से था। परन्तु वर्तमान विज्ञान की ऐसी अवस्था नहीं है। अनेक वैज्ञानिक स्वतन्त्रता के भी पोषक हैं। अस्तु—अब इस अध्याय में विज्ञान के सर्वथा विरुद्ध आचार और धर्म के आधार पर कर्मस्वातन्त्र्य का पक्ष उपस्थित किया जाता है, जिससे पाठकों को दोनों पक्षों को लक्ष्य में रखते हुये सम्मति बनाने का अच्छा अवसर प्राप्त हो।

कांट की प्रसिद्ध कहावत कि इच्छा-स्वातन्त्र्य आचार की बुनियाद है, आज तक बराबर स्वीकार की जाती रही है। वैज्ञानिक परतन्त्रतावाद के स्वीकार करने से, आचारिक जीवन नष्ट हो जाता है। परतन्त्रतावादी हजार यत्न करें कि प्राकृतिक आवश्यकता के आधार पर परतन्त्रतावाद की सहायता से नाममात्र का कोई उपचार स्थापित करें। परन्तु यह यत्न अवश्य असफल होगा, असफल होगा।

सदाचारी पुरुषों का जीता जागता अनुभव है कि प्रायश्चित्त, प्रतिफल, पाप की स्वीकारी और इनाम, उसके जीवन के समस्त कष्ट, अपमान, प्रसन्नता और श्रेष्ठता के लिए इनका पूरा न करना, उसकी अपनी इच्छा ही पर निर्भर होता है। अवश्य उसके अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति, एक अंश तक, एक दूसरी शक्ति (ईश्वर) की सहायता से होती है। मनुष्य जब तक अपनी मनुष्यता न खो दे, अपने स्थिर कर्तव्य के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए यह अपनी स्वतन्त्रता भी नहीं छोड़ सकता और न यह चाह सकता है कि प्रकृति के हाथ की कठपुतली बन जाये। अपने आचारिक अनुभव के आधार से उसके अन्दर यह विचार अनादिकाल से बना चला आता है कि वह जड़ प्रकृति से असीम श्रेष्ठता रखता है। प्रकृति उसका कुछ नहीं कर सकती, परन्तु वह प्राकृतिक आवश्यकताओं में भेद कर सकता है। उसकी दृष्टि में

प्राकृतिक आवश्यकता (परतन्त्रता) वादी पशुओं का सा स्वाभाविक जीवन व्यतीत कर रहा है। ऐसा जीवन नहीं व्यतीत कर रहा है, जिसे एक अच्छे सदाचारी पुरुष का जीवन कह सकें। स्वतन्त्रता पर विश्वास रखने से मनुष्य का जीवन सदाचारप्रिय बना रहता है। उसके अन्दर उत्तरदायित्व और कृतज्ञता के भाव निहित रहते हैं।

आचारिक जीवन इच्छा-स्वातन्त्र्य पर निर्भर है ?

कांट की उपर्युक्त कहावत का समर्थन हेसटिंग्स राशडाल ने इस प्रकार किया है कि जब तक इच्छा-स्वातन्त्र्य न हो, आचार की सत्ता का विचार भी नहीं किया जा सकता। इसलिए राशडाल का कहना है कि यह आवश्यक है कि जगत्-सम्बन्धी विचार इस प्रकार के हों जिससे व्यक्तियों के कर्म, असली अर्थों में स्वतन्त्रता के साथ उन्हीं के किये हुए कहे और समझे जा सकें।

एक साधारण व्यक्ति इच्छा-स्वातन्त्र्य को क्या समझता है ?

एक साधारण व्यक्ति इच्छा-स्वातन्त्र्य के लिए अभ्यासवश कल्पना करता है कि उसके कर्म किन्हीं पूर्वकर्मों या अन्य किन्हीं घटनाओं का फल नहीं हैं, जो जगत् में उन कर्मों के करने से पूर्व, घटित हो चुकी हैं। वह यह भी समझता है कि उसके इससे पहले किये कर्मों के ज्ञान अथवा उसके पूर्व चरित्र की जानकारी अथवा उसके जन्मसिद्ध चरित्र-ज्ञान के आधार पर, जिसमें उसके किए हुए कर्मों से बहुत-सा फेरफार हो गया है। न तो स्वयं कर्त्ता, न कोई व्यक्ति, निश्चय के साथ यह पेशीनगोई कर सकता है कि वह (कर्त्ता), भविष्य में, उस समय की परिस्थिति में, किस प्रकार से कौन-सा काम करेगा ? यदि वह (कर्त्ता) व्यक्ति, अपने पहले किये हुए पापों पर दृष्टि डालता है, तो वह सोचता है कि उसे वे नहीं करने चाहिएं थे। उसका परिणाम यह होता है कि वह भविष्य में उस प्रकार के पाप करने से बचता है।

कुछ परवाह नहीं कि वह (कर्त्ता) व्यक्ति क्या था ? उसने पहले क्या किया था ? इसकी भी कुछ परवाह नहीं की कि किस प्रकार संस्कार और वासनायें और किस प्रकार का चरित्र, वह इस संसार में जन्म समय साथ लाया था और भी अन्य अवस्थायें उस समय तक, सबकी सब, ज्यों की त्यों बाकी रहें तब भी, कर्त्ता के कर्म (बिना उसके किए) बिना किये हुये बाकी रहेंगे। बिना उसकी इच्छा के वे कर्म उसके द्वारा किये भी न जा सकेंगे। और उस साधारण व्यक्ति के हृदय में दृढ़ता

के साथ यह विचार बना रहेगा कि जो कर्म अनेक प्रकार के कर्मों में से छांटकर अपनी इच्छा से उसने किये हैं, वे पूर्व निश्चित नहीं थे और यह भी कि कोई भी उन कर्मों के भूत और वर्तमान पर ध्यान देकर पेशीनगोई नहीं कर सकता।

क्या कोई किसी के भावी कर्म की पेशीनगोई कर सकता है?

परतन्त्रतावादियों के आगामी कर्म की पेशीनगोई किये जाने के दावे पर विचार करते हुए राशडाल ने उत्तर दिया कि कोई भी मनोविज्ञान और समाजशास्त्र का मर्मज्ञ मनुष्य, मनुष्य के पिछले या वर्तमान कर्मों के आधार से, उसके भावीचरित्र की पेशीनगोई नहीं कर सकता। राशडाल कहता है कि चरित्र का सम्बन्ध, नाड़ीगुच्छक और मस्तिष्क से है और इसलिए किसी व्यक्ति के भूतकाल के चरित्र से, उसके आगामी चरित्र का यथावत् विवरण नहीं दिया जा सकता। चरित्र में सदैव अविकसित सम्भावनायें सम्मिलित हुआ करती हैं, किसी नई उत्तेजना के प्राप्त होने पर, किसी नई योग्यता के विकास अथवा किसी विकसित योग्यता के पुनर्विकास के रूप में, जो परिवर्तन उत्तरचरित्र में हो जाया करता है, उसका यथार्थ विवरण बीते हुए चरित्र के आधार पर से नहीं दिया जा सकता[१]। वह कहता है कि यह बिल्कुल सम्भव है कि एक आदमी का चरित्र ऐसा हो कि विशेष उत्तेजना प्राप्त होने पर वह ९९ बार एक ही प्रकार के काम करे, परन्तु सौवीं बार बिल्कुल दूसरे प्रकार का। यह भी सम्भव है कि एक पुरुष की बनावट ऐसी हो कि एक हजार बार सुने हुए सरमनों का, उस पर कुछ भी असर न हो, परन्तु एक हजार एकवीं बार उस पर इतना प्रभाव पड़े कि उसका सारा जीवन उलट-पलट हो जाये। इन सब बातों पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि उत्तर-चरित्र की पेशीनगोई करने की बात स्वीकर्त्तव्य नहीं है।

मनुष्य की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां क्यों होती हैं?

यदि मनुष्य इच्छा-स्वातन्त्र्य से वंचित है और केवल एक यन्त्र की ही तरह उसके भीतर काम हुआ करता है, तो फिर सबकी प्रवृत्ति एक ही जैसी होनी चाहिए, उनमें भिन्नता क्यों पाई जाती है? परतन्त्रतावादी इसका उत्तर यह देते हैं कि मनुष्य के भीतर अनेक प्रवृत्तियां होती हैं, उनमें जो सबसे अधिक बलवती होती है, उसी के अनुसार वह काम किया करता है। इस पर हमारा प्रश्न यह है कि वे क्या हेतु हैं जिनसे,

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 302-304.

एक व्यक्ति की एक खास इच्छा (प्रवृत्ति) दूसरे व्यक्ति की उसी प्रकार की इच्छा से अधिक बलवती हो जाती है? परतन्त्रतावादी इसका उत्तर यह देता है कि वे कारण, जिनसे मनुष्य में इच्छा या प्रवृत्तिभेद हो जाता है अथवा कोई इच्छा विशेष बलवती हो जाती है, मनुष्य के भीतर होते हैं और उनका प्रारम्भ, जन्मसिद्ध प्रकृति के रूप में होकर, उनमें परिवर्तन होते रहते हैं। कर्म करते समय, वह जिस परिवर्तितरूप में हो जाती है, वही बलवती इच्छा या प्रवृत्ति कही जाती है और वही कर्म का कारण हो जाया करती है। परन्तु प्रश्न यह है कि वे भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तन भिन्न-भिन्न मनुष्यों में क्यों होते हैं? जब सभी मनुष्य परतन्त्रतावादानुसार एक ही प्रकार के यन्त्र हैं? यहां परतन्त्रतावाद चुप हो जाता है। असल में वे कारण भिन्न-भिन्न मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के उनकी जन्मसिद्ध प्रकृति और उनमें मौजूद इच्छा-स्वातन्त्र्य के सम्मिश्रण से, कर्म करते समय कर्म कारण रूप में उत्पन्न हो जाया करते हैं और उनकी भिन्नता का कारण उपर्युक्त प्रकृति और इच्छा-स्वातन्त्र्य की भिन्नता होती है। इच्छा-स्वातन्त्र्य की भिन्नता का कारण भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र सत्तावान् जीवात्माओं का होना होता है।

क्या समय मनुष्य की परतन्त्रता का कारण है?

कुछेक पुराने ढांचे के सज्जनों का विचार है कि मनुष्य कर्मस्वातन्त्र्य नहीं रखता। वह समय के बन्धन में होता है। समय उससे जैसा चाहता है कर्म कराता है। अधिकतर मनुष्यों की प्रकृति ऐसी देखी जाती है कि वे अच्छे कर्म का उत्तरदायित्व तो प्रसन्नता से लेने को तैयार हो जाते हैं और इस अंश में वे मनुष्य को इच्छा-स्वातन्त्र्य व कर्मस्वातन्त्र्यवान् भी मानने को उद्यत हो जाते हैं। परन्तु जब बुरे कर्मों का, जो उनके द्वारा हुये हैं और जिससे उनका अथवा अन्यों का अनिष्ट हुआ है, प्रश्न आता है, तो उसका उत्तरदायित्व अपने जिम्मे न लेकर किसी न किसी के शिर मंढना चाहते हैं। भाग्यवाद आदि, इस प्रकार के अनेक वादों की सृष्टि, मनुष्य की इसी निर्बलता का परिणाम प्रतीत होती है। भाग्यवाद आदि की तरह, यह समयवाद भी है, जिसमें प्राय: कई कर्मों का उत्तरदायित्व समय के शिर मढ़ा जाया करता है। कोई कहता है कि कलियुग ने उनसे ऐसी बुराई करादी, कोई जमानों को कोसता है, कोई काल के बलवान् होने की फ़रयाद करता है। अस्तु, किसी न किसी प्रकार से मनुष्य अपने दुष्कृत्य से अपने को बचाने के लिए इस प्रकार की बात गढ़ा करता है।

विद्वानों ने इस (समय) वाद की परख की और उनकी परख का फल यह है कि उन्होंने इस वाद को निस्सार पाया। उस परख का कुछ विवरण यहां दिया जाता है—

(१) महाभारत के शान्तिपर्व के एक भाग में युधिष्ठिर के किये प्रश्नों तथा भीष्मपितामह के दिये, उन प्रश्नों के उत्तरों का उल्लेख है। उन प्रश्नों में से एक प्रश्न का जो इस वाद से सम्बन्धित है, हम यहां जिक्र करते हैं। युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्मपितामह ने उत्तर देते हुये कहा था, कि "तुम (युधिष्ठिर) को जो यह सन्देह है कि समय, जिस प्रकार का चाहे मनुष्य को बना देता है अथवा मनुष्य के अधिकार में है कि जिस प्रकार का चाहे समय को बना लेवे, तो वे (भीष्म) कहते हैं कि मनुष्य ही के अधिकार में है कि जिस प्रकार का चाहे समय को बना लेवे समय कुछ नहीं कर सकता[१]।"

(२) शुक्राचार्य जी ने अपनी प्रसिद्ध 'शुक्र-नीति' में इस वाद पर दो जगह विचार किया है। एक जगह उन्होंने लिखा है कि "यदि तुम काल के जिम्मे ही कर्म का उत्तरदायित्व रखते हो, तो फिर कर्म के कर्त्ता से झगड़ा क्यों करना चाहिये। मतलब यह है कि यदि एक व्यक्ति ने किसी की घड़ी चुरा ली, तो शुक्राचार्य का कथन है कि तुम उस चोर से किसी प्रकार की पूछताछ, लानत मलामत न करके समय से झगड़ा करो जिसने उस व्यक्ति को विवश करके, उसे चोरी करने के लिए बाधित किया। समय के विरुद्ध ही जाकर चोरी की रिपोर्ट पुलिस में लिखाओ, उसी (समय) पर चोरी का अभियोग चलाओ। भाव इसका स्पष्ट है कि समयवाद के मानने से फिर दुनिया में कोई पापकर्ता नहीं रह सकता[२]।" फिर दूसरी जगह उसी नीति में लिखा है कि "वे व्यक्ति, जो चरित्रवान् हैं और अन्यों को चरित्रवान् बनाने की प्रेरणा किया करते हैं, समय के बनाने वाले हुआ करते हैं अर्थात् उनके अधिकार में होता है कि जिस प्रकार चाहें समय को बना लेवें[३]।"

(३) एक अंग्रेज विद्वान् "एलेकजेण्डर गून" ने एक पुस्तक इसी समयवाद की समस्या पर लिखी है और उसमें इस वाद के अनेक

---

१. कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्य कारणम्॥ (महाभारत शान्तिपर्व)
२. यदि कालः कारणं हि कस्मात् धर्मोस्ति कर्तृषु॥ (शुक्रनीति)
३. आचारप्रेरको राजा ह्येतत् कालस्य कारणम्॥ (शुक्रनीति)

पहलुओं पर विचार करते हुये उसने अपनी सम्मति अन्त में यह दी है कि "समय घटनाओं का रचयिता नहीं होता किन्तु घटनाओं के घटित होने से उसकी प्रसिद्धि होती है[१]।" गून महाशय के भाव स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया जाता है—सन् १८५७ ई० में गदर हुआ था। क्या गदर इस वर्ष (१८५७ ई०) ने कर दिया? गून कहता है, कदापि नहीं। इस वर्ष गदर हुआ था और वह सिपाहियों ने किया था, इसलिये यह सन् "गदर के सन्" के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

(४) अथर्ववेद में एक जगह समय के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा हुआ है—"(यह काल) हजारों आंखों वाला और बहु शक्तिसम्पन्न है। समस्त संसार इसके चक्र में है। उस (काल) पर ज्ञानी पुरुष चढ़ा करते हैं[२]।" अर्थात् ज्ञानवान् पुरुषों का अधिकार होता है, जैसा कि शुक्राचार्य ने कहा है कि समय को जिस प्रकार का चाहें बना लेवें।

उपर्युक्त विवरण प्रकट करता है कि समयवाद, भाग्यवाद आदि वादों की तरह सारहीन है और समय का अधिकार नहीं कि मनुष्य की स्वतन्त्रता खो सके।

---

१. Problem of time by Alexander Gunne गून महाशय के शब्द ये हैं—
"Time is not the Creator of events, but by them Created."

२. सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥ (अथर्ववेद १८.५३.१)

सातवां अध्याय
ईश्वर की त्रिकालज्ञता

क्या ईश्वर की त्रिकालज्ञता मनुष्य की परतन्त्रता का कारण है?

परतन्त्रता के कथित अनेक कारणों में से एक कारण ईश्वर की त्रिकालज्ञता भी प्रकट की जाती है। कहा यह जाता है कि ईश्वर सर्वज्ञ होने से तीनों कालों की बातें जानता है और हम जो भविष्य में करने वाले हैं, वह सब भी उसके ज्ञान में पहले से मौजूद हैं। जब हमारे कर्म करने से पूर्व ही ईश्वर जानता है कि हम क्या करेंगे और उसका ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता, तो फिर हम तो विवश हुये न कि जैसा वह चाहता है वैसा ही करें, फिर इच्छा या कर्मस्वातन्त्र्य कहां रहा? यह प्रश्न चिरकाल से विद्वानों के विचार की कोटि में रहा और अब भी है। हमारे विचार में, इसका जो कुछ समाधान है, उसको प्रकट करने से पहले यत्न किया जायेगा कि समय-समय पर विद्वानों के किये हुये विचारों का निष्कर्ष पाठकों के सन्मुख रख दिया जाये जिससे उन्हें अपने लिये कोई परिणाम निकालने में सुगमता हो।

(१) **स्टोइक्स**—स्टोइक्स ने ईश्वर की सर्वज्ञता की रक्षा की धुन में इच्छा-स्वातन्त्र्य को ही उड़ा दिया था।

(२) **लैम्बलीचस**—लैम्बलीचस ने प्रकट किया कि जो बातें अनिश्चित और संदिग्ध हैं, ईश्वर उन्हें भी निश्चित रूप से जानता है क्योंकि वह त्रिकालज्ञ है।

(३) **सेंट आगस्टिन**—जो कुछ भविष्य में होने वाला है, ईश्वर को उसका ज्ञान पहले से किस प्रकार हो सकता है? आगस्टिन, योग के आचार्य पतंजलि का अनुकरण करते हुये कहता है कि ईश्वर के लिये भूत और भविष्यत्काल कुछ नहीं, उसका एक ही वर्तमान काल है। "कदापि नहीं", "पहले", "उस समय", इन शब्दों का, ईश्वर के दिव्य जीवन में कोई महत्त्व नहीं है। ईश्वर दोनों (भूत+वर्तमान) को एक साथ देखता है और ब्रह्माण्ड की प्रत्येक गोचर वस्तु का रचयिता है, जो अपने-अपने समय पर प्रकट होती रहती है। कोई अनिश्चित काम संसार में नहीं हुआ करता, क्योंकि ईश्वर उन्हें पहले से देख लेता है और ईश्वर उन्हें देख लेता है कि वे होने वाले होते हैं।

(४) **एक्यूनस**—ईश्वर की त्रिकालज्ञता से सम्बन्धित सेंट आगस्टिन के विचारों का, संशोधन करता हुआ, एक्यूनस अपनी सम्मति इस प्रकार देता है—"ईश्वर जो कुछ जानता है, वह अवश्यम्भावी है और जो कुछ हम जानते हैं, वह भी अवश्य होना है। परन्तु ईश्वर का ज्ञान, हमारे ज्ञान की अपेक्षा, अधिक निश्चित है। ऐसा होने पर भी, कोई बात जो अचानक हो जाया करती है, उसके लिये पहले से यह नहीं कह सकते कि अवश्य होगी। इसलिए ऐसी बातें ईश्वर के ज्ञान में भी नहीं होती।" एक्यूनस फिर कहता है कि—"वह (ईश्वर) नित्य है और उसका नित्यत्व भी नित्य है। जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमानकालीन सभी वस्तुयें और घटनायें चाहे वे नियमानुकूल हुई या अचानक घटित हो गई, ईश्वर को उसका ज्ञान है। उसके साथ ही भविष्य की उन बातों का भी, उसे ज्ञान है, जिसके तात्कालिक कारण, अपना काम, पूरा कर चुके हैं और ईश्वर के ज्ञान में हैं। × × × ईश्वर इच्छा करता है और पहले से हमारे समस्त कृत्यों को जान लेता है और स्वाभाविक रीति से, पूर्व से, हमें प्रेरणा हो जाती है। इस प्रकार हमारे कृत्य, ईश्वर के द्वारा पूर्व से निश्चित हो जाते हैं, परन्तु साथ ही यह भी निश्चय हो जाता है कि उन्हें हम स्वतन्त्रता के साथ एक खास ढंग से करेंगे।"

(५) **डंस स्कौटस**—"ईश्वर के विचार में ऐसी बातें नहीं रहा करती, जिन्हें भाग्य की तरह किये जाने के लिये मनुष्य को बाधित किया जा सके।"

(६) **वोसूट**—"हमारे स्वतन्त्रता से किये कर्मों को, वह (ईश्वर) पहले से नहीं जानता और इन कार्यों को जब हम करेंगे तब भी वह उन्हें नहीं देखेगा।"

मनुष्य का इच्छा-स्वातन्त्र्य भी बना रहे और ईश्वर की त्रिकालज्ञता में भी भेद न आये, इसके लिये वोसूट ने चार सूरतें पेश की हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

पहली सूरत—"जो काम मनुष्य इरादे से करे, उसे इच्छा-स्वातन्त्र्यगत समझना चाहिये। वोसूट अपना भाव जो उपर्युक्त कथन से था, इस प्रकार स्पष्ट करता है—

पहला पाप (आदम के फल खाने रूप) करने से पहले मनुष्य कर्म करने में पूरे स्वतन्त्र थे, परन्तु जब उसने पहला पाप कर डाला, तब

ईश्वर ने अपनी पूर्णता से सब कार्यों को, इस प्रकार व्यवस्थित किया जिससे वे हमारी इच्छा पर निर्भर रहें और अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से, इस प्रकार का हमको बना देता है, जिससे हमारी इच्छा वही हो, जिससे वह (ईश्वर) प्रसन्न हो।''

वोसूट के मत में, इस प्रकार समझने से ईश्वर की त्रिकालज्ञता और हमारे अपने कर्मों के उत्तरदायित्व में, कोई असंगति नहीं रह जाती, परन्तु वह इस बात को भूल जाता है कि पहला पाप होने से पहले, उस (ईश्वर) में त्रिकालज्ञता नहीं थी और उसके बाद मनुष्यों में स्वतन्त्रता नहीं रही।

दूसरी सूरत—सोलहवीं सदी में जेसूट मौलिना ने, एक निबन्ध में स्वतन्त्रता का ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ, अविरोध प्रदर्शन करते हुये लिखा था कि ''ईश्वरीय ज्ञान के तीन उद्देश्य हैं—(१) सम्भवनीय घटनाओं का प्रकट करना, (२) घटित घटनाओं का विवरण देना, (३) सोपाधिक घटनाओं का खोलना। सं० ३ में वर्णित घटनाओं का स्थान, सं० १ और २ के मध्य में है। मौलाना कहता है कि ईश्वर अनादिकाल से जानता है कि उसके उत्पन्न किये हुये प्राणी, स्वतन्त्रता से करेंगे? ईश्वर अनादिकाल से जानता है कि उसके उत्पन्न किये हुये प्राणी, स्वतन्त्रता से क्या करेंगे? ईश्वर के इस ज्ञान से मनुष्य की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं पहुंचती + + + ईश्वर प्राणियों की इस बात को लक्ष्य में रखते हुये कि वे प्राप्त स्वतन्त्रता से, किस-किस समय क्या-क्या करेंगे? अपने आदेशों को मर्यादित किया करता है। वह प्रतीक्षा करता हुआ देखता है कि हमारी इच्छाओं का रुख किधर है और इसके जानने के बाद अपने आदेशों को हमारे निश्चयों के सम्बन्ध में निश्चित करता है।'' वोसूट, उपर्युक्त तर्क देने के बाद उस पर आक्षेप यह करता है कि इस वाद के अनुसार ईश्वर के आदेश वस्तुओं के आदिकारण नहीं हो सकते। परन्तु वोसूट ने यह नहीं विचारा कि किस प्रकार स्वतन्त्रता से किया हुआ कोई अचानक कर्म अनादिकाल से ईश्वर के ज्ञान में आ सकता है?

तीसरी सूरत—तीसरा समाधान यह है कि ईश्वर हमको विशेष कार्यों की ओर खींच लेता है—(क) विषयों की तरतीब और उन परिस्थितियों के द्वारा, जिनमें उस (ईश्वर) ने हमको रक्खा है। (ख) उन विचारों के द्वारा, जिन्हें उसने हमारे मस्तिष्कों में भर दिया है।

(ग) उन आवेगों के द्वारा जिन्हें वह हमारे हृदयों में उत्पन्न करता रहता है। अस्तु, ऐसी कोई भी बात नहीं है जिसे वह (ईश्वर) अपने मंसूबों के द्वारा करने में अपनी सर्वशक्तिमत्ता से काम में न ला सकता हो। इसलिये यदि वह चाहे कि हमारी इच्छा-शक्ति पर अधिकार प्राप्त करले और साथ ही हमें स्वतंत्र भी रक्खे तो ये दोनों काम एक साथ करने में वह समर्थ है।

चौथी सूरत—इसे थौमिस्ट[१] लोगों ने उपस्थित किया था जिसे "पूर्वनिश्चयवाद[२]" कहते हैं। वाद का रूप यह है कि ईश्वर हमारे मस्तिष्क पर, तत्काल इस प्रकार का काम करता है, जिससे हम कोई काम विशेष (ईश्वरेच्छित) रीति से करना स्थिर कर लेते हैं, परन्तु वह हमारा स्थिरीकरण स्वतन्त्रतापूर्ण ही रहता है[३]।

(७) **जेम्स वार्ड**—जेम्स वार्ड कहता है कि आस्तिकवाद के प्रकाश में त्रिकालज्ञता के सम्बन्ध में जो तर्कसिद्ध विचार है, वह यह है—"ईश्वर प्रत्येक घटना के घटित होने की आज्ञा देता है, जिसमें कर्ता की इच्छा भी शामिल होती है और ऐसे निर्णायक निश्चय से, आज्ञा देता है, जिससे स्पष्ट हो जाये कि बिना किसी किन्तु-परन्तु की घटनायें उसके निर्णीतव्य में सम्मिलित हैं।"

(८) **जोनाथन एडवार्ड**—एडवार्ड का कहना है कि "संसार का सब कुछ पूर्ण रीति से अनादिकाल से ईश्वर के ज्ञान में है। इसलिये उसके (जगत्-सम्बन्धी) आकार प्रकार और उद्देश्य ऐसी चीजें नहीं हैं, जो नई बनी हों या जिनकी बुनियाद किसी नये ज्ञान पर अवलम्बित हो, बल्कि सभी नित्य बने रहने वाले उद्देश्य के लिये हैं।" यदि सब कुछ एडवार्ड के मतानुसार नियत हैं तो फिर ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ मनुष्य के कर्म-स्वतन्त्र्य की संगति लगाने का प्रश्न ही बाकी नहीं रहता।

(९) **मारकस डाड प्रोफेसर स्काटलेंड**—जोनाथन एडवार्ड के मत पर विचार करते हुए डाड ने लिखा है, इस प्रकार से यदि ईश्वर इस सब (जगत्) का असली कारण है, तो जगत् के लिये कह देना पड़ेगा कि वह स्वयं ईश्वर का विकसित रूपमात्र है, न कोई

१. A follower of the Scholastic Philosophy of Thomas Aquinos.
२. The Doctrine of Premonition or Physical Predetermination.
३. Treatise by Bofsuat (Ch : III, VII and IX.)

जगत् की उत्पत्ति बाकी रहती है और न किसी अन्य (व्यक्ति) की इच्छा, ईश्वरेच्छा के सिवा बाकी रहती है, जिसके अनुकूल कोई कर्म हुआ हो।'' डाड कहता है कि लोज़े ने ठीक कहा है—''घटनाओं के वास्तविक रूप में घटित होने से कोई नई चीज प्रकट होनी चाहिये, जो पहले नहीं थीं और यह कि इतिहास जगत् की नियमबद्धता के साथ उत्पन्न होने के वर्णन के साथ कुछ और भी होना चाहिये।'' डाड ने, लोजे के इस मत के सम्बन्ध में लिखा है कि ''यह मतालिवा ऐसा है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इस मतालिवे के पूरा करने से उपेक्षा की दशा में जगत् न केवल विचार के अयोग्य और व्याघात दोषपूर्ण होगा, बल्कि निरर्थक और अविश्वसनीय भी ठहरेगा।''

(१०) **ओरिज़न**—ओरिज़न ने त्रिकालज्ञता के सम्बन्ध में, अपनी सम्मति दी है कि ''ईश्वर की सर्वज्ञता, भविष्य में घटित घटनाओं का कारण नहीं बल्कि उन (घटनाओं) की भावी सत्ता, ईश्वर की सर्वज्ञता का कारण है कि वह क्या होगी ?'' ओरिज़न (Origen) के शब्द अंग्रेजी में इस प्रकार हैं—"God's prescieece is not the cause of things future, but their being future is the cause-of Gos's prescience that they will be."

(११) **प्रो० रीड**—प्रोफेसर रीड ने ईश्वर की त्रिकालज्ञता की संगति, इच्छा-स्वातन्त्र्य के साथ लगाने के लिये भविष्य के ज्ञान का भूतकालिक स्मृति के साथ मुकाबिला किया है। उसने क्रियात्मक रूप में मान लिया है कि भूतकालिक स्मृति वही है जो एक बार भविष्य की ओर भावी स्मृति थी।

(१२) **हमलिटन**—रीड के उपर्युक्त मत पर विचार करते हुये उसके शिष्य हमिलटन ने लिखा है कि भूतकाल आवश्यक है, यदि ईश्वर का भविष्यज्ञान हमारी स्मृति से मिलता है, तो इसका कारण यह है कि उस (ईश्वर) के लिये भूत और भविष्यत् दोनों एक जैसे हैं। न तो भूत ही कोई अचानक घटना है और न भविष्य ही ऐसा है[१]।

(१३) **त्रिकालज्ञता के एक अन्य प्रकार का समर्थन**—एक और सुगम तरीके से त्रिकालज्ञता का समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि ''यह प्रश्न, हमारी समझ और अनुभव से बाहर है।'' हमिलटन ने इस विचार को इस रूप में रक्खा है कि ''यह विषय समझने का नहीं

१. The Works of Thomas Reid (Hamilton's Edition) p. 631.

अपितु विश्वास करने का है।'' हमिलटन की सम्मति में वे समस्त प्रयत्न, जो विद्वानों ने इस प्रश्न की संगति लगाने में किये हैं, निरर्थक और रद्द कर देने के योग्य है[१]।

(१४) **प्रो० राइस**—राइस का कथन है कि भविष्यज्ञान, ईश्वर को केवल उन्हीं बातों का होना संभव है, जो साधारण हैं या किसी ज्ञात कारण का निश्चित कार्य हैं। जो कार्य, कर्त्ता द्वारा स्वतन्त्रता से किये जाते हैं, उनका पहले से ज्ञान, न तो किसी मनुष्य को ही हो सकता है और न ईश्वर को ही[२]।

(१५) **त्रिकालज्ञता की दृष्टि से ईश्वर के दो भेद**—ब्रेडले कहता है कि पूर्णकुल (The Absolute) सब प्रकार से, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होना चाहिये परन्तु ईश्वर, जिसकी सत्ता, उस (पूर्णकुल) से स्वतन्त्र है, वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता। तात्पर्य इसका यह है कि मनुष्य के कर्मफलादि का सम्बन्ध, पूर्णकुल से नहीं अपितु ईश्वर से है, जो सर्वज्ञ नहीं, इसलिये त्रिकालज्ञता का प्रश्न यहीं समाप्त हो जाता है। जेम्स वार्ड ने ब्रेडले के इस कथन को उचित रीति से, उस कुत्ते का-सा प्रयत्न समझा है, जो दो स्वामियों के साथ चलना चाहता है[३]।

(१६) **मार्टीन्यू**—कहता है कि इस बन्धन वाले यांत्रिक जगत् में, बन्दी बनाने के स्थान में, मनुष्य को स्वतन्त्रता दी गई है कि वह उससे काम लेकर कर्म करे।

प्रश्न—क्या यह ईश्वर के भविष्यज्ञान की सीमाबद्धता नहीं कि वह उन समस्त इच्छाओं और कर्मों का ज्ञान नहीं रखता, जो मनुष्य द्वारा भविष्य में करने वाले हुआ करते हैं।

उत्तर—सीमाबद्धता तो है, परन्तु यह स्वयमेव ईश्वर की ही उत्पन्न की हुई है कि उसने अपने कर्मप्रेरकत्व का एक भाग, हम को दिया है और उसे वह अपनी सर्वज्ञता से आच्छादित नहीं करता।

(१७) **डूगैल्ड स्टैवार्ट (Dugald Stewart)**—स्टेवार्ट ने मार्टीन्यू के उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हुए प्रकट किया है कि यदि ईश्वर ने उत्तमोद्देश्य से पसन्द किया है कि अपनी प्रजा के लिये

---

१. The Pluralism by James Wards p. 311 and 312.
२. The World and Individual by Prof. Royce Vol. II p. 374.
३. Cof Lecture by Bradley II p. 44.

कर्मस्वातन्त्र्य का द्वार खोल दे और उसे अपनी सर्वज्ञता का क्षेत्र न बनावे तो इसमें कुछ भी अनर्गलपन नहीं है।

(१८) **जोवेट**—ईश्वर यद्यपि सब कुछ है, परन्तु इस सब कुछ में यह शामिल नहीं है कि वह प्राणियों को प्रदान किये हुये कर्मस्वातन्त्र्य में बाधा का कारण भी है।

(१९) **टैनिसन**—इच्छास्वातन्त्र्य, निस्संदेह एक चमत्कार है और यह चमत्कार, ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञता का नियंत्रण और सीमित करते हुये किया है और इसके द्वारा स्वयमेव उसने अपनी सत्ता का चमत्कार दिखाया है[१]।

(२०) **राशडाल**—राशडाल कहता है कि "ईश्वर की त्रिकालज्ञता को कम किये बिना, इच्छा-स्वातन्त्र्य स्वीकर्तव्य नहीं हो सकता।" फिर एक दूसरी जगह उसने लिखा है—"यह निस्संदेह सच है कि ईश्वर जानता है कि हम में से प्रत्येक कितना पुरुषार्थ (पुण्य की वृद्धि के लिये) कर सकता है और कितनी मात्रा पाप की कम कर सकता है परन्तु हम नहीं जानते और न मनुष्य करने से पहले, यह जान सकता है कि वह क्या करेगा[२] ?" राशडाल के लिये कर्मस्वातन्त्र्य या ईश्वर की त्रिकालज्ञता का प्रश्न इसलिये बाकी नहीं रहता कि वह आत्मा की नित्य सत्ता स्वीकार नहीं करता, वह कहता है कि "इस वाद की स्वीकृति से ईश्वर की सत्ता सीमित होती है।" यद्यपि, उसने एक दूसरी जगह स्वीकार किया है कि "अवश्य ईश्वर ससीम है, परन्तु अपनी ही प्रकृति से और अन्यों की सत्ता से भी, जिनकी सत्ता का कारण उसकी वही प्रकृति है[३]।"

जब राशडाल ने ईश्वर को ससीम ही स्वीकार किया है, तो फिर समझ में नहीं आता कि आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानने से उसे ईश्वर के ससीम हो जाने का भय क्यों है ?

(२१) **ऋषि दयानन्द**—निम्न प्रश्नोत्तर, ईश्वर की त्रिकाल-दर्शिता के सम्बन्ध में, ऋषि दयानन्द का क्या मत था ? इस पर प्रकाश डालते हैं—

प्रश्न—परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जानता

१. In Memorium (Robinson's Edition) p. 260.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 354 and 355.
३. The Theory of Good and Evil by Rashdall p. 347 and 348.

है, वह जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा, इससे जीव स्वतन्त्र नहीं।

उत्तर—ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना ठीक नहीं, क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल और न होके होवे, वह भविष्यत्काल कहाता है। क्या ईश्वर का कोई ज्ञान होके नहीं रहता अथवा न होके होता है ? कदापि नहीं। ईश्वर का ज्ञान, सदा एकरस अखंडित वर्तमान रहता है। भूत भविष्यत्, जीवों के लिए है। हां! जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान के ज्ञान और फल देने में, ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किंचित् वर्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र है।[१]

परिणाम—ईश्वर की त्रिकालज्ञता का विषय, अज्ञातकाल से विवादास्पद चला आ रहा है। विद्वानों में इस विषय के सम्बन्ध में कितना मतभेद है, उसका दिग्दर्शन उपर्युक्त सम्मतियों से होता है। इस गहन प्रश्न का सर्वश्रेष्ठ समाधान, वह हो सकता है जिससे ईश्वर की सर्वज्ञता और जीव के कर्म करने की स्वतन्त्रता में बाधा न पहुंचे। हम वही समाधान पाठकों के सन्मुख रखना चाहते हैं— कोई भी कर्म जब प्रारम्भ किया जाता है, तो सबसे पहले उसका संकल्प मन में उत्पन्न हुआ करता है, वही संकल्प, वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है और उसके बाद आचरण में आ जाया करता है[२]। तो कर्म का भाव (सत्ता) संकल्प से प्रारम्भ होता है, उससे पहले उस कर्म का अभाव था। ऐसी दशा में ईश्वर को अपनी सर्वज्ञता अथवा त्रिकालज्ञता से क्या जानना चाहिये ? जब से कर्म का भाव है तब से भाव और जब तक कर्म का अभाव था, तब तक अभाव जानना चाहिए। यदि कर्म के अभाव की दशा में वह (ईश्वर) उसे भाव जानता है, तो उसका ज्ञान अयथार्थ होगा और वह मिथ्याज्ञानी ठहरेगा। इस प्रकार का विचार करने से मनुष्य के कर्मस्वातन्त्र्य और ईश्वर की सर्वज्ञता में बाधा नहीं पहुंचती। यहां एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ईश्वर को कर्म की सत्ता का ज्ञान, ऐसा नहीं कि कर्म करने के बाद होता हो किन्तु उसके संकल्प के शुरू होते ही ज्ञान होना

---

१. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृ० २०२, २०३ (दशवां संस्करण)

२. यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते। (शतपथब्राह्मण)

प्रारम्भ हो जाता है और कर्म करते समय तो उसे (ईश्वर को) पूरा ज्ञान ही कर्म की सत्ता का होता है इसीलिए यह बात कही जाती है कि "जैसा स्वतन्त्रता से मनुष्य करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा ही जीव करता है[१]।" इसका मतलब यह है कि ईश्वर का कर्मज्ञान और जीव का कर्माचरण, इन दोनों में कोई पहले और कोई पीछे नहीं होता, अपितु दोनों साथ-साथ होते हैं और इसी से न ईश्वर की सर्वज्ञता में बाधा पहुंचती है न मनुष्य के कर्म-स्वातन्त्र्य में।



१. देखो ऋषि दयानन्द की सम्मति।

आठवां अध्याय

कर्म-स्वातन्त्र्य

हम इस और आगे के अध्यायों में कर्म-स्वातन्त्र्य से सम्बन्धित प्रत्येक पहलू पर विचार करना चाहते हैं, जिससे पाठकों का विषय में भलीभांति प्रवेश हो सके। उसके बाद ग्रन्थ के अन्त के अध्यायों में पश्चिमी दृष्टिकोण से विषय का इतिहास दिया जाएगा।

वेदादि शास्त्र और कर्म-स्वातन्त्र्य

वेद में मनुष्य को जगह-जगह कर्म करने की शिक्षा दी गई है और बतलाया गया है कि जहां मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है वहां दूसरी ओर फल भोगने में परतन्त्र है। यहां उन शिक्षाओं में से कुछेक का उल्लेख किया जाता है—

(१) यहां पर कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार (कर्म करना चाहिए कि) तुझ मनुष्य में कर्म न लिपटे (अर्थात् बन्धन का कारण न बने) इस (कर्म करने) से भिन्न (१०० वर्ष तक जीने का) और कोई उपाय नहीं है[१]।

(२) उदार पुरुषो! उठो और झण्डों के साथ तैयार हो जाओ। सांप के समान, घातक और शत्रु हैं (उन पर) धावा करो[२]।

(३) हे विद्वानो! अधोगत पुरुषों को तुम फिर उठाओ और अपराध करने वालों को फिर तुम जीवन दो[३]।

(४) इस (वर्तमान स्थिति) से आगे बढ़, मत नीचे गिर, मृत्यु के पाश को तोड़ता हुआ आगे बढ़। इस लोक से (तथा) अग्निरूप सूर्य के तेज से मत अलग हो[४]।

इन और ऐसे अनेक मन्त्रों में मनुष्यों को पुरुषार्थ करने की शिक्षा

---

१. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजुर्वेद ४०.२)

२. उत्तिष्ठित संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥ (अथर्ववेद ११.१०.१२)

३. उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागेश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ (अथर्ववेद ४.१३.१)

४. उत् क्रामातः पुरुषमावपत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः॥ (अथर्ववेद ८.१.४)

दी गई है। जब मनुष्य को करने-न करने दोनों का अधिकार था, तभी तो करने की प्रेरणा की गई है। यदि मनुष्य कर्म करने के लिए यन्त्र की तरह बन्धन में होता, तब इस प्रकार शिक्षा देने की कोई उपयोगिता ही नहीं हो सकती थी, इसलिए स्पष्ट है कि वेद कर्म-स्वातन्त्र्य की शिक्षा देते हैं। अब कर्म-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में, दर्शनों का, क्या सिद्धान्त है, यह प्रदर्शित किया जाता है—

न्यायदर्शन

न्यायदर्शन में एक जगह शंका की गई है कि "पुरुष के कर्मों का, वैफल्य देखने से, (उस वैफल्य का) ईश्वर कारण है[१]।" अर्थात् कर्मों से कुछ नहीं होता, सुख-दुःख सभी, ईश्वर की ओर से मिला करता है। न्यायदर्शनकार ने दो सूत्रों में इसका उत्तर इस प्रकार दिया है—"पुरुष के कर्म के अभाव में फल की निष्पत्ति न होने से, उक्त कथन अर्थात् ईश्वर, बिना कर्मों का लिहाज किए, सुख-दुःख अपनी ओर से दिया करता है, ठीक नहीं[२]।" "ईश्वर (के कर्मफल का) कारित होने से (उक्त हेतु) अहेतु है[३]।"

भाव स्पष्ट है कि कर्म मनुष्य किया करता है और उसका फल ईश्वर किया करता है। जब फल में मनुष्य की परतन्त्रता है तो कर्म में स्वतन्त्रता न हो, यह कैसे सम्भव है?

वेदान्तदर्शन

वेदान्तदर्शन में भी जीव के कर्म-स्वातन्त्र्य का उल्लेख किया गया है—"विहार अर्थात् जीव के यथेष्ट विचरने के उपदेश से पाया जाता है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है[४]।" कर्म में (उनके करने के विधान) कथन से भी (कर्म-स्वातन्त्र्य पाया जाता है) नहीं तो (कर्म करने की शिक्षा का) बताना व्यर्थ होगा[५] ("किसी वस्तु की) प्राप्ति के सदृश, यह भी नियम नहीं है (कि जीव अपने लिए, सुखदायक कर्म ही करे[६])।

---

१. ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्॥ (न्याय० ४.१.१९)
२. न पुरुषकर्माभावे फलाऽनिष्पत्तेः॥ (न्याय० ४.१.२०)
३. तत्कारितत्वादहेतु॥ (न्याय० ४.१.२१)
४. विहारोपदेशात्॥ (वेदान्तदर्शन २.३.३४)
५. व्यपदेशाच्च क्रियायां, न चेन्निर्देशविपर्ययः॥ (वेदान्तदर्शन २.३.३६)
६. उपलब्धिवदनियमः॥ (वेदान्तदर्शन २.३.३७)

"शक्ति के विपरीत होने से (अनुकूल और प्रतिकूल) दोनों प्रकार के, कर्म करने की शक्ति है। इसलिए मनुष्य अपने लिए उलटे काम भी कर लेता है[१]।"

"समाधान न होने से (चित्त का समाधान न रहने से) मनुष्य अपने लिए अहित कर्म भी कर लिया करता है[२]।"

वेदान्त के जिन थोड़े-से सूत्रों का भाव ऊपर प्रकट किया गया है। उनसे साफ तौर से प्रकट है कि मनुष्य में कर्म करने की शक्ति है और वह उसका अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों प्रकार का प्रयोग किया करता है। अर्थात् अपने लिये अहित काम भी कर डाला करता है और इसका कारण उसकी बुद्धि की विषमता है।

पूर्वमीमांसा

पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ने भी कर्त्ता का कर्म-स्वातन्त्र्य प्रतिपादित किया—

कर्म करने में, पुरुष की कर्त्तारूप से श्रुति पाए जाने से कर्मों के करने में स्वतन्त्र होना पाया जाता है[३]।

ऋषि दयानन्द और कर्म-स्वातन्त्र्य

इस प्रकार अन्य दर्शन, उपनिषद् तथा गीता आदि ग्रन्थों में जीव के लिए कर्मस्वातन्त्र्य का विधान किया गया है। हम ऋषि दयानन्द की सम्मति कर्म-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में लिखकर, पूर्व में कर्म-स्वातन्त्र्य के इस संक्षिप्त विषय को समाप्त करेंगे। जीव की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कुछेक प्रश्नोत्तर, ऋषि दयानन्दकृत, सत्यार्थप्रकाश से यहां उद्धृत किये जाते हैं जिससे उनके मत का ज्ञान, पाठकों को सुगमता से हो जायेगा—

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र?

उत्तर—अपने कर्त्तव्य-कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था (फल भोगने आदि) में परतन्त्र है। "**स्वतन्त्रः कर्त्ता**" यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है, जो स्वतन्त्र अर्थात् स्थाधीन है वही कर्त्ता है।

प्रश्न—स्वतन्त्र किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसके अधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अंतःकरणादि

---

१. शक्तिविपर्ययात्॥ (वेदान्तदर्शन २.३.३८)

२. समाध्यभावाच्च॥ (वेदान्तदर्शन २.३.३९)

३. प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात्॥ (पूर्वमीमांसा ६.२.३)

हों, जो (जीव) स्वतन्त्र न हो, तो उसको पाप-पुण्य का फल कभी प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे भृत्य (सेवक), स्वामी और सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से, युद्ध में, अनेक पुरुषों को मारकर, अपराधी नहीं होते वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और अधीनता से, काम सिद्ध हों तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे[१]।

\+ + +

कर्म-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में, समष्टि रूप से, उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण देने के बाद कर्म और फल के सम्बन्ध में कुछ तफ़सील के साथ आगे के पृष्ठों में विचार करना चाहते हैं।



१. सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ २००, २०१ (दशवां संस्करण)

नवां अध्याय

कर्म के भेद

योगदर्शन में एक जगह कर्म के तीन भेद बतलाये गये हैं—

(१) शुक्ल अर्थात् अच्छे (पुण्य) कर्म, (२) अशुक्ल अर्थात् बुरे (पाप) कर्म, (३) शुक्लकृष्ण अर्थात् पापपुण्य मिश्रित[१]।

गीता में भी कर्म के तीन ही भेद किये हैं और वहां (१) कर्म से तात्पर्य अच्छे कर्मों से है, (२) विकर्म अर्थात् उलटे कर्म और (३) अकर्म—यहां गीता के प्रकार की दृष्टि से अकर्म का अभिप्राय कर्म न करने से नहीं अपितु फल के त्याग की भावना के साथ, असंग होकर, कर्म करने को अकर्म कहा गया है[२]। योगदर्शन में भी ये कर्म योनियों से भिन्न मनुष्यों के कहे गये हैं, योगी कर्म करता हुआ भी, इन कर्मभेदों से ऊपर समझा गया है। इस बात पर दृष्टिपात करते हुए कर्म के दो ही भेद किये जाया करते हैं—(१) एक वे कर्म जो बुरे नहीं अपितु अच्छे ही हैं परन्तु फल की इच्छा के साथ किये जाते हैं और जिन्हें सकाम कर्म कहते हैं, (२) दूसरे वे जो फल की इच्छा न करके किये जाते हैं और जिन्हें कर्त्ता फल की इच्छा से नहीं बल्कि कर्तव्यपालन की भावना के साथ करता है। इसी कर्म को गीता में कर्मयोग और उपनिषदादि में निष्काम कर्म कहा गया है। कर्म के इन दो विभागों का मुख्य भेद यह है कि पहले कर्म एक वासना पैदा करते हैं जो कर्त्ता को बन्धन में रखने का कारण हुआ करती हैं परन्तु दूसरे प्रकार के कर्म इस प्रकार की बन्धन में लाने वाली वासना, पैदा नहीं किया करते हैं और इसीलिये उन्हें बन्धन से छुड़ाने (मुक्ति) का कारण माना जाता है। इस वासना का कुछ तफ़सील के साथ आगे विवरण दिया जायेगा।

कर्मफल

कर्म करने से, कर्म के अच्छे-बुरे होने के लिहाज से कर्ता को उसी के अनुसार अच्छा और बुरा फल मिला करता है। कर्म और फल के सम्बन्ध में अनेक बातें विवादास्पद हैं, जैसे कर्म और फल की सीमा क्या है, क्या कर्म स्वयमेव फल देता है, यदि नहीं तो फलदाता कौन है?

---

१. कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥ (योगदर्शन ४.७)

२. कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मह्यपि बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ (गीता ४.१७)

इत्यादि। हम यहां यत्न करेंगे कि कर्म और फल के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश पड़े और सुगमता से प्रत्येक बात समझ ली जाये। सबसे पहले इस बात पर विचार किया जायेगा कि कर्म और फल की सीमा क्या है?

कर्म और फल की सीमा

कुछ लोगों का कहना है कि कर्म के अन्तिम भाग से ही फल शुरू करता है, जैसे एक आदमी ने, कल्पना करो, चोरी की, तो अन्त में इस कृत्य से उसे जो धन मिला वही इस कर्म का फल हुआ। उनकी दृष्टि में पुण्यापुण्य, अच्छा बुरा और धर्माधर्म आदि सब निरर्थक शब्द हैं। यहां हम पुण्यापुण्य आदि पर विचार करना नहीं चाहते, केवल कर्म की सीमा देखना चाहते हैं। यदि उपर्युक्त कथन ठीक मान लिया जाये कि चोरी द्वारा धन मिलना ही फल है तो देखना चाहिये कि कर्म की सीमा क्या हुई? मामला बिलकुल साफ तौर से समझ लिया जाये इसलिये एक उदाहरण दिया जाता है।

एक उदाहरण

कल्पना करो कि एक मेज पर एक घड़ी रक्खी हुई है और मेज़ के एक किनारे से उसका अन्तर १९ इंच है, २०वें इंच में वह घड़ी है। अब एक चोर उस घड़ी को चुरा लेता है तो उपर्युक्त कथन के अनुकूल चोर का हाथ जब तक १९वें इंच तक रहा तो वह तो हुई चोरी के कृत्य की सीमा और बीसवें इंच में जब उसका हाथ पहुंचा और घड़ी उठा ली तो वह २०वें इंच में घड़ी पर चोर का हाथ पहुंचना और घड़ी उठाना, यह हुई फल की सीमा। यदि स्थिति यह स्वीकार कर ली जाये तो स्वाभाविक रीति से एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि चोर का हाथ जब तक १९वें इंच तक रहे और २०वें इंच में रक्खी हुई घड़ी को वह न छुए तो क्या वह व्यक्ति चोरी करने का अपराधी समझा जायेगा और कोई न्यायाधीश उसे चोरी के अपराध में दंडित कर करेगा? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर, कोई भी, हां में देने का साहस नहीं कर सकता। इसलिये कर्म और फल की सीमा का उपर्युक्त वाद ठहरने योग्य नहीं। असल में २०वें इंच में जब चोर अपना हाथ पहुंचाकर घड़ी उठा लेता है तो यहां तक तो केवल कर्म ही की सीमा है। फल, बिल्कुल, इस कृत्य की सीमा से पृथक् वस्तु है। उसकी सीमा कर्म की सीमा से सर्वथा स्वतन्त्र है।

क्या कर्म स्वयं फल दे सकता है?

कर्म द्रव्यों में से चेतनद्रव्य के आधीन हुआ करता है। चेतनद्रव्य

आत्मा है और आत्मा से सम्बन्धित मन भी, आत्मा की प्रेरणा से साधनरूप से, कर्म का कारण समझा जाया करता है बाकी सभी वैशेषिकवर्णित द्रव्य जड़ हैं। गुण द्रव्य के आश्रित हुआ करते हैं। उन्हीं गुणों को काम में लाने के लिये जब चेतनद्रव्य आत्मा, ऊपर फेंकना, नीचे गिराना, सिकोड़ना, फैलाना, गति देना (चलना आदि) क्रियाओं में से कोई क्रिया करता है तब उसी का नाम कर्म हुआ करता है। अन्य द्रव्यों की क्रिया जैसे पृथिवी का घूमना, वायु का चलना आदि जड़तापूर्ण क्रिया तो कही जा सकती है, परन्तु उन्हें कर्म कोई नहीं कह सकता। क्रिया द्रव्य के आश्रित हुआ करती है, स्वयं द्रव्य नहीं होती और वह जड़ भी होती है। अन्य जड़ द्रव्यों की क्रिया और चेतनद्रव्य की क्रियाओं में अन्तर यह होता है कि पहली जड़, जड़तापूर्ण और जड़-द्रव्याधीन हुआ करती है और दूसरी जड़ तो होती है परन्तु चेतनद्रव्य की समझी हुई क्रिया हुआ करती है और इसीलिये वह कर्म कही जाती है। अब थोड़ा फल पर विचार कीजिये कि वह क्या वस्तु है?

फल क्या वस्तु है?

कर्म का फल जिसे कहते है, वह दुःख और सुख है, यही फल कहे और समझे जाते हैं। एक जगह वैशेषिकदर्शन में कहा गया है कि आत्मा (जीव), मन और इन्द्रिय मिलकर जब किसी, विषय रूप रसादि को छूते हैं तब मनुष्य को सुख और दुःख हुआ करता है[1] अर्थात् दुःख-सुख का कारण, आत्मेन्द्रिय और मन का इन्द्रियों के विषय के साथ स्पर्श करना है।

अब यहां विचारणीय विषय यह है कि फल केवल सुख को नहीं कहते किन्तु फल का दूसरा अंश दुःख भी है। यदि यह कल्पना की जाये कि ये दुःख-सुख, कर्म स्वयं पैदा कर लेते हैं तो निम्न हेतु इस कल्पना को ठहरने नहीं देते—

(१) वैशेषिकदर्शन में एक जगह कहा गया है कि कर्म से उत्पन्न हुआ कार्य (फल) जिसका विरोधी हो वह कर्म है[2]।

सभी कर्म अपने कार्यों को उत्पन्न करके नष्ट हो जाया करते हैं,

१. आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे॥ (वैशे० ५.२.१५)
आत्मा का मन और इन्द्रिय के द्वारा विषय का स्पर्श करना कर्म है और इसी कर्म का फल सुख-दुःख हुआ करता है।

२. कार्यविरोधि कर्म॥ (वैशे० १.१.१४)

जब कर्म कार्य को उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं तब यह कल्पना कि कर्म स्वयमेव मनुष्यों को फल दे दिया करता है, क्लिष्ट कल्पना ही कही जा सकती है।

(२) कर्म, कहा जा चुका है कि जड़ होते हैं वह किस प्रकार ऐसा फल उत्पन्न कर सकते हैं जो कर्म और न्याय दोनों के अनुकूल हो। ऐसा फल तो कोई चेतन, ज्ञानी, न्यायी, निष्पक्ष व्यक्ति ही दे सकता है। इसीलिये वेदान्तदर्शन में कहा गया है कि "(जीव फल भोगने में) ईश्वर से तो (स्वतन्त्र नहीं) श्रुतिप्रतिपादित होने से[१]।" अर्थात् वह फलदाता ईश्वर है। परन्तु क्या ईश्वर अन्धाधुन्ध जिस को जो चाहे दुःख सुखरूप फल दे सकता है? इसका निषेधपरक उत्तर देते हुये उसी दर्शन में कहा गया है कि ईश्वर से जीव सुख-दुःख प्राप्त करने में अपने किये कर्मों की अपेक्षा रखता है अर्थात् ईश्वर जीव के कर्मानुसार ही फल दिया करता है[२]।

यदि कोई कहे कि इसमें ईश्वर की क्या जरूरत है, जीव स्वयमेव अपने कर्म का फल प्राप्त कर लेगा। परन्तु यह बात एक क्षण के लिये भी नहीं सोची जा सकती कि जीव स्वयमेव फल प्राप्त कर लेगा क्योंकि जीव केवल ऐसे ही कर्म नहीं करता कि जिसका सुखरूप फल ही उसे प्राप्त हो किन्तु मन और इन्द्रियों की चंचलता से ऐसे कर्म भी कर लिया करता है जिसका फल दुःख होना चाहिये। ऐसी दशा में क्या वह अपने ऐसे दुष्कृत्यों का फल दुःख भी स्वयमेव प्रास कर लेगा? क्या चोरी करके चोर स्वयं जेलखाना चला जाना पसन्द करेगा? क्या किसी व्यक्ति का वध करके वधकर्ता स्वयमेव फांसी पर लटकना पसन्द करेगा? इन प्रश्नों के उत्तर कोई 'हां' में नहीं दे सकता। इसलिये न तो कर्म स्वयमेव फल उत्पन्न कर सकता है न कर्ता स्वयमेव अपने कर्मों का फल प्राप्त कर सकता है।

क्या अन्यों के कर्मों का फल अन्यों को मिल सकता है?

यह बात देखी जाती है कि कुछेक सम्पन्न व्यक्ति एक पण्डित को नियुक्ति कर लेते हैं कि वह उनके लिये गायत्री का जप कर दिया करे। इस कृत्य से वे समझा करते हैं कि गायत्री के जप का फल उन्हें मिल

१. पराचु तच्छ्रुतेः॥ (वेदान्त० २.३.४१)

२. कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः॥ (वेदान्त० १.३.४२)

जायेगा। ऐसे पुरुष न कर्म की हकीकत जानते हैं न जप की मर्यादा। अन्यथा उनको मालूम हो जाता कि पण्डित के जप का फल पण्डित के सिवा अन्य किसी को नहीं मिल सकता। यदि यह कल्पना स्वीकार कर ली जाये कि अन्यों के कर्मों का फल अन्यों को मिल सकता है तो दुनिया में अपने किये दुष्टकृत्यों का फल कोई भी स्वयं भोगना पसन्द नहीं करेगा। सब चाहेंगे कि उन्हें दूसरों के सिर मढें और खासकर अमीर आदमी तो अनेक गरीबों को, अपने बुरे कर्मों का फल भोगने के लिये खरीद लिया करेंगे। इस प्रकार कोई भी व्यवस्था बाकी नहीं रह सकती। इसलिये नियम यही श्रेयस्कर है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का स्वयं उत्तरदाता हो और उसका फल भी स्वयं भोगे।

पूर्वमीमांसा का मत

इस सम्बन्ध में महामुनि जैमिनि ने अपने दर्शन में कुछेक प्रश्नोत्तर अंकित किये हैं। उन्हें संक्षिप्त रीति से यहां उद्धृत किया जाता है—

(१) अन्य के कर्म का फल अन्य को होता है, यदि ऐसा मानो तो उत्तर यह है कि अन्य के कर्मों का फल अन्य पुरुष से सम्बन्ध नहीं रखता, क्योंकि वे कर्म उसके किये हुये नहीं होते[१]।

(२) किसी अन्य के लिये फल की कामना करना ही अन्य के लिये फल का निमित्त हो सकता है, यदि ऐसा कहो तो यह भी नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा का नित्य नियम है कि प्रत्येक अपने ही कर्म का फल पाये[२]।

(३) दूसरे कर्मों का फल दूसरे को प्राप्त होता है, ऐसे कर्म पाये जाते हैं यदि ऐसा कहो तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जीव का अपने कर्मों के साथ ही सम्बन्ध पाया जाता है[३]। वैशेषिककार की भी ऐसी ही सम्मति है।

वैशेषिक का मत

वैशेषिकदर्शन में दान देने के सम्बन्ध में विचार करते हुये एक

१. अन्यस्य स्यादितिचेत्॥ (पूर्वमीमांसा ६.२.७)
अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः॥ (पूर्वमीमांसा ६.२.८)
२. फलकामो निमित्तमिति चेत्॥ (पूर्वमीमांसा ६.२.९)
न नित्यत्वात्॥ (पूर्वमीमांसा ६.२.१०)
३. कर्म तथेतिचेत्॥ (पूर्वमीमांसा ६.२.११)
न समवायात्॥ (पूर्वमीमांसा ६.२.१२)

जगह लिखा गया है कि दानक्रिया बुद्धिपूर्वक पाई जाती है[१] और उसके साथ ही यह भी कहा गया है कि दान ग्रहण करना भी बुद्धिपूर्वक ही है[२]।

वेद में दान का फल दाता को और प्रतिग्रह का फल प्रतिग्रहीता को बतलाता गया है और यह बुद्धिपूर्वक है, क्योंकि एक आत्मा के किये कर्म का फल दूसरी आत्मा को नहीं मिल सकता[३]। मीमांसा और वैशेषिक के उपर्युक्त मत भी स्पष्ट हैं और इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि किसी एक के कर्म का फल दूसरे को नहीं मिल सकता। तर्क भी उसी पक्ष का पोषक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने किये को स्वयमेव भोगे। अस्तु!

क्या अन्यों के कर्मों से अन्यों को दुःख-सुख प्राप्त हो सकता है ?

इस बात के प्रमाणित हो जाने पर कि अन्य के कर्म का फल अन्य नहीं भोग सकता, एक दूसरा प्रश्न इसी सम्बन्ध में उठता है कि क्या अन्यों के कर्म-फल से नहीं अपितु अन्यों के कर्ममात्र से, अन्य दुःखी सुखी हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर निषेधपरक नहीं दिया जा सकता। इस वाद के समर्थन हेतु इस प्रकार है—

(१) मनुष्य, समाज का व्यक्ति है, उसका काम बिना समाज के नहीं चल सकता। इसलिए उसकी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि समाज बने। समाज पारस्परिक सहायता के बिना नहीं बन सकता। सहायता का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति अपने कर्म से दूसरे की जरूरत पूरी करे। जब इस प्रकार एक-दूसरे की जरूरत पूरी किया करते हैं तब समाज बना करता है। अतः स्पष्ट है कि बिना इस प्रकार की सहायता के समाज नहीं बन सकता और समाज बना हुआ मौजूद है, इसलिए अनिवार्य रीति से यह मानने के लिए बाधित होना पड़ता है कि एक के कर्म से दूसरे को हानि लाभ पहुंचा करता है।

(२) दान, जिसका संसार के सभी सम्प्रदायों और समाजों में मान है और जिसका करना प्रायः सभी ने धार्मिक कर्त्तव्य ठहरा रखा है, क्या

१. बुद्धिपूर्वो ददाति॥ (वैशेषिक ६.१.३)
२. तथा प्रतिग्रहः॥ (वैशेषिक ६.१.४)
३. आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्॥ (वैशेषिक ६.१.५)
अर्थात् ''अन्य आत्मा के गुणों को अन्य आत्मा में कारण न होने से॥''

है ? वह यही है कि एक व्यक्ति अपने कर्म से दूसरे को लाभ पहुंचाये। कल्पना करो कि शीत की ऋतु में कुछ गरीब व्यक्तियों के पास शीत से अपनी रक्षा करने के साधन नहीं हैं। एक सम्पन्न दानी ने उन सबको रजाई अथवा कम्बल प्रदान कर दिये। फल उसका यह हुआ कि उन सभी गरीबों का कष्ट दूर हो गया और उन सभी को सुख प्राप्त हुआ। इसी दान के सम्बन्ध में वेद का एक सूक्त है, जिसके एक मन्त्र का भाव यह है—"दान करने से घोड़ा, गौ (आदि पशु), सोना-चांदी और अन्न मिलता है इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य दान को अपनी रक्षा के लिए कवचरूप से धारण करता है[१], इत्यादि।" यहां प्रश्न यह है कि इस दान से अथवा ऊपर के उदाहरण में जिन लोगों को कम्बल आदि मिलने से सुख हुआ, उस सुख का कारण तो दानी का कर्म ही है। उसका फल तो दानी स्वयं पायेगा क्योंकि यह दान उसी का कर्म था। परन्तु उसके दानरूप कर्म से अनेक गरीबों को लाभ हुआ।

एक दूसरा उदाहरण

एक गृहस्थ के घर में चोरी हो गई और चोर ने उसका समस्त धन अपहरण कर लिया। उस गृहस्थ के सभी व्यक्ति, जो उस परिवार में थे, दुःखी हो गये। उन्हें यह दुःख चोरों के चोरी रूप दुष्कृत्य ही से प्राप्त हुआ, इस दुष्कृत्य का फल तो उन्हें (चोरों को) स्वयं भोगना पड़ेगा परन्तु उनके कर्म ने अनेक व्यक्तियों को दुःखी कर दिया।

(३) जब दूसरों के कर्म से कोई पुरुष सुखी होने के सिवाय दुःखी भी हो सकता है तो फिर उसका कर्त्तव्य यह हो जाता है कि जहां अपने को अच्छा बनाने के लिए यत्न करे, वहां दूसरों को भी अच्छा बनाने के लिए यत्न करे, वहां दूसरों को भी अच्छा बनाने के लिए पुरुषार्थ करे तभी समाज अच्छा बन सकता है। इसलिए विद्वानों ने नियम बना रखा है कि "मनुष्य को अपनी ही उन्नति में नहीं बल्कि सबकी उन्नति में सन्तुष्ट होना चाहिए[२]।" अंग्रेजी शब्द (Society) सोसाइटी के अर्थ ही सांझे की हालत (A state of Partnership) के हैं।

(४) वेद की शिक्षा भी इस पक्ष का समर्थन करती है—

---

१. दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददति दक्षिणाचन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥
(ऋ० १०.१०७.७)

२. यह आर्यसमाज का नवां नियम है।

(क) ऋग्वेद में एक जगह लिखा है कि "अच्छे पुरुषों के कर्म हमारे लिए सुखदायक हों[१]।"

(ख) अथर्ववेद में एक जगह उपदेश दिया गया है कि "अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में जो कर्त्तव्य हैं अर्थात् उनका अच्छा बनाना, उसकी पूर्ति में प्रमाद नहीं करना चाहिए।"

(ग) फिर अथर्ववेद में ही एक दूसरी जगह अंकित है कि "यदि माता के या पिता के किये पाप से तू सोया (बीमार पड़ा) है तो "उन्मोचन" और "प्रमोचन" की दोनों विद्यायें तुझे कहता हूं[२]।"

उन्मोचन—खोलना, ढीला करना, पापों को दूर फेंकना, पापों के प्रभाव को अपने ऊपर से दूर करना।

प्रमोचन—दूर रहना (पापों से जो माता-पिता ने किए हैं, उनसे दूर रहना) अर्थात् स्वयं वैसे पाप न करना।

उन्मोचन रोग की चिकित्सा और प्रमोचन वह यत्न जिससे रोग न होने पाये। ये दोनों विद्यायें हैं जिनके जानने और अमल करने से मनुष्य रोग मुक्त हो जाता अथवा रहता है। इस प्रकार के तथा दान की महिमा आदि के अनेक मन्त्र वेदों में आए हैं जिनसे अच्छी तरह से मनुष्य समझ लेता है कि अन्यों के कर्मों से अन्य को हानि और लाभ अथवा दुःख और सुख दोनों पहुंचा करते या पहुंच सकते हैं। इस प्रकरण से सम्बन्धित एक प्रश्न और है जिसको स्पष्ट किये बिना यह प्रकरण पूरा नहीं हो सकता और वह यह है—

क्या एक के कर्म से दूसरे को दुःख प्राप्त होने में क्या किसी दूसरे के कर्मफल भी शामिल हुआ करते हैं?

कई सज्जन इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में देते हैं और दे सकते हैं परन्तु हमारा, भलीभांति सोचा-विचारा हुआ, उत्तर 'नकार' में है। परन्तु इतना कह देना मात्र काफी नहीं कि दूसरे के कर्मफल पहले के कर्म में शामिल नहीं होते अपितु इस प्रश्न के दोनों पहलुओं पर गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है।

---

१. शन्नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु॥ (ऋग्वेद ७.३५.४)

२. जीवेभ्यः मा प्रमद॥ (अथर्ववेद ८.१.७)

३. अहेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ (अथर्ववेद ५.३०.४)

प्रश्न के पक्ष और विपक्ष में हेतु

जो सज्जन प्रश्न का उत्तर हां में देते हैं उनका सबसे बड़ा हेतु यह है कि उनकी दृष्टि में कर्म का मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक पुरुष अपने ही कर्मफल से सुखी और दुःखी हो। इसलिए यदि किसी को, किसी दूसरे के कर्म से, सुख या दुःख प्राप्त होता है, तो उसके लिए यही समझना चाहिए कि उसमें उसका कर्मफल भी शामिल है। अब थोड़ा इस पर विचार करना चाहिए। मनुष्य में स्वतन्त्रता के साथ कर्म करने की योग्यता ईश्वर प्रदत्त है, वह जो कुछ करता है, अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है। कल्पना करो कि तारीख २० मई को दिन के २ बजे ''क'' ने ''ख'' को अपने उसी कर्म को अपने उसी कर्म-स्वातन्त्र्य के अधिकार से एक लाठी मारी, जिससे ''ख'' घायल हो गया। अब देखना यह है कि इस कृत्य के अन्दर ''क'' के कर्म-स्वातन्त्र्य और ''ख'' का परतन्त्रता से फल भोग का, कितना-कितना भाग शामिल है ? कहा यह जाता है कि ठीक इसी समय ''ख'' को अपने किसी दुष्कृत्य के बदले में चोट लगनी थी और ''क'' ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ठीक उसी समय उसे लाठी मार दी यदि ''क'' न मारता तो कोई और दूसरा मार देता। अस्तु। इस कथन पर दो प्रश्न उठते हैं—

(१) यदि ''ख'' को फलरूप में चोट लगनी थी और ''क'' ने वही चोट लगा दी तो इस अवस्था में ''क'' ने जल्लाद जैसा काम किया। जिस प्रकार जज की आज्ञा से जल्लाद एक व्यक्ति को फांसी देकर अपराधी नहीं बनता इसी प्रकार ''क'' को भी अपराधी नहीं ठहराना चाहिए उसने भी ईश्वराज्ञा का पालन ही तो किया है। इस पर कहा यह जाता है कि उसने बिना आज्ञा के चोट लगाई है, इसलिए वह अपराधी है। बहुत अच्छा। इस पर आगे विचार किया जाएगा। पहले यहां पर विचार करने योग्य बात यह है कि ''ख'' को एक खास समय में चोट लगनी थी और ''क'' ने ठीक उसी समय उसे अपने कर्म-स्वातन्त्र्य से लाठी मार दी और इन दोनों घटनाओं का सम्मेलन एक खास समय में हो गया तो यह सम्मेलन अचानक घटनागति से हो गया अथवा नियम के तौर पर ? यदि कहो घटनागति से (By Chance) हो गया तो घटना गति तो कभी-कभी होती है, सौ में एक-दो बार परन्तु यहां तो अवस्था यह है कि जब कभी भी कोई भी किसी को मारेगा या इनाम देगा, तभी कहा जाएगा कि इस में अन्तिम (दूसरे) पुरुष के कर्मफल शामिल थे, फिर यह घटना अचानक या आकस्मिक घटनागति

तो नहीं कही जा सकती, क्योंकि १०० में सौ बार होने वाली बात है। इसलिए यह तो नियम के तौर पर होने वाली बात ही कही जा सकती है। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति को एक खास समय में शुभाशुभ फल मिलने वाला हो और कोई दूसरा व्यक्ति नियम के तौर पर उसी समय शुभ या अशुभ फल को अपने कर्म से दे देवे तो उस देने वाले का यह कर्म, परतन्त्रता से किया हुआ ही तो समझा जायेगा, इसमें कर्म-स्वातन्त्र्य की गन्ध भी नहीं है। परन्तु इस फल के शामिल होने के समर्थक इच्छा अथवा कर्म-स्वातन्त्र्य का भी समर्थन करते हैं, इसलिए उन्हें या तो फल मिलने की बात का समर्थन छोड़ना चाहिए या कर्म-स्वातन्त्र्य से हाथ धोना चाहिए। अस्तु, अब दूसरी मौलिक सिद्धान्त वाली बात पर विचार करना चाहिये।

(२) यह जो कहा जाता है कि "मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक पुरुष अपने ही कर्म के फल से दुःखी या सुखी होवे।" ऐसा कहने वाले यह नहीं बतलाते कि इस मौलिकता की झांकी उन्हें कहां हुई ? किसी बात के निर्णीत समझने के दो ही हेतु हो सकते और हुआ करते हैं तर्क और प्रमाण। जहां तक मुझे मालूम है, इस मौलिकता के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं करते न मेरी दृष्टि में ही इस प्रकार का कोई प्रमाण वेदशास्त्र में कहीं आया है। रहा तर्क वह इस पक्ष का समर्थक नहीं। थोड़ा ही विचार करने से यह बात प्रकट हो जाएगी कि किस प्रकार तर्क इस वाद का समर्थक नहीं है।

"क" जिस ने "ख" को लाठी मारी थी उसका अपराध केवल इतना ठहरेगा कि उसने बिना अनुमति के क्यों "ख" को मारा ? "क" की लाठी से "ख" को चाहे चोट लगी, चाहे वह मर गया तो ये सब कुछ तो उसे अपने कर्मों के फल से भोगना ही था। असल में "क" ने "ख" का कोई अपराध नहीं किया क्योंकि जो कुछ "क" की लाठी से हुआ यह तो उसके लिए अपने कर्मों के फल से होने वाला ही था। "क" ने केवल अपराध यह किया कि न्यायकारी की अनुमति नहीं ली। इसीलिये "क" को न चोट लगाने का दण्ड मिलना चाहिये, न वध करने या चोरी करने का, किन्तु केवल अनुमति न लेने का, और यह दण्ड जिस (ईश्वर) की अनुमति उसने नहीं ली है वह स्वयं उचित रीति से दे देगा। "ख" अथवा उसके पक्ष-पोषकों को "क" के विरुद्ध लोक में कोई कार्यवाही नहीं करनी चाहिये न उस पर चोरी का अभियोग चलाना चाहिये न कत्ल का मुकद्दमा दायर करना चाहिये न

अन्य किसी प्रकार से कोई झगड़ा उससे करना चाहिये क्योंकि उसके साथ तो जो कुछ सुलूक ''क'' ने किया है वह किसी न किसी प्रकार होने वाला ही था। कल्पना करो कि ऐसा ही इस जगत् में होने लगे तो फिर क्या कोई व्यवस्था रह सकेगी ? न्यायालयों को बंद कर देना पड़ेगा, पुलिस को धत्ता बतानी पड़ेगी, फौजी महकमों को रुखसत करना पड़ेगा। यदि कोई एक व्यक्ति आकर किसी दूसरे के देश, वस्तु अथवा सत्व पर, अधिकार जमा लेवे तो संतोष करके बैठ जाना पड़ेगा, क्योंकि उस दूसरे के कर्मफलानुसार ऐसा ही होना था। फल इसका यह होगा कि लोग अकर्मण्य हो जायेंगे, समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा, जैसा कि यहां (इस देश में) हुआ। इसलिये इस मौलिकता के राग को, बेवख्त की शहनाई (बाजा) समझकर, छोड़ देना ही श्रेयस्कर है।

(३) एक और मजेदार बात, इस सम्बन्ध में, यह है कि न केवल किसी को दुःख देने से, दुःखदाता अनुमति न लेने का अपराधी ठहरेगा किंतु किसी को सुख देने से भी सुखदाता भी उसी (अनुमति न लेने के) अपराध या अपराधी बनेगा क्योंकि किसी दानदाता ने, जो कुछ किसी दूसरे को, सुख पहुंचाने के लिए दिया वह तो अपने कर्म के फलानुसार, उसे मिलना ही था। फिर दानदाता ने क्यों बिना अनुमति लिये उसे दान देकर, ''दालभात में मूसलचन्द'' की कहावत को चरितार्थ किया ? दानियों को चाहिये कि समझ-बूझकर आगे दान देवें अन्यथा लेने के देने पड़ेंगे।

(४) इस शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव में प्रभावित व्यक्ति के कर्मफल का अड़ंगा लगाने से, न केवल यह होगा कि अशुभ कर्मों के करने की प्रवृत्ति घटेगी। जब कोई किसी व्यक्ति को दान देगा या अन्य कोई दूसरा साधन, उसके सुख को उपस्थित करेगा तो वह कृतज्ञता प्रकाश करने के स्थान में झट से कह देगा कि ''यह वस्तु तो मुझे, अपने कर्मफलानुसार मिलने वाली ही थी तुम न देते तो कोई दूसरा देता। इस में मुझ पर तुम्हारा कोई अहसान नहीं'' की कहावत को चरितार्थ किया ? दानियों को चाहिये कि समझ बूझकर आगे दान देवें अन्यथा लेने के देने पड़ेंगे।

(५) एक और बात भी इस सम्बन्ध मेंविचार करने योग्य है कि यदि ऊपर दिये हुये उदाहरण में ''क'' को वध करने का अपराधी ठहराया जाये और उसका समूचा कृत्य उसी के जिम्मे रखकर उसे फांसी की सजा दे दी जाये तो प्रश्न यह है कि फांसी देने वाले का, यह स्वतन्त्र कर्म कहा जायेगा या इस में भी, फांसी पाने वाले के पहले से

निश्चित किसी भोग को शामिल किया जायेगा यदि कहो कि नहीं, तब तो स्पष्ट हो गया कि "क" ने स्वतन्त्रता से वध किया था और फांसी देने वाले ने, स्वतन्त्रता से फांसी रूप फल, "क" को दे दिया। अथवा फांसी देने वाले का कर्म, कम से कम ऐसा सिद्ध हो गया कि जिसमें दूसरे (क) को दुःख तो पहुंचा परन्तु इस में उस (क) का कोई भोग शामिल नहीं था। यदि कहा जाये कि "हां" तब यह बतलाना होगा कि "ख" के चोट लगने या वध होने में फल का भाग क्या और कितना था? यदि कहो कि "ख" को जो कष्ट पहुंचा यही फल था तो फिर कर्म क्या था? "क" का कर्म तो "ख" को कष्ट पहुंचाना ही था। यदि यह फल है तो कर्म नहीं रहा और यदि कर्म है तो फल नहीं। यह स्पष्ट है कि समस्त सभ्य-संसार, इस प्रकार के अपराध को, अपराधी का स्वतन्त्र कर्म ही समझकर उसे दंडित किया करता है, इसलिये इस में फल की गंध सूंघना निरर्थक है।

उपर्युक्त हेतुओं से यह बात साफ तौर से प्रकट हो जाती है कि एक व्यक्ति के कर्म से, जो दूसरे को सुख या दुःख मिला करता है, उसमें दूसरे व्यक्ति के दुःख-सुख रूप फल का किंचिन्मात्र समावेश नहीं होता अपितु वह पहले व्यक्ति का स्वतन्त्र कर्म ही होता है और उसके फलाफल का उत्तरदाता वह पहला ही व्यक्ति हो सकता और हुआ करता है। दुनिया भर के व्यावहारिक नियम और कानून इसी नियम को स्वीकार करके बने और व्यवहृत हैं। इस फलाफल में दूसरे व्यक्ति के भोग को शामिल करना तर्कशून्य और प्रमाण रहित है इसलिये अस्वीकर्तव्य है। इस सम्बन्ध में यह बात अवश्य कही जा सकती है कि "क" के मारने से "ख" को चोट लगी और कष्ट उठाना पड़ा यद्यपि यह कष्ट उसके किसी कर्म का फल न था परन्तु इसके सम्बन्ध में यह कल्पना करना कदाचित् अयुक्त न होगा कि ईश्वर जो कर्म का फलदाता है यह विचार करके कि "ख" को वह कष्ट व्यर्थ उठाना पड़ा है, इसलिये वह इसे उसके अपने कर्मों के भोग में से कम कर देवे अर्थात् यदि "ख" को अपने कर्मों के बदले में १० हिस्से कष्ट भोगना हो और "क" द्वारा पहुंचाई तकलीफ की मात्रा एक हिस्से हो तो यह एक हिस्सा कम कर दिया जाये और उसे केवल ९ हिस्से कष्ट भुगतना पड़े और यदि उसका कोई बुरा कर्म न हो तो उसे इस कष्ट के बदले में कुछ सुख और मिल जाये।

दसवां अध्याय

कर्मस्वातन्त्र्य की सीमा

कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है। यह बात इससे पहले, इन पृष्ठों में अनेक बार कही गई है। उसकी स्वतन्त्रता कहां तक ससीम है और कहां तक असीम है, इस सम्बन्ध में कुछ यहां पहले लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है जिससे आगे के पृष्ठों में उसका हवाला दे देना मात्र काफी हो सके, बार-बार उसके प्रकट करने की जरूरत न पड़े। आत्मा के कर्म-स्वातन्त्र्य को समझने के लिए अन्तःकरण की कार्यप्रणाली समझ लेना आवश्यक है, इसलिये प्रारम्भ में उसी का यहां उल्लेख किया जाता है-

अन्तःकरण की कार्यप्रणाली

अन्तःकरण चार—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं, इनकी कार्यप्रणाली इस प्रकार है—

(१) **मन**—मन का काम ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना और कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म करना है। मन का स्थान हृदयाकाश है, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों का स्थान, जिसके द्वारा मन ज्ञान प्राप्त किया करता है, मस्तिष्क है। जर्मन के एक वैज्ञानिक "फ्लेशज़क" (Paue F;echsig of Leipzig) की खोज के अनुसार मस्तिष्क के भूरे मज्जाक्षेत्र, इन्द्रियानुभव के ४ अधिष्ठान या भीतरी (सूक्ष्म) गोलक हैं जो इन्द्रिय-संवेदना को ग्रहण करता है—

(१) स्पर्श-ज्ञान का गोलक मस्तिष्क के खड़े लोथड़े में,

(२) घ्राण का सामने के लोथड़े में,

(३) आंख (दृष्टि) का पिछले लोथड़े में, और-

(४) श्रवण का कनपटी के लोथड़े में है[१]।

इन्द्रियों से काम लेने के सिवा, मन का दूसरा काम, अपने भीतर संकल्प और विकल्प करना है। सुषुप्ति (गाढ निद्रा) में मन बेकार-सा रहता है।

(२) **बुद्धि**—बुद्धि की दो तहें अथवा दो भाग हैं—(१) तार्किक बुद्धि, (२) मेधावी बुद्धि। इनमें से तार्किकबुद्धि का काम तर्क है अर्थात् तर्क से सत्यासत्य का विवेक करना। (२) मेधावी बुद्धि का काम यह

---

१. देखो लेखककृत आत्मदर्शन पृष्ठ २५७ पहला संस्करण।

है कि तर्क द्वारा निश्चित सत्य पर श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न कर देना। बुद्धि का स्थान मस्तिष्क है।

(३) **चित्त**—चित्त के दो भाग हैं—(१) एक भाग का काम उद्वेग पैदा करना, (२) दूसरा भाग स्मृति, वासना और संस्कार का स्थान है।

स्मृति—शिक्षा, उपदेश और अध्ययनादि के द्वारा मनुष्य, जो ज्ञान प्राप्त किया करता है वह चित्त के भण्डार में, स्मृति के रूप में जमा हो जाया करता है, उसी एकत्रित ज्ञान का नाम स्मृति-भण्डार है।

वासना—कर्म करने से अभ्यास का एक अंश बना करता है, उसी अंश का नाम वासना हुआ करता है। वासना का काम यह है कि जिस प्रकार के कर्म से वह बनी है उसी के करने की भीतर से प्रेरणा किया करती है।

संस्कार—(४) मनुष्य के चित्त पर, उन समस्त घटनाओं का, जो उससे या उसके सन्मुख घटित हुई है, प्रभाव पड़ा करता है। इसी को चित्त पर छाप लगना भी कहते हैं। इसी प्रभाव या छाप का नाम संस्कार कहा जाया करता है। इन तीनों, स्मृति, वासना और संस्कार का स्थान चित्त का दूसरा भाग होता है जैसा कि कहा जा चुका है।

(४) **अहंकार**—अहंकार से मनुष्य के भीतर ममता अर्थात् मेरे और तेरेपन का भाव पैदा हुआ करता है।

यह अन्तःकरण, सूक्ष्म शरीर का भाग होने से आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर में बराबर उस समय तक बना रहता है जब तक मोक्ष नहीं हो जाता। साधारणतया चित्त में इस जन्म तथा अनेक पिछले जन्मों की स्मृति, वासना और संस्कार जमा रहते हैं और ये अपने प्रकार की दृष्टि से जैसे होते हैं, वैसी ही मनुष्य की प्रवृत्ति बना दिया करते हैं। यह प्रवृत्ति, जिसे पश्चिमी दर्शन में, जन्मसिद्ध चरित्र कहा गया है, जन्म के साथ मनुष्य में आया करती है। एक बालक की रुचि पढ़ने में अधिक है दूसरे की उतनी नहीं, एक की रुचि व्यापार में होती है, दूसरे की कलाकौशल में, तीसरे की कृषि आदि में, यह सब चमत्कार इसी उपर्युक्त प्रवृत्ति का होता है। अस्तु, अब इच्छा-स्वातन्त्र्य पर विचार करना चाहिये।

इच्छा-स्वातन्त्र्य के निर्माता अवयव

इच्छा-स्वातन्त्र्य के बनाने वाले तीन पदार्थ होते हैं—(१) जन्मसिद्ध

प्रवृत्ति, (२) संगति और (३) स्वतन्त्र इच्छा। इनमें से पहली बात जन्मसिद्ध चरित्र या प्रवृत्ति का उल्लेख ऊपर हो चुका है। दूसरी वस्तु संगति है। मनुष्य जैसी संगति में रहता है, उसका उस पर उसके विचारों पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा ही करता है। अच्छी संगति (सत्संग) का अच्छा और बुरी संगति (कुसंग) का बुरा प्रभाव। यह दूसरी वस्तु है, जिसका प्रभाव उसके इच्छा-निर्माण पर पड़ता है। तीसरी वस्तु मनुष्य की वह स्वतन्त्र इच्छा है, जो प्रत्येक मनुष्य में हुआ करती है और जिससे प्रभावित होकर, मनुष्य किसी काम के करने न करने का निर्णय किया करता है। इन तीनों का प्रभाव यदि एक-दूसरे के अनुकूल होता है तो उससे मनुष्य की बलवती स्वतन्त्र इच्छा बन जाया करती है और वह उस इच्छा को शीघ्रता से काम में ले आया करता है। यदि उनका प्रभाव एक-दूसरे के विरुद्ध है तो जिसकी अधिकता होती है उसमें से, न्यूनताओं को निकालने के बाद अधिकता का जितना अंश बाकी रहता है, उसी के अनुकूल उसकी काम में लाने की इच्छा बन जाया करती है। यदि मनुष्य की प्रवृत्ति और संगति का योग उसकी स्वतन्त्र इच्छा के विरुद्ध है तो उसकी स्वतन्त्र इच्छा दब जायेगी और उसके विरुद्ध मनुष्य कर्म कर डालेगा। यदि स्वतन्त्र इच्छा अन्य दोनों के योग से बलवती है तो वह अपनी इच्छा के अनुकूल काम कर लेगा और अन्यों को दब जाना पड़ेगा। इसीलिए वेदान्तदर्शन में कहा गया है, जैसा कि कहा जा चुका है कि मनुष्य, ऐसा नहीं है कि सदैव अपने अनुकूल ही काम करे बल्कि अपने प्रतिकूल भी काम कर लिया करता है[१]। इच्छा न होने पर भी प्रतिकूल कार्य, प्रवृत्ति और संगति के विरुद्ध होने से ही कर लिया जाया करता है जैसा कि अभी कहा गया है। इसीलिये ऋषि दयानन्द ने जीव को, कर्म करने में स्वतन्त्र, मानते हुये भी प्रवृत्ति आदि की प्रतिकूलता से, किंचित् परतन्त्र भी स्वीकार किया है। परन्तु यह परतन्त्रता जीव की अपनी ही पैदा की हुई होती है। उसने पिछले जन्म में, जिस प्रकार के कार्य किये थे उसी के अनुकूल वासना बनी, जैसी संगति में रहा था वैसे ही संस्कार बने और इन्हीं वासना और संस्कार ने ऐसी प्रवृत्ति को बनाया, जो जैसा कहा जा चुका है, उसकी परतन्त्रता का कारण बनी। हम चाहते हैं कि किस प्रकार स्वयं मनुष्य अपने बन्धन का कारण होता है? इस विषय को थोड़ा खोलकर कह दिया जाये।

१. देखो वेदान्तदर्शन। २.३.३७॥

मनुष्य के कर्म-वासना आदि के रूप में

मनुष्य जब कर्म करने लगता है तब वे "क्रियमाण" कहलाते हैं, जब कर चुकता है तब वे "संचित" कहलाने लगते हैं और जब उन कर्मों का फल मिलने लगता है तब वे ही कर्म "प्रारब्ध" कहे जाया करते हैं। प्रारब्ध और किसी जगह से बनकर नहीं आया करता किन्तु मनुष्य उसे स्वयं बनाया करता है। यहां एक बात समझ लेनी चाहिए कि क्रियमाण तो पुरुषार्थ करने की अवस्था है परन्तु जब वह उसको (पुरुषार्थ या कर्म) कर चुकता है तो अब वे कमान से छूटे हुए तीर के सदृश हो जाते हैं और अब मनुष्य उनमें कोई उलट फेर नहीं कर सकता और वे अब उसे फल दिए बिना नहीं रह सकते। संचित और प्रारब्ध वही छूटे हुए तीर हैं। यही मनुष्य की परतन्त्रता का भेद है।

कर्मसमूह

इन्हीं संचित कर्मों को योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने "कर्मसमूह" कहा है। बन्धन में लाने वाले कर्मसमूह वे होते हैं जो काम, क्रोध, लोभ और मोह से पैदा होते हैं। अविद्या (मिथ्या ज्ञान), अस्मिता (अहंकार), राग (पुण्यकर्म फल से प्रीति), द्वेष (पापकर्म से शत्रुता) और अभिनिवेश (मौत का भय) को योगदर्शन में क्लेश कहा गया है। ये क्लेश और कर्मविपाक के अनुभव से बनी हुई वासना, जिसका उल्लेख हो चुका है, दोनों मिलकर चित्त को मूर्च्छित-सा रखती है। इन्हीं क्लेशों की सन्तति काम, क्रोध, लोभ और मोह भी है। तात्पर्य इसका यह है कि इन्हीं क्लेशों से प्रभावित कर्मसमूह और वासना मनुष्य और उसके चित्त दोनों पर अपना दबाव रखकर उनके स्वतन्त्रता पूर्वक कर्म करने में बाधा डाला करती है। इनका अधिक विवरण "कर्मविपाक" वाले अगले अध्याय में मिलेगा।

कर्म और वासना का अनादित्व

जगत् अचानक ही नहीं बन जाता और न अचानक नष्ट ही हो जाता है, किन्तु जिस प्रकार दिन और रात का चक्र भी प्रवाह से नित्य है इसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का चक्र भी प्रवाह से नित्य है। ईश्वर भी नित्य है और आत्मा भी नित्य है। इसलिए ईश्वर का फलदातृत्व गुण और जीवात्मा का कर्मकर्तृत्व गुण भी नित्य है। अनेक जन्मों से अनेक सृष्टियों में हुए जीव जो कर्म करता चला आता है और उन कर्मों से वासना भी क्रमपूर्वक चली आती है। इसलिए कर्म और वासना का प्रवाह से नित्यत्व कथन किया जाता है। मोक्ष भी नित्य न होने से इन

कर्म और वासना के अनादित्व में बाधक नहीं हो सकता। वेदान्तादि दर्शनों में इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। एक जगह वेदान्तदर्शन में कर्म और उसके फल पर विचार करते हुए, कहा गया है—यदि ऐसा कहो कि कर्म के अविभाग=जुदे-जुदे न होने से, फल भी भिन्न-भिन्न नहीं दिये जा सकते, तो यह बात नहीं, कर्म के अनादि होने से[१]। इस सृष्टि के भेद का कारण इससे पहले सृष्टि के कर्म हैं। फिर इसी कर्म की अनादिता के सम्बन्ध में कहा गया है कि "सिद्ध भी होती है और पाई भी जाती है" अर्थात् वह (कर्म की अनादिता) युक्ति से भी सिद्ध है और अनुभव भी की जाती है[२]। फिर इसी सम्बन्ध में कहा गया है कि "सबों के धर्म शुभाशुभ कर्म सिद्ध होने से भी। अर्थात् अच्छे बुरे कर्म करने का सामर्थ्य सबमें होता है इसलिए भी अनादिता सिद्ध है[३]।" सांख्यदर्शन भी इस बात का समर्थक है। एक जगह इस दर्शन में कहा गया है—"अथवा अनादि कर्मों के आकर्षण से भी (प्रकृति चेष्टा करती है)।" क्योंकि जीवों के कर्म अनादि हैं, उनके कर्म भुगवाने के लिए ईश्वर के आकर्षण से प्रकृति चेष्टा करती है[४]।

योगदर्शन में भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है—एक जगह इस दर्शन में कर्म के तीन भेद किए गए हैं जिसका वर्णन ९वें अध्याय में हुआ है। उन भेदों की चर्चा करते हुए कहा गया है—"उन (उन तीन प्रकार के कर्मों) में, उन्हीं के फलानुसार गुण वाली वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है[५]।" फिर आगे कहा गया है—जाति, देश और काल से, व्यवहित (पृथक् या दूर) होने पर भी, स्मृति और संस्कार के एक रूप होने से (वासनाओं में) निरन्तरता रहती है[६]। फिर उसके बाद कहा गया है कि "उन (वासनाओं) की अनादिता है, आशिष के नित्य होने से" अर्थात् कल्याण की इच्छा के नित्य होने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य में अपने कल्याण की इच्छा सदैव बनी रहती है। इस इच्छा के सदैव बने रहने के कारण वासनाओं का मौजूद होना है। इसीलिए वासनाओं को अनादि कहा गया है[७]।

---

१. न कर्माऽविभागादिति चेन्नानादित्वात्॥ (वेदान्त० २.१.३५)
२. उपपद्यते चाऽप्युपलभ्यते च॥ (वेदान्त० २.१.३६)
३. सर्वधर्मोपपत्तेश्च॥ (वेदान्त० २.१.३७)
४. कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः॥ (सांख्य० ३.२)
५. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाऽभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥ (योग० ४.८)
६. जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥ (योग०४.९)
७. तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥ (योग० ४.१०)

ग्यारहवां अध्याय

कर्मविपाक

कर्मों का क्या और किस प्रकार फल मिला करता है ? मनुष्य के अधिकार की बात न होने से, अत्यन्त गहन विषय है। दार्शनिक जगत् ने इस विषय को स्पष्ट करने की बड़ी ऊहापोह की है, परन्तु परोक्ष का विषय होने से यह नहीं कहा जा सकता कि वह सब ठीक ही है। अस्तु, उसी ऊहापोह का परिणाम यहां दिया जाता है। यह कहा जा चुका है कि मनुष्य जहां कर्म करने में स्वतन्त्र है वहां फल भोगने में परतन्त्र है। लोक और परलोक के विचार से फल के सम्बन्ध में पूर्वी और पश्चिमी दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है। पूर्वी दार्शनिकों का विचार यह है कि लोक की अपेक्षा परलोक अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इसका मतलब यह नहीं कि लोक उपेक्षणीय है। लोकोन्नति अनिवार्य वस्तु है, उसके बिना परलोक की सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु दो अच्छी वस्तुओं में भी जिस प्रकार दरजों का भेद हुआ करता है, इसी दृष्टि से परलोक को पहला और श्रेष्ठ दरजा दिया गया है। इसके विरुद्ध पश्चिमी दार्शनिक परलोक के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा विचार करते हैं, उनकी दृष्टि में लोक ही सब कुछ है। लोक और परलोक के सम्बन्ध में पूर्वी दृष्टिकोण को हम जरा खोलकर कह देना चाहते हैं, जिससे आसानी के साथ उसे सब समझ सकें।

श्रेय और प्रेय दो मार्ग

श्रेय परलोक और प्रेय लोकोन्नति के मार्ग का नाम है। इनके सम्बन्ध में, एक बात समझ लेने से इनका भाव सुगमता से समझा जा सकेगा और वह बात यह है कि लोक मुख्य रीति से इन्द्रियों का मार्ग है और परलोक मुख्य रीति से आत्मा का पथ है। इन्द्रियां बहिर्मुखी हैं, इसलिये लोक उनका विषय है और आत्मा, शरीर की अपेक्षा, अन्तर्मुखी है, इसलिये परलोक आत्मा का विषय है। परन्तु यदि कोई चाहे कि इन्द्रियों को उन्नत किये बिना ही आत्मा को उन्नत कर सकें तो उसकी यह क्लिष्ट कल्पना ही कही जा सकती है। हां, परलोक को कुछ न समझकर जो लोक को ही अपना अन्तिम ध्येय बना लेते हैं, उनका मार्ग दूषित समझा जाता है और उपनिषद् ने उनकी इन शब्दों में निन्दा की है—"जो लोग धन के मोह से मूढ़ हो गये हैं और प्रमत्त तथा अज्ञानी

हैं, उन्हें परलोक की बात पसन्द नहीं आती उनकी दृष्टि में यही लोक सब कुछ है, परलोक कुछ नहीं, ऐसे लोग मौत के बन्धन से नहीं छूटा करते[१]।''

यही दृष्टिकोण रखते हुए पूर्वमीमांसाकार महामुनि जैमिनि ने कहा है कि जिन कर्मों का फल अदृष्ट (परलोक सम्बन्धी) है, वे प्रधान और जिनका फल दृष्ट (लोक से सम्बन्धित) हैं, वे गौण कर्म कहे जाते हैं[२]।

भोक्ता कौन है?

यह बात कही जा चुकी है कि आत्मा, मन और इन्द्रिय से युक्त होकर, कर्म किया करता है, इसलिये मन-इन्द्रिय से युक्त आत्मा ही भोक्ता भी समझा जाना चाहिये। सांख्यदर्शन में इसीलिये कहा गया है कि ''भोग (कर्मफल) चेतन आत्मा तक होता है[३]।''

मतलब इसका यह है कि यदि कोई कहे कि कर्म तो बुद्धि और मन, इन्द्रियों द्वारा होता है आत्मा को उसका फल क्यों मिलना चाहिये, तो इसका उत्तर यह है कि शुभाशुभ कर्मों का भोग आत्मा तक समाप्त हो जाता है। शरीर से आत्मा के निकल जाने पर, शरीरस्थ इन्द्रियों को कुछ ज्ञान नहीं रहा करता और न किसी भोग का वे अनुभव ही कर सकती हैं, इससे जाना जाता है कि यद्यपि पुरुष (जीव) असंग और स्वरूप से केवल है, परन्तु बुद्धि के उपराग से भोग आत्मा को ही होता है। जड़ बुद्धि को नहीं। सांख्यकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण देते हुए प्रकट किया है कि ''अकर्त्ता (जीव) को भी फल का उपभोग अन्नाद्य के समान होता है।'' अर्थात् यद्यपि कर्म साक्षात् रीति से जीव नहीं करता और इसलिए उसे अनेक जगह अकर्त्ता कहते हैं, तथापि जैसे स्वामी के लिये बावरची अन्नाद्य=भोज्य (खाने योग्य) पदार्थ बनाता है, इसीलिये भोग उसके स्वामी का होता है, इसी तरह मन बुद्धि आदि इन्द्रिय के संयोग से जो कर्म करती हैं उसका भोग भी आत्मा को ही होता है[४]। इस प्रकरण को समाप्त करते हुए सांख्यकार ने यह भी

१. न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते॥
(कठोपनिषद् २.६)

२. देखो पूर्वमीमांसा। (१.४.८)

३. चिदवसानो भोगः॥ (सांख्य० १.१०४)

४. अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्॥ (सांख्य० १.१०५)

कह दिया है कि "अथवा अविवेक से (जीव में) कर्तृत्व सिद्ध होने से, कर्त्ता (जीव) को फलभोग की प्राप्ति है।"

यह सूत्र इस आक्षेप के उत्तर देने के लिये लिखा गया है कि जीव यदि अकर्त्ता है तो उसे फल क्यों मिले? इस आक्षेप का उत्तर यह दिया गया है कि जीव को एक प्रकार से कर्त्ता भी समझना चाहिये और वह प्रकार यह है कि अविवेक (अज्ञान) से पुरुष में बुद्धि का उपराग होता है और उपरक्त पुरुष उपराग से कर्त्ता समझा जाया ही करता है और इसलिये भोग का भागी फिर उसे क्यों न होना चाहिए[1]?

फल ईश्वर अपनी ओर से नहीं देता?

क्या, बिना कर्म के भी, ईश्वर कोई फल अपनी ओर से जीव को दे दिया करता है? वेदान्तदर्शन में इसका उत्तर दिया गया है कि नहीं। वेदान्त के एक सूत्र में कहा गया कि "विधिनिषेध के व्यर्थ न होने आदि हेतुओं से जीवात्मा (फल प्राप्त करने में) अपने किये प्रयत्नों=कर्मों का अपेक्षावान् तो है।" अर्थात् ईश्वर अन्धाधुन्ध शुभाशुभ फल जीव को नहीं दिया करता[2], किन्तु उसके कर्मानुसार ही फल उसे मिला करता है। ऐसी ही बात वेद में भी एक जगह मिलती है, जहां बतलाया गया है कि "ईश्वर अपनी अनादि प्रजा जीव के लिये कर्मफल का ठीक-ठीक विधान करता है। न कर्म से अधिक और न न्यून फल मिलता है[3]।" इस पर कई सज्जनों को शंका होती है कि यदि ईश्वर अपनी ओर से जीवों को कुछ नहीं देता तो फिर उसे "दयालु" क्यों कहते हैं? और यह किस प्रकार सम्भव है कि वह न्यायकारी भी हो और साथ ही दयालु भी हो? दया अपराधों के क्षमा करने को कहते हैं और न्याय दण्ड देने को, फिर किस प्रकार सम्भव है कि ये दोनों परस्पर विरोधी गुण एक ही व्यक्ति में एकत्रित हो सकें? इसका उत्तर यह है कि—

न्याय और दया

न्याय और दया विरोधी गुण नहीं हैं। इनके समझने में साधारण पुरुष ही नहीं, किन्तु कभी-कभी हर्वर्ट स्पेंसर जैसे उच्च कोटि के विद्वान् भी गलती कर डाला करते हैं। स्पेंसर ने ईश्वर को अज्ञेय सिद्ध करने के लिये एक हेतु यह भी दिया है कि न्याय और दया, दो विरोधी

---

१. अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः॥ (सांख्य० १.१०६)

२. कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः॥ (वेदान्त० २.३.४)

३. याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजुर्वेद ४०.८)

गुण, किस प्रकार एक ही व्यक्ति में इकट्ठे हो सकते हैं[१] ? बात असल यह है कि दया अपराधों के क्षमा करने को नहीं कहते हैं, अपराधों को क्षमा करना दया नहीं, अपितु अन्याय है। दया और अन्याय एकभाव बतलाने वाले शब्द नहीं अपितु एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। न्याय और दया में अंतर यह है कि न्याय के लिये न्यायकारी को कर्म की अपेक्षा होती है बिना कर्म किये न्यायकारी किसी को इष्ट-अनिष्ट फल नहीं दे सकता, परन्तु दया दयालु अपनी ओर से किया करता है उसके लिये किसी कर्म की जरूरत नहीं होती, न वह किसी कर्म का बदला होती है। एक उदाहरण से यह बात साफ समझ में आ जायेगी। एक व्यक्ति ने चोरी की, न्यायकारी ने उसे छह मास के लिये कारागार भेज दिया परन्तु प्रबन्ध कर दिया कि इस बीच में उसे कोई दस्तकारी सिखला दी जाये जिससे जेल से छूटने के बाद वह उस व्यवसाय में लग जाये और फिर चोरी न करे। इस उदाहरण में छह मास का दंड तो न्याय है, परन्तु दस्तकारी सिखलवा देने की बात दया है। इस दया के लिये चोर का कोई कर्म न था। अच्छा, दया अपराधों की माफी नहीं, तो क्या ईश्वर कभी अपराध माफ़ करता ही नहीं ?

क्या ईश्वर अपराधों को माफ करता है ?

इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि ऊपर कहा गया है कि अपराधों का माफ़ करना अन्याय है और ईश्वर का स्वाभाविक गुण न्याय है, तो किस प्रकार वह अन्याय कर सकता है ? ईश्वर सर्वशक्तिमान् सही, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह अन्धाधुन्ध जो चाहे सो करके जगत् को अन्धेर नगरी बना देवे। क्या सर्वशक्तिमान् होने से, ईश्वर अपने जैसा दूसरा ईश्वर भी बना सकता है ? क्या वह अपने को मार भी सकता है ? क्या वह चोरी करा सकता है ? इन प्रश्नों के उत्तर नकार में देने के सिवा और कोई सूरत नहीं है, इसके सिवा सोचने की एक बात और भी है कि किसी का अपराध माफ करने से अनेक दोषों का उसमें भी आ जाना संभव है, जिसका अपराध माफ किया गया है।

(१) वह और भी अधिक अपराध करने का अभ्यासी माफ़ी के प्रलोभन से बन सकता है।

(२) उसमें अपने अन्तःकरण के विरुद्ध काम करने की प्रवृत्ति

---

१. देखो First Principle by H. Spencer.

बन सकती है, क्योंकि अन्त:करण चाहता है कि मनुष्य पाप न करे, क्योंकि पाप करने से मनुष्य को भयभीत रहना पड़ता है और भयभीत रहने से हृदय निर्बल होकर वह किसी समय भी फेल होकर उसकी मृत्यु का कारण बन सकता है।

(३) यह सम्भव है कि आत्महन्ता बनकर अपने पड़ोस के व्यक्तियों को भी यह दुष्कृत्य सिखलाये अथवा उनको, अपने बुरे अभ्यास से दु:ख देता रहे, इत्यादि, इसलिये अपराधी के भविष्य को अच्छा बनाने की दृष्टि से भी आवश्यक है कि उसे समुचित दंड मिले, इसी में उसका भी कल्याण है। परिणाम इस सबका यह है कि अपराधों के माफ करने से न तो ईश्वर ही न्यायकारी ठहर सकता है, जिससे उसके ईश्वरत्व में बाधा पहुंचती है और न अपराधी ही का अंत को कल्याण होता है, इसलिये प्रश्न का स्पष्ट उत्तर यह दिया जा सकता है कि ईश्वर अपराधों को क्षमा नहीं करता। पाप बेशक क्षमा नहीं हो सकते।

पापों से निवृत्ति का एक इलाज

परन्तु मनुष्य स्वयं उनकी निवृत्ति के लिये एक इलाज कर सकता है। जिस तरह मनुष्य स्वास्थ्यरक्षा के नियमों के तोड़ने रूप कर्म से रोगी हो जाता है, परन्तु जब अपने दूसरे कर्म द्वारा आयुर्वेद में वर्णित विधानानुसार चिकित्सा करता है, तो उससे पहले कर्म का मिला रोगरूपी फल नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार अन्य प्रकार के किये हुये पापरूपी कर्म, जो संचित रूप में रहकर, फल के लिये परिपक्व हो रहे हैं, ईश्वरोपासना रूपी चिकित्सा से नष्ट हो जाते हैं। इस वाद पर वेदान्त दर्शन ने प्रकाश डाला है। उसमें एक जगह कहा गया है कि "उस उपासना के फलीभूत होने पर अगले पिछले पापों का अश्लेष-सम्बन्धाभाव और नाश हो जाता है, जैसा कि शास्त्रों में कथन किया गया है।" अगले (भविष्य में किये जाने वाले पाप) और पिछले (जो किये जा चुके हैं[१]) पापों के लिये सूत्र में दो शब्द प्रस्तुत हुए हैं अर्थात् अगले (उत्तर) के लिये अश्लेष=सम्बन्धाभाव और पिछले (पूर्व) के लिए विनाश, इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वरोपासक भविष्य में तो कोई पाप करता ही नहीं, इसलिए पापों से उसका असम्बन्ध हो जाता है, यह बात तो स्पष्ट

१. तदधिगम उत्तरपूर्वाध्योरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्॥ (वेदान्त ४.१.२३)

ही है, रही दूसरी बात अर्थात् पिछले पाप किस प्रकार नष्ट हो जाते हैं ? यही बात विचारणीय है। विशेष उपासना के प्रारम्भ करने से पहले उपासक ने जो पाप किये थे, उसको प्रथम तो उपासक, यम-नियमानुकूल नियमित तपस्या का कठोर जीवन व्यतीत करने से, अपनी ओर से ही भोग लेता है, इसके सिवा दूषित मन जिसने पाप किया था, वह अहिंसा, ब्रह्मचर्य, शौच और तपादि से दूषित नहीं रहने पाता, उपासना का अन्तिम कृत्य "निदिध्यासन" अर्थात् आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति का जागृत कर लेना होता है। इसका तात्पर्य यह है कि चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने अथवा मन आदि के बाहरी काम के बंद हो जाने से, स्वयं मन आदि ऐसे निरर्थक और शक्तिहीन से सुषुप्तावस्था में होने के सदृश हो जाते हैं कि फलीभूत उपासक पर उनका कोई प्रभाव बाकी नहीं रहता। जब मन, बुद्धि और चित्तादि ऐसे प्रभावहीन हो जाते हैं, तब इन पर खिंची पापों की वासनारूप रेखायें भी, उन्हीं मन आदि के सदृश सारहीन और निस्तेज हो जाती हैं। आत्मा का मन आदि से सम्बन्ध टूट जाने और इनसे उस के उपरक्त न रहने से, किसी बदसूरत चीज को नष्ट होने से जिस प्रकार उसकी बदसूरती, बिना यत्न के ही नष्ट हो जाती है अथवा किसी बदसूरत वस्तु के बेकार होने से उसकी बदसूरती के भी बेकार हो जाने के सदृश, चित्त से वे पाप रेखायें भी नष्ट या बेकार हो जाती हैं, ऐसे ईश्वरोपासक जीवनमुक्त कहे जाया करते हैं। यही पिछले किये पापों का नष्ट हो जाना है। जिस वस्तु का हमारे ऊपर कोई प्रभाव न पड़े, हमारे लिये वह न होने के सदृश ही है। इसी प्रकार फलीभूत उपासक के पिछले किन्हीं जन्मों के लिये पापकर्म, उसके लिये न होने के ही सदृश हो जाते हैं ? वेदान्त के वाक्य के अन्त में कहा गया है कि पाप के नष्ट होने की बात, उस वाक्य के अंत में शास्त्रानुसार कही गई है। इसलिये एक सरसरी निगाह हम शास्त्रों पर डालना चाहते हैं कि वे कहां तक वेदान्त की पुष्टि करते हैं।

शास्त्रों का मत

छान्दोग्योपनिषद्—में एक जगह कहा गया है कि "जिस प्रकार कमल के पत्ते, जल से असंबंधित रहते हैं, इसी तरह ब्रह्मज्ञानी पापों से असंबंधित रहता है[१]।" फिर एक दूसरी बृहदारण्यकोपनिषद् में

१. यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापकर्म न श्लिष्यते॥ (छा० ४.१४.३)

लिखा है कि "उस ईश्वर को जानकर मनुष्य पापकर्मों से असंबंधित रहता है[१]।"

उपर्युक्त वाक्य ईश्वरोपासक के भविष्य में पाप से सम्बन्ध रहित की पुष्टि करते हैं। अब पापों के नाश के संबंध में देखिये—

(१) **ऋग्वेद**—में एक जगह कहा है कि "जो कुछ मुझ में पाप है अथवा जो मैं द्रोह करता हूं अथवा जो झूठ का चिह्न मुझ में है, ईश्वर उसे दूर कर देवे[२]।"

(२) **बृहदारण्यकोपनिषद्**—में एक जगह लिखा है कि "उस (ब्रह्मवित्) को पाप नहीं स्पर्श करता, किन्तु वह समस्त पापों को पार कर जाता है, उसे पाप नहीं सताता किन्तु वह समस्त पापों को तपा देता है, पापरहित, निर्मल, निःसन्देह ब्रह्मवित् हो जाता है[३]।"।

(३) **मुण्डकोपनिषद्**—में एक जगह लिखा है कि "ईश्वर के साक्षात् होने पर हृदय की गांठें (वासनाएं) खुल जाती हैं, समस्त संशय दूर हो जाते हैं और समस्त कर्म (निष्कामेतर कर्म) क्षीण हो जाते हैं[४]।"

(४) फिर इसी (मुण्डकोपनिषद्) उपनिषद् में एक-दूसरी जगह लिखा है कि "जब द्रष्टा, प्रकाशमान, जगत्कर्त्ता, स्वामी, व्यापक और वेदोत्पादक ईश्वर को देख लेता है, तब वह विद्वान् पुण्य और पाप से छूटकर निर्मलता और परम समता को प्राप्त कर लेता है[५]।"

(५) फिर एक तीसरी जगह इसी उपनिषद् में है कि जो कोई उस परमब्रह्म को जान लेता है वह शोक, पाप और गुहाग्रन्थि (वासना) से छूटकर अमरता प्राप्त कर लेता है[६]।

---

१. नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्मणा नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति॥ (बृह० ४.४.२३)

२. इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥ (ऋ० १.२३.२२)

३. नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजो, विचिकित्सो ब्राह्मणो भवति॥ (बृह० ४.४.२३)

४. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मुण्डको० २.२.८)

५. यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥ (मुण्डको० ३.१.३)

६. स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। + + तरति शोकं तरति
पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ (मुण्डकोपनिषद् ३.२.९)

(६) ऋग्वेद में एक दूसरी जगह लिखा है कि "जो विद्वान् भुवन का ज्ञान रखते हैं और समस्त स्थावर और जंगम के मनन करने तथा उस पर अधिकार रखने वाले हैं, वे अब हमको कल्याण के लिये किये और न किये पापों से छुड़ा देवें[१]।" इत्यादि-इत्यादि, इस प्रकार की शिक्षा आमतौर से वेदोपनिषदादि ग्रन्थों में मिलती है। यह पापों से छूट जाना साधारण बात नहीं, मनुष्य जब अपने आस्तिक जीवन के अन्तिम ध्येय को प्राप्त करके संसार से सर्वथा पृथक् हो जाता है, उस समय ऐसे पुरुष के यदि पिछले जन्मों के कोई पाप होते हैं तो उनसे भी छूट जाता है। इस सम्बन्ध में एक बात और भी विचार करने योग्य है और वह यह कि ब्रह्मज्ञान के सिवा क्या प्रायश्चित्त से भी मनुष्य अपने पापकर्मों के फलभोग से बच सकता है?

प्रायश्चित्त से क्या पाप छूट जाते हैं?

इसका उत्तर 'हां' में नहीं दिया जा सकता। मनुष्य को कोई भी भूल होने पर उसे प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये। प्रायश्चित्त से, कर्मफल से न बच सकने पर भी प्रायश्चित्त की उपयोगिता है। उसी उपयोगिता का हम थोड़े शब्दों में यहां उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। यह कहा जा चुका है कि मनुष्य जब कोई भी कर्म करता है, तो उससे उसका फल मिलने के सिवा, एक वासना बना करती है। चित्त में ये वासनायें लाल, पीली, नीली आदि अनेक रंगों की रेखाओं के रूप में रहा करती है। इनका एक काम यह भी होता है कि जिस कर्म की जो वासना होती है, उसी के करने की यह भीतर से ही प्रेरणा करती रहती है। प्रायश्चित्त की उपयोगिता यह है कि उससे वासना का यह प्रेरक अंश नष्ट हो जाता है और प्रायश्चित्त करने के बाद उस दुष्कृत्य के करने की जिसका प्रायश्चित्त किया जाता है, प्रेरणा करने वाली कोई वस्तु अन्तःकरणों में बाकी नहीं रहती। यह थोड़ी बात नहीं है, इसलिये प्रायश्चित्त को, उन्नत जीवन बनाने का एक मुख्य साधन समझना चाहिये।

मन की कुछ एक क्रियायें जो अदृष्ट=प्रारब्ध से होती हैं

अस्तु! अब हमें फिर कर्मविपाक (असली विषय) पर आकर

---

१. य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्परि अद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥
(ऋग्वेद १०.६३.४)

उससे संबंधित अन्य बातों का विचार करना चाहिये। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य एक काम करना चाहता है, परन्तु उसका मन उस ओर न जाकर अन्य विषयों की ओर चला जाया करता है और यत्न करने पर भी इच्छित कार्य की ओर नहीं जाता। ऐसा क्यों होता है ? इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश तो प्रवृत्ति की बात कहते हुये पड़ चुका है, इससे सम्बन्धित कुछ बातें यहां अंकित की जाती हैं। वैशेषिकदर्शन में एक जगह अदृष्ट=प्रारब्ध से होने वाली बातों का उल्लेख है। वहां कहा गया है कि "बाहर निकल (एक शरीर से दूसरे शरीर में चला) जाना, समीप (अन्य विषयों की ओर) चला जाना, खानपान का संयोग, अन्य कर्मों के साथ संयोग, ये सब अदृष्ट=बिना देखे अर्थात् पहले किये हुये पुण्य-पाप से बने प्रारब्ध से, कराये हुए कार्य होते हैं[१]"। उपर्युक्त कार्यों पर अधिक प्रकाश पड़ जाये इसलिए उनके संबंध में कुछ बातें यहां कही जाती हैं—

पुनर्जन्म

जगत् में भिन्न प्रकार के मनुष्य, पशु-पक्षी और वनस्पतियां देखी जाती हैं, इस विभिन्नता का कारण क्या है ? जो लोग इसी एक जगत् को पहला और अन्तिम मानते हैं। वे तो उत्तर दिया करते हैं कि ईश्वर की मरजी, उसने जिसको जैसा चाहा बना दिया। इसे भी एक उत्तर तो कह सकते हैं, परन्तु यह सन्तुष्ट करने वाला उत्तर नहीं है। मनुष्यों में ही देखें, एक सुखी है, दूसरा दुःखी है, एक लंगड़ा-लूला है तो दूसरा पांव वाला, एक अन्धा है तो दूसरा समाखा इत्यादि। क्या यह सब ईश्वर ने अपनी इच्छा ही से कर दिया ? यदि ऐसा हो तो, कम से कम इसे न्याय तो नहीं कह सकते।

इस विभिन्नता का एक और समाधान

नये अहदनामे में एक जगह वर्णित है कि एक अन्धे आदमी को देखकर, ईसा के शिष्यों ने, ईसा से पूछा कि "इसके माता-पिता या स्वयं इसमें से किसके पाप से यह व्यक्ति अन्धा पैदा हुआ ?" ईसा ने उत्तर दिया कि "दोनों में से किसी के पाप से यह अन्धा पैदा नहीं हुआ बल्कि ईश्वर के कृत्यों ने अपने को इस व्यक्ति में प्रकट किया है।" रेवरेण्ड स्टेनली जौन्स ने, इस उत्तर को बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए

१. अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कायान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि॥
(वैशेषिक० ५.२.१७)

ईसा के कथन से प्रकट किया है कि यदि कोई व्यक्ति बीमार होता है अथवा अन्धा पैदा होता है तो इसमें न उस व्यक्ति का दोष है, न उसके माता-पिता का, न ईश्वर का, किन्तु यह क्लेश एक अवसर है कि उस व्यक्ति में ईश्वर के कृत्यों को प्रकट किया जाये[1]। कोई इस उत्तर को, कितना ही महत्त्वपूर्ण कहे, परन्तु यह किसी साधारण व्यक्ति को भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता। किसी विशेष व्यक्ति में ही क्यों ईश्वर के कृत्यों के प्रकट करने का अवसर दिया गया? कम से कम दुनिया के आधे आदमी अन्धे, लूले, लंगड़े अथवा अन्य प्रकार के रोगी उत्पन्न होते तो ईश्वर के कृत्य अधिक मात्रा में संसार में प्रकट होते और अधिक व्यक्तियों को अवसर प्राप्त होता कि वे उन सब लूले, लंगड़ों में ईश्वर के कृत्यों को प्रकट होते हुए देखकर काम में लायें। एक दूसरी जगह इस बात पर विचार करते हुए कि मनुष्यों में असमानता क्यों है? अन्य सम्प्रदायों ने जो समाधान पेश किए हैं, स्टेनली जौन्स ने, उनमें से तीन का उल्लेख किया है—

(१) असमानता का कारण पैतृक है। माता-पिताओं में विभिन्नता होती ही है, वही विभिन्नता सन्तान में चली आया करती है।

(२) **सांसर्गिक परम्परा**— सांसर्गिक परम्परा का अर्थ यह है कि जो बाहर के वातावरणिक, धार्मिक, राजनैतिक और शीतोष्णिक प्रभाव बालक पर पड़ते हैं, वे उसे किन्हीं के अनुकूल और किन्हीं के प्रतिकूल बनाकर असमानता पैदा कर दिया करते हैं।

(३) मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से असमानता पैदा कर लिया करता है।

स्टेनली जौन्स ने स्वीकार किया है कि उपर्युक्त तीनों मिलकर मनुष्य में जो असमानता पैदा कर दिया करते हैं। वे (तीनों) असमानता

---

१. प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

Disciples–Who did sin, this man or his parents, that he should be born blind ?

Christ–Neither hath this man sinned nor his parents. But that the works of God should be made manifest in him.

+ + + + This would lay the responsibility for sickness staight on God. But Jesus rejects that + + + + and says the calamity is an opportunity "to work the works of God." in nim. (Christ and Human Suffering by E. Stanley Jones p. 75 and 76.)

का ठीक कारण हो सकते हैं, परन्तु वे कहते हैं कि उपर्युक्त, यद्यपि असमानता का उत्तर ठीक है, परन्तु उन में ईसाइयत के उत्तर की कमी है और वह (ईसाइयत के) उत्तर की कमी यह है कि "ईश्वर, इन असमानताओं और अन्यायों को अपने हृदय में धारण करता है, जिससे वह हृदय सूली पर टूट जाये और हृदय के इस प्रकार सूली पर टूट जाने से संसार न केवल ठीक ही हो जायेगा, किन्तु उसका उद्धार भी हो जायेगा[१]।"

श्री शंकराचार्य का समाधान

स्टेनली जौन्स का यह उत्तर दार्शनिक विचार के लेबिल तक नहीं पहुंचता। इसमें ईसाइयत के प्रचार के उत्साह के सिवा और कुछ नहीं है। यह और इस प्रकार के उत्तर बीसवीं शताब्दी में दिये जाने योग्य नहीं कहे जा सकते।

शंकर स्वामी ने वेदान्तदर्शन का भाष्य करते हुए एक जगह लिखा है कि "आहुतिमय अपतत्त्वों से लिपटे हुए जीवात्मा स्वकर्मफलभोगार्थ जन्मान्तर को प्राप्त होते हैं[२]।"

शंकरस्वामी की दृष्टि में आवागमन ही असमानता का कारण है और मनुष्य एक जन्म के अपने कर्मों से ही दूसरे जन्म में, असमान भोग होने से, असमानता रक्खा करता है।

श्री कृष्णजी पुनर्जन्म के समर्थन में

गीता, जो मुख्य रीति से कर्मयोग की पुस्तक है, उसमें भी श्रीकृष्ण, अर्जुन को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि "मेरे और तुम्हारे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं, उनको मैं तो जानता हूं, परन्तु तुम नहीं जानते।[३]"

गीता की इस शिक्षा से भी स्पष्ट है कि असमानता का कारण, पिछले जन्म के कर्म हुआ करते हैं। अस्तु, अदृश्य प्रारब्ध के कराये कर्मों में सबसे पहली बात, कही जा चुकी है कि पुनर्जन्म है। मनुष्य अपने कर्मों के प्रारब्धरूपी फल से ही जन्मजन्मान्तर को प्राप्त हुआ करते हैं।

---

१. Christ and Ho\uman Suffering by E. Stanley Jones p. 59 to 62.
२. देखो वेदान्तदर्शन सूत्र ३.१.६ का शांकरभाष्य।
३. बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ (गीता ४.५)

मन का अन्य विषयों की ओर चला जाना

अदृश्य का कराया हुआ दूसरा काम यह है कि मन उसके प्रभाव से इच्छित विषय की ओर न जाकर अन्य विषयों की ओर चला जाया करता है। ऐसा क्यों होता है ? वैशेषिकदर्शनकार का कथन यह है कि पिछले संस्कार और वासनायें जिस प्रकार की हैं, उनसे बनी हुई प्रवृत्ति के प्रभाव से मनुष्य की अन्य प्रकार की इच्छा करने पर भी मन दूसरी ओर चला जाया करता है। इसी प्रकार मनुष्य जो खाया करता है अथवा अन्य कर्म किया करता है, उस पर भी पहले कर्मों का, जो प्रायः प्रारब्ध के रूप में होते हैं, प्रभाव पड़ा करता है। इस दृष्टि से कर्म के, जिन्हें मनुष्य करने वाला होता है, दो भाग किये गए हैं—

(१) एक वे हैं, जिन पर निकट भूत में किये कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ा करता। (२) दूसरे वे हैं, जिन पर प्रभाव पड़ा करता है। पहले प्रकार के कर्म शिक्षा प्राप्त करना आदि हैं, जिन पर पिछले जन्मों पर बनी वासना आदि का प्रभाव तो प्रभाव पड़ा करता है। परन्तु निकट भूत के कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ा करता। निकट भूत से अभिप्राय वर्तमान जन्म में अतिसमीप किए हुए कर्मों से है। दूसरे प्रकार के कर्मों पर इनका प्रभाव पड़ा करता है। उदाहरण के लिए मनुष्य के खानपान को ले लेवें। सभी जानते हैं कि खाना, पीना, मल, मूत्र करना स्वतन्त्र कर्म हैं, परन्तु जिस समय मनुष्य भोजन कर लेता है, तब उसके लिए मलत्याग के लिए जाना अनिवार्य है, इसी तरह यदि मनुष्य जलादि पान करता है, तब उसके लिए मूत्र त्यागार्थ जाना भी अनिवार्य है। ये मलमूत्र त्यागादि ऐसे कर्म होते हैं, जो स्वतन्त्र कर्म होते हुए भी निकट भूत के किये हुए कर्मों से, प्रभावित हुआ करते हैं। अस्तु, यहां एक बात को साफ कर देना आवश्यक है और वह यह है कि कर्म के फल से मनुष्य को सुख-दुःख हुआ करते हैं, यह बात कही जा चुकी है परन्तु सांख्यदर्शन में बन्धनरूपी दुःख के कारणों पर विचार करते हुए निम्न बातें कही गई है—

सांख्यदर्शन और दुख के कारण

(१) काल-बन्धन का कारण नहीं क्योंकि काल तो नित्य और न्यायी और सबसे सम्बन्ध रखता है[१]।

(२) इस हेतु से देश के योग से भी (बन्धन) नहीं होता[२]।

---

१. न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्॥ (सांख्यदर्शन १.१२)

२. न देशयोगतोऽप्यस्मात्॥ (सांख्यदर्शन १.१३)

(३) "बाल्य, यौवन, वृद्धतादि" अवस्थाओं से बन्धन इस कारण नहीं हो सकता कि ये देह के धर्म हैं न कि जीवात्मा के[१]।

(४) कर्म से भी बन्धन नहीं, क्योंकि (कर्म) अन्य का धर्म है और अतिप्रसंग दोष भी होगा[२]।

(५) यदि प्रकृति के बन्धन से जीव को बन्धन कहें, तो भी नहीं, क्योंकि प्रकृति को भी परतन्त्रता है[३]।

(६) उस अविद्या से भी (बन्धन) नहीं, क्योंकि अवस्तु से बन्धन सम्भव नहीं[४]।

(७) अनादि विषयवासना से भी इस (जीव) को बन्धन नहीं हो सकता[५]।

(८) सांख्यकार ने काल, देशादि उपर्युक्त सात वस्तुओं में से किसी एक को भी बन्धन अर्थात् दुःख का कारण नहीं माना, परन्तु स्वयं उन्होंने एक जगह लिखा है कि "नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव (पुरुष) को उस (बन्ध) का योग नहीं हो सकता बिना उस (प्रकृति) से सम्बन्ध के[६]। जिसका साफ मतलब है कि प्रकृति के सम्बन्ध से बन्धन होता है। यह विरोध किसलिए? इसका उत्तर यह है कि अन्य दर्शनों की शैली के विरुद्ध सांख्यदर्शन मण्डन से नहीं अपितु खण्डन से शुरू होता है और उसके खण्डन के विषय "क्षणिक, शून्य और विज्ञानवाद" हैं। प्रथम के दो वादों में कोई स्थिर सत्ता किसी वस्तु की स्वीकार नहीं की गई है और तृतीय वाद में "विज्ञान" ही एक वस्तु है, उसके सिवा और कोई भी वस्तु नहीं है, ऐसा माना गया है।" इन वादों का स्वयं दर्शनकार ने इन खण्डनात्मक सूत्रों के बीच में नाम भी लिया है। उनका थोड़ा-सा विवरण अत्यन्त संक्षिप्त रूप में यहां दिया जाता है—

क्षणिकवाद

इस वाद के सम्बन्ध में कहा गया है कि "दोनों (कर्त्ता और भोक्ता पुरुष) के एक काल में योग न होने से, उपकार्य उपकारक (कार्य-

---

१. नाऽवस्थातो देहधर्मत्वात्तस्याः॥ (सांख्यदर्शन १.१४)
२. न कर्मणाऽन्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च॥ (सांख्यदर्शन १.१६)
३. प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्॥ (सांख्यदर्शन १.१८)
४. नाऽविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धाऽयोगात्॥ (सांख्यदर्शन १.२०)
५. नाऽनादिविषयोपरागनिमित्ततोऽप्यस्य॥ (सांख्यदर्शन १.२७)
६. न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते॥ (सांख्यदर्शन १.१६)

कारक) भाव नहीं हो सकते अर्थात् जिसने पहले क्षण में कर्म किया था, वह चित्त उत्तरक्षणभावी भोक्ता से भिन्न है, फिर एक के किये हुए कर्म को दूसरा क्यों भोगे[१]।"

विज्ञानवाद

इस वाद के सम्बन्ध में सांख्य में कहा गया है कि "केवल विज्ञान ही (वस्तु) नहीं है, क्योंकि बाह्य पदार्थ प्रतीत होते हैं[२]।"

शून्यवाद

इस वाद का पक्ष यह है कि "शून्य तत्त्व है, भाव नष्ट हो जाता है, क्योंकि नाश वस्तु का धर्म है।" इसके उत्तर में वाद के लिये कहा गया है कि "बेसमझों का वृथा कथनमात्र है। क्योंकि विनाश प्रत्येक वस्तु का धर्म नहीं है, केवल सावयव पदार्थ में नाश देखा जाता है, निरवयव अथवा एकावयव पदार्थ नष्ट नहीं होते[३]।"

आवागमन (पुनर्जन्म) सुधार का कारण

जो विवरण ऊपर दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि तीनों वादों में से किसी एक में भी संसार में स्थिर सत्ता, ईश्वर, जीव और प्रकृति में से किसी एक की भी स्वीकार नहीं की गई है। ऐसी दशा में दर्शनकार ने उन्हीं को सम्बोधन करते हुए कहा है कि जब काल, देश, अवस्था, कर्म और प्रकृति आदि कोई वस्तु या तो स्थिर नहीं या है ही नहीं, तो फिर इन्हें बन्ध का कारण किस प्रकार कहा जा सकता है? और इसी प्रसंग में उन्होंने प्रकृति और अविवेक को भी बन्ध का कारण नहीं बतलाया, परन्तु जब अपने दर्शन के इस खण्डनात्मक भाग को समाप्त कर दिया तो अपना पक्ष प्रकट करते हुए क्योंकि वे प्रकृति आदि की नित्य और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते है, उन्होंने प्रकृति के अविवेक को बन्ध का कारण बतलाया और यही प्रकट करना सांख्यदर्शन का मुख्य उद्देश्य था। इसी प्रकृति का विकाररूप शरीर बन्धन का हेतु सही, परन्तु उस (शरीर) का सदुपयोग करके मनुष्य उसे बन्धन से छूटने का कारण भी बना लिया करता है। अस्तु! ईश्वर न्यायपूर्वक जहां कर्मफल दिया करता है, वहां दयापूर्वक उस कर्मफल को, उसके सुधार का

---

१. न द्वयोरेककालाऽयोगादुपकार्योपकारकभावः॥ (सांख्यदर्शन १.३१)

२. न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः॥ (सांख्यदर्शन १.४२)

३. शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य॥ (सांख्यदर्शन १.४४)
अपवादमात्रमऽबुद्धानाम्॥ (सांख्यदर्शन १.४५)

कारण भी बना दिया करता है। उसकी दया पुनर्जन्म के रूप में आये हुए जीव के कर्मफल से उस (जीव) का सुधार किस प्रकार किया करती है, यही बात यहां प्रकट की जाती है। यह प्रसिद्ध बात है जिसे प्रायः सभी जानते हैं कि मनुष्ययोनि कर्म करने और फल भोगने दोनों की योनि है, परन्तु अन्य पशु, पक्षी और वृक्षादि की योनियां केवल फल भोगने के लिये हैं। इन भोगवाली योनियों में जाने से ही मनुष्य का सुधार हुआ करता है। मनुष्य को जितनी भी इन्द्रियां मिली हैं, सदुपयोग करने के वास्ते हैं। एक उदाहरण से यह बात साफ हो जायेगी। मनुष्य को आंखें देते हुए, रचयिता ने शिक्षा यह दी है कि इन से सभी मनुष्यों को मित्र की दृष्टि से देखो, किसी के लिये भी देखते हुए, तुम्हारे हृदय में ईर्ष्या-द्वेष की भावना न हो। एक मनुष्य इस शिक्षा पर आचरण नहीं करता, सदैव आंखों का दुरुपयोग करता है, समझाना-बुझाना उसके लिये सब बेकार है। अब बतलाओ उसका सुधार किस प्रकार हो ? उसके सुधार का, अब इसके सिवा कोई तरीका बाकी नहीं रहा कि उस व्यक्ति को आंख से काम लेने से रोक दिया जाये। आवागमन से ज्ञात यही होता है कि वह यदि मनुष्ययोनि में पैदा होगा तो अन्धा पैदा होगा यदि और भी कर्म उसके दूषित हैं तो फिर किसी ऐसी योनि में पैदा होगा, जो चक्षुरहित हैं। करने से करने का और न करने से न करने का अभ्यास हुआ करता है, इसे सभी जानते हैं। इसलिये उस प्राणी की आंखों का काम बन्द हो जाने से, आंखों को, जो ईर्ष्या-द्वेष से देखने का अभ्यास था, वह जाता रहा और वह व्यक्ति सुधरी हुई आंखों के साथ फिर मनुष्ययोनि में पैदा हो जाता है। यदि किसी की एक से अधिक इन्द्रिय इसी भाँति दूषित हो जाती है तो इसी प्रकार उसकी वे सभी इन्द्रियां छिन जाती है और उनका भी उपर्युक्त भान्ति सुधार हो जाता है। यदि कोई मनुष्य इतना अधम हो जाता है कि उसके अन्तः और बहिःकरण सभी दुरभ्यासी हो जाते हैं तो उस अधम व्यक्ति से इरादा करके काम करने वाली सभी बाहर और भीतर की इन्द्रियां छिन जाती हैं और वह यदि जङ्गम योनि में पैदा होता है, तो "अमीवा" आदि इन्द्रियरहित जन्तुओं के रूप में और यदि स्थावर-योनियों में, तो वृक्षादि की योनियों में से किसी में पैदा हो जाता है, जो आम तौर से इन्द्रियरहित योनि होती है और इस प्रकार उसकी सभी इन्द्रियों का, काम बन्द हो जाने से, सुधार हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि ईश्वर की यह दया है कि

मनुष्य के न चाहने पर भी आवागमन द्वारा दण्डविधान से, उसका जबरन सुधार हो जाया करता है। यदि रेवरेंड स्टैनली जौन्स आवागमन को इस प्रकार समझ लेते हैं जो बातें उन्होंने इस (पुनर्जन्मादि के) सम्बन्ध में लिखी हैं, न लिखते[१]।

फल की दृष्टि से कर्म दो प्रकार के

अस्तु! यहां यह और जान लेना चाहिए कि वैशेषिककार ने कर्म के दो विभाग करते हुए प्रकट किया है, दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्मों में दृष्ट के अभाव में, प्रयोजन (प्रयोग या अनुष्ठान) परलोक के सुख के लिये हैं।'' अर्थात् वेद में दो प्रकार के कर्मानुष्ठान हैं। कुछ कर्मों का फल दृष्ट है जो इसी लोक और इसी जन्म में प्राप्त होता देखा जाता है, परन्तु अन्य कर्मों का फल अदृष्ट है, जो जन्मान्तर में मिलता है। उन्हीं को परलोक प्रयोजन वाला कहा जाया करता है[२]। परलोक केवल जन्मान्तर का नाम नहीं है, अपितु उस (परलोक) में, दुःखों से सर्वदा छूट जाने अथवा मुक्त हो जाने का अभिप्राय भी शामिल है। मुक्त होना क्या है? इस सम्बन्ध में कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। कर्मविपाक की यह अन्तिम गति है।

मुक्ति

एक जगह कहा गया है कि मिथ्या ज्ञान से दोष, उससे प्रवृत्ति, उस (प्रवृत्ति) से जन्म और जन्म से दुःख प्राप्त हुआ करता है, जब मनुष्य क्रमपूर्वक इनको दूर करने का यत्न करता है अर्थात् पहले उसने अपने भीतर से मिथ्याज्ञान को दूर किया, तो उससे दोष बाकी नहीं रहता, दोष के न रहने से उसकी कार्यप्रवृत्ति का नाश हो जाता है, प्रवृत्ति के नाश से, जन्माभाव हो जाता है और जन्म के न होने से मनुष्य दुःखों से छूट जाया करता है, इसी का नाम अपवर्ग (मुक्ति) है[३]। जन्म और जन्माभाव में अन्तर क्या है? जैसा प्रारम्भ में कहा गया है कि जन्म, आत्मा और शरीर के संयोग का नाम है और जन्माभाव आत्मा का शरीरों से रहित होना है। इन्हीं शरीरों से रहित होने को मुक्ति कहते हैं। एक दूसरी जगह भी इसी प्रकार की बात कही गई है—''उस कर्मारम्भ

१. देखो Christ and Human Suffering by Stanley Jones p. 55-65

२. दृष्टादृष्टयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय॥ (वैशेषिक० ६.२.१)

३. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥
(न्यायदर्शन १.२)

(आत्मा, मन और इन्द्रिय का संयोग) के अभाव में (आत्मा, मन और इन्द्रिय का) संयोग नहीं होता और संयोग के अभाव का नाम ही शरीरों से रहित होना अथवा मोक्ष है[1]।''

यहां यह बात स्पष्ट रीति से कह दी गई है कि मुक्तावस्था वह है, जिसमें कोई भी (तीन प्रकार के शरीरों में से) शरीर बाकी नहीं रहता। तीन प्रकार के शरीर का कारण, सूक्ष्म और स्थूल हैं जिनका पहले जिक्र आ चुका है। एक जगह यह बात, एक उपनिषद् में भी अच्छी तरह खोलकर कह दी गई है। वहां कहा गया है कि जब शरीर छोड़ने के बाद जीव मुक्त होता है, तो उसके साथ क्या जाता है और क्या नहीं जाता? ''पन्द्रह कलायें अपने कारण में और समस्त इन्द्रियां भी अपने कारण में चली जाती हैं। (किये हुए निष्काम) कर्मों और विशेष (अन्तर्मुखी) ज्ञान के साथ जीव अपने से सूक्ष्म और एकरस रहने वाले परमात्मा से मिल जाता है अर्थात् परमात्मा को प्राप्त कर लेता है[2]।'' वे पन्द्रह कलायें क्या हैं, जो जीवात्मा में अपने कारण में चली जाया करती हैं। प्रश्नोपनिषद् में उनका विवरण इस प्रकार दिया गया है—

१५ कलायें

(१) प्राण, (२) श्रद्धा, (३) आकाश, (४) वायु, (५) अग्नि, (६) जल, (७) पृथिवी, (८) इन्द्रिय, (९) मन, (१०) अन्न, (११) वीर्य, (१२) तप, (१३) मन्त्र (वेद), (१४) कर्म, (१५) लोक, (१६) नाम[3]। जब प्राण और वीर्य अथवा मन और इन्द्रिय को इकट्ठा कर लेते हैं, तब ये ही सोलह कलायें पन्द्रह कलायें कही जाने लगती हैं। इन कलाओं में भी इन्द्रिय की गणना की गई है और उपनिषद् के वाक्य में भी १५ कलाओं से पृथक् इन्द्रियों के अपने कारण में लीन होने की बात कही गई है। इसका कारण यह है कि एक तो असली इन्द्रियां होती हैं, जिनका स्थान मनुष्य का मस्तिष्क होता है और

---

१. तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥ (वैशेषिक० ५.२.१८)

२. गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥
(मुण्डकोपनिषद् ३.२.७)

३. स प्राणमसृजत प्राणच्छ्रद्धां खं वायुः ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्।
मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यम् तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च॥
(प्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्न) ?

दूसरे इन्द्रियों के गोलक। इन्द्रिय गोलक १५ कलाओं में आ गए, बाकी रही असली इन्द्रियां। उनको उपनिषद्वाक्य में पृथक् लिख दिया गया है। तात्पर्य यह है कि इस समय न सूक्ष्म इन्द्रिय रह जाती है, न इन्द्रियगोलक। बाकी सब कुछ १५ कलाओं में आ गया। इस प्रकार मोक्षावस्था प्राप्ति पर केवल शुद्धात्मा रह जाता है। प्रकृति का किसी प्रकार का सूक्ष्म, स्थूल अथवा कारणशरीर बाकी नहीं रहा करता। ऐसा आत्मा अपने विशुद्ध ज्ञान और वासना रहित कर्म (इन्हीं के योग को धर्म कहते हैं) के साथ, तीनों प्रकार के दुःखों "(१) आध्यात्मिक=काम क्रोधादि, (२) आधिभौतिक=सिंह, व्याघ्र, चोर आदि से पहुंचने वाले तथा (३) आधिदैविक=अग्नि, वायु, बिजली आदि से पहुंचने वाले" से छूटकर मुक्त हो जाता है। मनुष्य के पुरुषार्थ की, जैसा कहा गया है, अन्तिम गति यही मुक्ति है। कुछेक सज्जन, कर्म का निरादर करते हुए कह दिया करते हैं कि मुक्ति केवल ज्ञान से होती है। ऐसा कहने वालों में, मुख्य स्थान शंकरमतानुयायी नवीन वेदान्तियों का है[१]। परन्तु स्वयं वेदान्त दर्शन में, जिसकी टीका के आधार से यह (माया) वाद चला है, इसे (मुक्ति को) केवल ज्ञानजन्य नहीं कहा है।

मुक्ति के मुख्य साधन ज्ञान और कर्म

वेदान्त का यह प्रकरण बड़ा मनोरंजक है। हम थोड़ी-सी उसकी यहां चर्चा करते हैं—

वेदान्त दर्शन और मुक्ति के साधन

वेदान्त में एक जगह बादरायण के प्रमाण से ब्रह्मज्ञान से मुक्ति का होना कथन किया गया है[२]। उसके बाद जैमिनि का मत प्रदर्शन किया

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश आदि में, शंकराचार्य के सम्प्रदाय मायावाद को नवीनवेदान्त लिखा है, परन्तु असल में स्वामी जी इस वाक्य के प्रारम्भ करने वाले नहीं थे। इससे पहले सांख्यदर्शन के सूत्र "नाऽविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धाऽयोगात्" (सांख्य० १.२) के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने उन्हें नवीनवेदान्ती लिखा था। विज्ञानभिक्षु के शब्द ये हैं—"अनयैव न रीत्या नवीनानामपि प्रच्छन्नबौद्धानां मायावादिनाम-विद्यामात्रस्य तुच्छस्य बन्धहेतुत्वं निराकृतं वेदितव्यम्।"

२. पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः॥ (वेदान्त० ३.४.१)

नोट—इस सूत्र में अतः शब्द से, पूर्वपादोक्त "गुणोपसंहारज्ञान" की अनुवृत्ति लेकर ज्ञान से मोक्ष का कथन है।

गया है कि जैमिनि आचार्य ऐसा कहते हैं कि जैसे अन्य प्रकरणों में है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान को कर्मकाण्ड का शेष होने से (उसके द्वारा) मुक्ति का कथन है[१]। बादरायण के मत में कर्म का निरादर नहीं किया गया है, इसीलिये आगे लिखा है कि (ऋषि-मुनियों तथा जनकादि का) आचरण देखने से भी पाया जाता है कि वे ज्ञान और कर्म दोनों का अवलम्ब लेते थे[२]।'' यह बात, वेद द्वारा श्रवण होने से प्रमाण मानने योग्य है[३] फिर दर्शनकार ने लिखा है कि ''समन्वारम्भ शब्द से'' भी ज्ञान और कर्म दोनों का साधन होना पाया जाता है[४]। तथा ''कर्म वाले को ज्ञान का उपदेश पाये जाने से भी'' दोनों को आवश्यक ठहराया है[५]।

फिर दर्शनकार ने कहा है कि ''नियम पाये जाने से भी'' मुक्ति के लिये ज्ञान और कर्म दोनों का होना आवश्यक है[६]। नियम का तात्पर्य वेदप्रतिपादित नियम से है। वेद ने इस संबंध में बड़ी मनोरंजक और स्पष्ट शिक्षा दी है। वेद में एक जगह कहा गया है—''वे जो, (ज्ञान की उपेक्षा करके केवल) कर्म का सेवन करते हैं, अंधकार में प्रवेश करते हैं और उससे भी अधिक वे जो (कर्म की उपेक्षा करके केवल) ज्ञान में रत (निमग्न) होते हैं[७]।'' अर्थात् ज्ञान की उपेक्षा करने के मुकाबिले में वेद ने उपर्युक्त शिक्षा देने के बाद उपदेश किया है—''जो ज्ञान और कर्म दोनों को साथ-साथ काम में लाते हैं, वे कर्म के द्वारा मृत्यु को पार करके ज्ञान के द्वारा अमरत्व को प्राप्त करते हैं[८]।''

---

१. शेषत्वाद् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः॥ (वेदा० ३.४.२)

२. आचारदर्शनात्॥ (वेदान्त० ३.४.३)

३. तच्छ्रुतेः॥ (वेदान्त० ३.४.४), कुर्वन्नेवेह कर्माणि ×× (यजुर्वेद १०.२)

४. समन्वारम्भणात्॥ (वेदान्त० ३.४.५)
नोट—बृहदारण्यकोपनिषद् के वाक्य का यहां हवाला दिया गया है। वह वाक्य इस प्रकार है—
''तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते॥'' (बृहदा० ४.४.२)
अर्थात् उस मुक्ति में जाने वाले के साथ ज्ञान और कर्म सम्यक् प्रकार से जाते हैं।

५. तद्वतो विधानात्॥ (वेदान्त० ३.४.६)

६. नियमाच्च॥ (वेदान्त० ३.४.७)

७. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ (यजुर्वेद ४०.१२)

८. विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (यजुर्वेद ४०.१४)

गीता में भी कर्म का महत्त्व प्रकट किया गया है। जब गीता के दूसरे अध्याय के अंत में कृष्ण महाराज ने कर्म से ज्ञान की श्रेष्ठता प्रकट की तो तीसरे अध्याय के प्रारम्भ ही में, अर्जुन ने उनसे पूछा कि—"यदि तुम्हारे मत में कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है तो तुम, हे केशव! किसलिये (युद्ध जैसे) घोर कर्म में मुझे लगाते हो[१] ?" तो इन प्रश्नों के उत्तर में कर्म की महिमा प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि "तू नियत कर्म कर क्योंकि अकर्मता से तो कर्म करना श्रेष्ठ है! क्योंकि अकर्मता से तो शरीर भी कायम नहीं रह सकता[२]।"

अस्तु, वेदान्तदर्शनकार ने नियम की बात कहते हुए, बादरायण मुनि के सम्बन्ध में प्रकट किया है कि "अधिक स्पष्ट उपदेश से तो बादरायण का ऐसा ही तात्पर्य है (कि कर्मपूर्वक ज्ञान होना चाहिये) उसका कथन स्पष्ट देखने से[३]।" यहां दर्शनकार ने बादरायण और जैमिनि की सम्मतियों में मेल दिखला दिया। क्यों यह मेल दिखलाया, इसका उत्तर दर्शनकार ने दिया है, इसलिये कि "दोनों के दर्शन तुल्य हैं[४]" अर्थात् बादरायण और जैमिनि के दर्शनों में अविरोध है, इसलिये उनके मतों में भी समता होनी चाहिये। फिर उन्हीं (दर्शनकार) ने केवल ज्ञान से मुक्ति होने से सम्बन्ध में स्पष्ट कह दिया कि "यह सार्वत्रिक नियम नहीं है[५]।" अर्थात् कोई-कोई ऐसा भी मानते हैं, परन्तु अधिकतर कर्म और ज्ञान दोनों से ही मुक्ति का होना स्वीकार करते हैं। दर्शनकार ने इस प्रकरण को समाप्त करते हुए ज्ञान और कर्म के लिये कहा कि इनका "विभाग १०० के समान है[६]" अर्थात् ५०-५० का योग सौ होता है, इसी तरह से कर्म और ज्ञान का विभाग है। अर्थात् मोक्ष के लिये जिस प्रकार ज्ञान की जरूरत है, उसी प्रकार कर्म की भी।

---

१. ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (गीता ३.१)

२. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (गीता ३.८)

३. अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्॥ (वेदान्त० ३.४.८)

४. तुल्यं तु दर्शनम्॥ (वेदान्त० ३.४.९)

५. असार्वत्रिकी॥ (वेदान्त० ३.४.१०)

६. विभागः शतवत्॥ (वेदान्त० ३.४.१०)

सांख्यदर्शन और मुक्ति

सांख्यदर्शन में प्रकृति और उसकी विकृति के यथार्थज्ञान होने को मुक्ति का कारण बतलाया गया है और कर्म को मोक्ष का कारण नहीं कहा। एक जगह सांख्य में कहा गया है कि "काम्य (सकाम) और अकाम्य (निष्काम) में भी साध्यत्व (साधनजन्य) की समानता से" (दु:ख वा बन्ध की निवृत्ति नहीं[१]) फिर इसके आगे कहा गया है कि "स्वरूप से मुक्त को पराकाष्ठा का बन्ध नाशमात्र है, (इसलिये) समानता नहीं[२]।" अर्थात् यदि केवल कर्म से मुक्ति हो, तो आत्मा का साक्षात् सच्चिन्मात्र स्वरूप से नहीं होता परन्तु विवेक (ज्ञान) से मुक्ति हो, तो उस निजमुक्त (स्वरूप से मुक्त) का बन्धन पूर्णतया नष्ट हो जाता है। इसलिये कर्म द्वारा मोक्ष को ज्ञानजन्य मोक्ष की समानता नहीं। इन तथा इस प्रकरण के (दर्शनान्तर्गत) अन्य सूत्रों पर दृष्टि डालने से यह बात साफ हो जाती है कि दर्शनकार ने केवल कर्म से मुक्ति होने का निषेध करते हुये उसको यदि हो भी तो उसे गौणता दी है। परन्तु असल में केवल कर्म से मुक्त होने का प्रश्न तो कहीं उठाया ही नहीं गया, जो लोग कर्म को मुक्ति का साधन मानते हैं, वे ज्ञान की उपेक्षा नहीं करते, किन्तु उनका कथन है कि ज्ञान और कर्म दोनों से ही मुक्ति होती है। अत: स्पष्ट है कि इस ओर प्रकरण में, सांख्यदर्शन का वेद अथवा वेदान्त और मीमांसा आदि से विरोध नहीं। विरोध उस समय हो सकता था, यदि कोई इनमें से केवल कर्म से मुक्त होने का प्रतिपादन करता।



१. काम्येऽकाम्येपि साध्यत्वाऽविशेषात्॥ (सांख्य० १.८५)
२. निजमुक्तस्य बन्धत्वं समानं परं न समानत्वम्॥ (सांख्य० १.८६)

बारहवां अध्याय

सकाम और निष्काम कर्म

वेद में एक जगह शिक्षा दी गई कि "कर्म करते हुये ही, मनुष्य, सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। परन्तु शर्त यह है कि वे करने वाले को लिप्त न करें अर्थात् मनुष्य उनमें फंस न जाये, इससे भिन्न और कोई मार्ग नहीं है[१]।" मंत्र का भाव स्पष्ट है कि मनुष्य के लिये उसके उद्देश्य की पूर्ति का, एक ही मार्ग है और वह यह है कि वह कर्म करे परन्तु इस प्रकार से करे कि वे उसके बंधन में लाने का कारण न बनें। कर्म के बंधन में लाने न लाने की दृष्टि से, कर्म दो प्रकार के होते हैं—

(१) सकाम कर्म (२) निष्काम कर्म—जो कर्म सांसारिक फल की इच्छा रखकर किये जाते हैं, वे सकाम और फल की इच्छा न रख और केवल अपना धर्म (कर्त्तव्य) समझकर जो किये जाते हैं, वे निष्काम कर्म कहे जाते हैं।

दोनों प्रकार के कर्मों का मुख्य अन्तर

इन दोनों प्रकार के कर्मों का मुख्य अन्तर यह है कि सकाम कर्म से वह वासना उत्पन्न होती है जिसका इससे पूर्व उल्लेख हो चुका है और जिसका काम यह होता है कि जिस प्रकार के कर्म की वह वासना है, इसी प्रकार कर्म करने की भीतर से प्रेरणा करती रहती है। योगदर्शन का भाष्य करते हुए व्यासमुनि ने एक संचार-चक्र की बात कही है। वह चक्र (पहिया) छः अरों वाला होता है—मनुष्य इच्छा करके कर्म करता है, उसका फल सुख फिर उपर्युक्त प्रकार का इच्छानुकूल कर्म कराता है, उससे फिर सुख और सुख से फिर वही सुख की वासना और उससे फिर वही इच्छा। इस प्रकार (१) इच्छित कर्म, (२) इसका फल सुख और (३) सुख की वासना, ये चक्र के तीन अरे हैं। इसी प्रकार (१) द्वेष से पूर्ण कर्म, (२) उसका फल दुःख और (३) उस दुःख से बनी, दुःख की वासना, ये चक्र के दूसरे तीन अरे हैं।

संसारचक्र

इन छः अरों से बना चक्र, संसारी पुरुषों को बराबर चक्र में रखता

---

१. कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजुर्वेद ४०.२)

है। इसी चक्र को संसारचक्र कहते हैं। इसी चक्र में रहने का नाम, कर्म में मनुष्य का लिप्त होना या यों कहिए कि कर्म का मनुष्य में लिप्त होना है। जब तक यह राग-द्वेषजन्य वासना मनुष्य के अन्तःकरणस्थ चित्त के अन्तर्गत रहती है। तब तक मनुष्य इस संसारचक्र अथवा मरने जीने के चक्र से निकल नहीं सकता परन्तु निष्काम कर्म करने से कर्म करने का अभ्यास बनने पर भी यह बन्ध में रखने वाली वासना नहीं बना करती इस प्रकार निष्कामकर्मकर्त्ता, निष्काम कर्म करते हुए, आवागमन के बन्धन से छूट जाया करता है। न संसारचक्र उसे अपने लपेट में ले सकता है और न यह वासना के जाल में ही फंस सकता है। इस (संसार) चक्र में फंसे हुए प्राणी इससे किस प्रकार निकल सकते हैं? इसका उपाय और एकमात्र उपाय सकामता का निष्कामता में परिवर्तन करना है। इस परिवर्तन से प्रभावित मनुष्य, निष्काम कर्म करने का अभ्यास करके, वासनाओं का नाश करता है। उनके न रहने से, सुख-दुःख भी पृथक् हो जाते हैं और सुख-दुःख के न रहने से उनकी वासनायें भी नहीं बन सकती। इस प्रकार चक्र के छओं अरे निकम्मे होकर चक्र टूट जाता है और मनुष्य उसके बन्धन से बाहर हो जाता है। यह शिक्षा वेद और उपनिषद् की है। गीता में भी इसी शिक्षा का समर्थन किया गया है। एक जगह गीता में कहा गया है कि "विद्वान् लोग काम्य (सकाम) कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं। असली त्याग समस्त कर्मों के फल का त्याग ही कहा जाता है[१]।"

गीता और कर्मयोग

फिर एक दूसरी जगह कहा गया है—कर्म का त्याग (संन्यास) और कर्मयोग (फल त्याग की इच्छा के साथ कर्म करना) दोनों ही श्रेयस्कर हैं। तो भी कर्म त्याग से कर्मयोग की विशेषता है[२]।" गीता में योग अथवा कर्मयोग किसे कहा गया है? यह बात गीता के निम्न वाक्यों से प्रकट होती है—

"हे अर्जुन, कर्म के फल का त्याग करते हुये, एकाग्रचित्त होकर

---

१. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा॥ (गीता १८.२)

२. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ!
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ (गीता ५.२)

कर्म कर। उस कर्म की सिद्धि और असिद्धि दोनों में समता का भाव रख, इसी समता को योग कहते हैं[१]''

(३) फिर एक और जगह कहा गया है—

बुद्धियुक्त (ज्ञानी) होकर यहां अच्छे और बुरे कर्मों में (फल की इच्छा) मनुष्य छोड़ देता है, इसलिए तू योग की प्राप्ति के लिये उसमें लग, वह योग कर्म में कुशलता ही का नाम है[२]। क्यों, इस फल की इच्छात्यागरूपी योग में मनुष्य को लगना चाहिए? इसका उत्तर गीता में इस प्रकार दिया गया है—''कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फल में कदापि नहीं, इसलिए तू कर्मफल (की इच्छा) का हेतु मत बन, न अकर्मता से अपना नाता जोड़[३]।'' प्रारम्भ से लेकर अन्त तक समस्त गीता की, कर्मफल के सम्बन्ध में, यही टोन है। वह कर्म करने की शिक्षा देने में सबसे बढ़कर है, परन्तु चाहती है कि जो कुछ करो सब ईश्वर के अर्पण करते हुए करो। अपने स्वार्थ के सम्बन्ध को उसका रखना पाप समझो।

क्या निष्काम बनना सम्भव है?

कुछेक महानुभावों के हृदय में शंका उत्पन्न हुआ करती है कि इस प्रकार यह सम्भव है कि कोई मनुष्य निष्काम हो जाये? वह इच्छा किये बिना संसार में कोई काम नहीं कर सकता। अच्छे से अच्छे काम के लिए भी इच्छा करने की जरूरत हुआ करती है। इस शंका का समाधान यह है कि निष्काम कर्म करने की प्रेरणा करने वाले भी यह नहीं कहते कि मनुष्य इच्छा न करे। वह ईश्वर की ओर चलना चाहता है, धर्म समझकर कोई काम करना चाहता है, किसी मुसीबत में फंसे हुए को उससे छुड़ाना चाहता है अथवा इसी प्रकार के कोई अन्य कृत्य, जिनमें उसका, अपने लिए लेशमात्र भी (सांसारिक) स्वार्थ नहीं है, करना चाहता है, तो इसमें से कोई भी कृत्य इच्छारहित नहीं हो सकता। इसलिए यह समझना भूल है कि निष्कामता के हामी यह चाहते हैं कि

---

१. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ (गीता २.४८)

२. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ (गीता २.५०)

३. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २.४७)

मनुष्य इच्छारहित हो जाये। उनका कहना केवल यह है कि तुम कर्म करते हुए अपने किसी ऐसे स्वार्थ का उससे सम्बन्ध न जोड़ो जिसके द्वारा तुम किन्हीं प्राकृतिक सुखों की अपने लिए कामना करते हो। प्राकृतिक सुखों का अभिप्राय अपने लिए धन, पुत्र, स्त्री, सांसारिक मान–प्रतिष्ठा आदि की इच्छा करना है। इस प्रकार की इच्छायें बन्धन में रखने वाली वासनायें पैदा करती हैं। अन्य, ईश्वरप्राप्ति अथवा लोकोपकार करने आदि की इच्छाएं बन्धन में लाने और बन्धन को दृढ़ रखने वाली नहीं पैदा करती।

क्या निष्काम कर्म करना घाटे का सौदा है?

कुछेक महापुरुषों के हृदय में एक और दूसरे प्रकार की शंका उत्पन्न होती है कि अपने लिए इच्छा न करके निष्काम रहने से, मनुष्य कर्म करके भी घाटे में ही रहेगा? इसके लिए उनका कहना यह है कि जब तुम किसी से कुछ चाहते ही नहीं हो, तो तुम्हीं को क्यों कुछ देने लगा? इस प्रकार की शंका करने वाले एक नियम की बात को भुला देते हैं और वह बात यह है कि कर्म विज्ञान का तो एक अटल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य कर्म करके उसके फल से, न इच्छा रखने पर भी बच नहीं सकता। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म है, उसका वैसा ही फल अवश्य मिलेगा, इसलिए फल की इच्छा करके मनुष्य अपने लिए बन्धन पैदा कर लेवे, इससे अधिक और उसे लाभ कुछ नहीं, क्योंकि किए कर्म का फल तो अवश्य ही मिलेगा। यहां हम एक उदाहरण देते हैं जिससे इन दोनों प्रकार के कर्मों के अच्छे और बुरे दोनों पहलू भलीभांति प्रकट हो जायेंगे—

एक उदाहरण

एक सकामवादी गृहस्थ के घर में पुत्र का जन्म हुआ। पुत्रोत्पत्ति के साथ ही उसने ख्याली घोड़े दौड़ाने शुरू किये और उसके साथ अनेक आशायें बांधनी शुरू कर दीं कि पुत्र बड़ा होकर उसको बहुत धन देगा और अनेक प्रकार की सेवा–शुश्रूषा करेगा इत्यादि। पुत्र के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के होने की सम्भावना है। कल्पना करो, वह अच्छा हुआ तब तो उस गृहस्थ की समस्त आशायें पूरी हो गईं, परन्तु यदि अच्छा न हुआ और उस (पुत्र) ने माता–पिता को कष्ट दिया, तब उस गृहस्थ की समस्त आशाओं पर पानी फिर गया और उसे क्लेशित होना पड़ा। हमने देख लिया कि सकामवादी गृहस्थ को, पुत्र के अच्छा न होने और

इसी कारण उसकी आशाओं के पूर्ण न होने से दुःख उठाना पड़ा। अब दूसरे निष्कामवादी गृहस्थ को देखो—उसके घर में भी एक पुत्र पैदा हुआ। उसने अपने सिद्धान्त के अनुकूल उस पुत्र के साथ कोई आशाएं नहीं बांधी, किन्तु पुत्र की रक्षा करते हुए, उसके अच्छे बनाने को अपना कर्त्तव्य स्थिर किया। अब कल्पना करो कि पुत्र अच्छा हुआ और उसने माता-पिता की अच्छी सेवा की, तो इससे उस गृहस्थ को पहले गृहस्थ की अपेक्षा अधिक प्रसन्नता हुई, क्योंकि आशा की पूर्ति से तो प्रसन्नता होती ही है, परन्तु बिना किसी आशा के ही, किसी को यदि कुछ मिल जाये तो उसमें उसे अधिक प्रसन्नता होती है। अब कल्पना करो कि पुत्र अच्छा नहीं हुआ और उसने कोई अच्छा सलूक, माता-पिता के साथ, नहीं किया, तब भी इस दूसरे गृहस्थ को कुछ कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि सकामवादी गृहस्थ की तरह इसने पुत्र के साथ कोई बांधी ही नहीं थी। संसार में क्लेश तो आशा की पूर्ति न होने से ही हुआ करता है जैसा कि एक कवि ने कहा है—

रहती थी यास[१] दिल में तो खटका न था कोई।
उम्मीद ही ने डाल रक्खा है अज़ाब[२] में॥

उदाहरण से स्पष्ट है कि सकामवादी गृहस्थ को एक सूरत में कष्ट भोगना पड़ा, परन्तु निष्कामवादी को किसी सूरत में भी कोई तकलीफ नहीं उठानी पड़ी। अब विचार कर देखो कि सकामता और निष्कामता दोनों में से कौन महंगा सौदा है?

निष्काम कर्म और उपयोगितावाद

कर्म के आदर्श पर दृष्टिपात करने से यह स्वीकार करने के लिये बाधित होना पड़ता है कि इस देश तथा पश्चिमी देशों के आदर्शों में पूर्व और पश्चिम ही का अन्तर भी है। हमारे देश में कर्म का आदर्श निष्कामता है। तुम यदि किसी की सेवा करते हो, तो यह ख्याल मत करो कि तुम उस दुःखग्रस्त व्यक्ति पर कोई अहसान करते हो, किन्तु तुम्हारे भीतर जो भावना होनी चाहिये वह यह कि तुम अपने एक पवित्र कर्त्तव्य का पालन कर रहे हो। यह है निष्काम कर्म का आदर्श, परन्तु पश्चिमी देशों में जो आदर्श इस समय मिलता है, वह है उपयोगितावाद का! इस वाद का अभिप्राय यह है कि कोई काम न करो, जब तक उसे अपने

१. यास=निराशा, २. अज़ाब=क्लेश।

स्वार्थ की सिद्धि न होती हो। इस वाद के पक्षपोषकों का कहना है कि दया, उपकार आदि सब निरर्थक शब्द हैं। यदि कोई कहता है कि वह किसी पर दया या अहसान करता है, तो यह बात झूठ है, वह सबकुछ अपनी स्वार्थसिद्धि के ही लिये करता है। उदाहरण के लिये माता को लीजिये। कहा जाता है कि माता बड़ा उपकार बच्चे पर करती है। अपने किये भोजन का सर्वोत्तम अंश, दूध के रूप में बच्चे को देती है परन्तु उपर्युक्त वाद के पोषक कहते हैं कि यह भी गलत है। माता के स्तनों में दूध पैदा हो जाता है और जब तक वह न निकले माता के लिए कष्ट का कारण रहता है, इसलिये माता, बच्चे पर दया करके नहीं अपितु अपने कष्ट के निवारणार्थ बच्चे को दूध पिलाया करती है। इन महापुरुषों से कोई पूछे कि माता बच्चे का मलमूत्र अपने किस स्वार्थ की पूर्ति के लिये साफ करती है? क्या माता उस बच्चे को छोड़कर उससे बेसुध नहीं हो सकती थी? फिर क्यों उसकी देखभाल करती है?

उपयोगितावाद में सत्य और आचार का मूल्य

इस स्कूल के एक विद्वान् ने तो सत्य और आचार दोनों का उन्मूलन करने का यत्न किया है। वह कहता है—"किसी कार्य के परिणाम की ओर ध्यान देने के बाद ही उसकी नीतिमत्ता निश्चित की जानी चाहिये। यदि मेरा यह विश्वास हो कि झूठ बोलने से ही कल्याण होगा तो मैं सत्य बोलने के लिये कभी तैयार नहीं रहूंगा। मेरे इस विश्वास में यह भाव भी हो सकता है कि इस समय झूठ बोलना ही मेरा कर्त्तव्य है[१]।"

यहां लैज़ली स्टीफिन्स ने यदि सत्य की अवहेलना करने की शिक्षा दी है, तो एक-दूसरी जगह जॉन स्टुआर्ट मिल ने चोरी करना जायज ठहराया है, मिल ने लिखा है कि "इस प्रकार जान बचाने के लिए चोरी करना न केवल विहित, अपितु उसका करना कर्त्तव्य होगा[२]।"

उपयोगितावाद की इन उपर्युक्त शिक्षाओं तथा इसी प्रकार की अन्य शिक्षाओं के प्रभावों से प्रभावित होकर सत्य तथा आचार के सम्बन्ध में पश्चिमी देशों का दृष्टिकोण ही बदल-सा गया प्रतीत होता

---

१. Leslie Stefhen's Science of Ethics, Ch IX Sec. 29, p. 369 (2nd Edition).

२. "Thus to save a life, it may not only be allowable but a duty to stal." (Mill's Utilitarianism Ch : V p. 95. 15th Edition.)

है। एक विद्वान् ने एक जगह लिखा है—"किसी अंग्रेज लड़के को कभी सत्य बोलना नहीं सिखलाया जाता केवल इसीलिये कि उसमें सत्य के लिये प्रेम न पैदा हो। प्रारम्भ से ही, उसे जो सिखलाया जाता है वह केवल यह कि प्राथमिकता क्या है इसकी परवाह न करे, जो कुछ उसे परवाह करनी चाहिये, वह केवल इस बात की कि व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार कोई घटना अपने पक्ष की सिद्धि में प्रयुक्त की जा सकती है[१]।"

पश्चिमी आचार-शास्त्र

आचार-शास्त्र के अध्यापक प्रोफेसर सिजविक ने निर्णीत ठहराया है—

(१) "छोटे लड़कों और पागलों को उत्तर देने के समय, रोगियों को उनका रोग-निवारण देते समय, चोरों और अन्याय से प्रश्न करने वालों को उत्तर देते समय, अथवा वकीलों को अपने व्यवसाय में झूठ बोलना अनुचित नहीं है[२]।"

(२) फिर एक जगह सिजविक ने लिखा है—"यद्यपि कहा गया है कि सबको सच बोलना चाहिये तथा हम नहीं कह सकते, कि जिन राजनीतिज्ञों को अपनी कार्यवाही गुप्त रखनी पड़ती है, वे अन्यों के साथ अथवा व्यापारी अपने ग्राहकों के साथ, हमेशा सच ही बोला करें[३]।"

(३) एक और जगह इसी प्रकार की रियायत पादरियों और सिपाहियों को भी दी गई है।

(४) जॉन स्टुआर्ट मिल ने भी, अपने उपयोगितावादी सम्बन्धी ग्रन्थ में, उपर्युक्त अपवादों में से अनेक का समर्थन किया है[४]।

---

१. No English boy is ever taught to speak the truth for the very simple reason that he is never taught to desire the truth. From the vary fist he is taught to be totally careless as to whether a fact is a fact. He is taught to care only whether the fact can be used on his side when he is engaged in playing the game (Passing of Empire by H.F. Hall, I.C.S.)

२. Sidgwick's method of Ethics, Book III Ch : XI, sec. 6, p. 355 (7th Edition) Also see p. 315 to 317).

३. Do. Book IV Ch: III Sec. 7., p. 454 and Book II Ch: V sec. 3 p. 169.

४. Mill's Utilitarianism, Ch. II p. 33 and 34 (15th Edition.)

(५) इन अपवादों का प्रारम्भ, ईसा के शिष्य, पाल ने किया था। उसने एक जगह कहा है—"यदि मेरे असत्य भाषण से प्रभु के सत्य की महिमा अधिक बढ़ती है (अर्थात् ईसाई धर्म का प्रचार होता अथवा बढ़ता है) तो इससे मैं पापी क्योंकर हो सकता हूं।" पाल के शब्द ये हैं—

"For if truth of God hath more abounded through my lie unto His Glory; why yet am I also Judged as a sinner[१]"

नोट—ईसाई मत के इतिहासकार मिल मैन (Mill man) ने लिखा है कि प्राचीन ईसाई पादरी प्रायः इसी प्रकार का आचरण, ईसाई धर्मप्रचार में किया करते थे।

इस प्रकार के अपवादों का उल्लेख करने पर कई देशी और विदेशी विद्वान्, महाभारत में भी ऐसे ही अपवादों के होने की बात कह दिया करते हैं। हम उनका भी यहां उल्लेख किये देते हैं—

(१) "हंसी में, विवाह के समय, स्त्रियों के साथ, जब जान पर आ बने तथा समस्त सम्पत्ति के जाने पर उसकी रक्षा के लिये झूठ बोलना पाप नहीं है[२]।"

महाभारत और सत्य के अपवाद

ये पांच स्थल हैं, जहां केवल वाचक सत्य (शब्दोच्चारण मात्र) और सर्वभूतहित में अंतर या विरोध होता है, वहां असत्य भाषण की अनुमति दी गई है, परन्तु अनुमति देते हुये उसे न आवश्यक बताया गया है और न कर्तव्य ठहराया गया है, किन्तु श्रेष्ठता सत्यभाषण ही को अन्त में दी गई है, परन्तु योरुप में व्यवहार (व्यवसायादि) में असत्य विहित ठहराया गया है। (२) वे मनुष्य जो अपने वा दूसरे के लिये तथा हंसी में भी झूठ नहीं बोलते वे स्वर्गगामी होते हैं[३]।

अस्तु, अब हमें फिर अपने विषय पर आ जाना चाहिये। कहा यह जा रहा था कि आदर्श के भेद से पूर्व में निष्कामवाद और पश्चिम में उपयोगितावाद का जन्म हुआ। दोनों वादों पर एक दृष्टि डालने से, निष्काम कर्म की महत्ता प्रत्येक पर प्रकट हो जाती है।

१. Romans 3. 7.

२. न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति, न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
(महाभारत आ० ८२.१६, शांतिपर्व १०९, तथा मनुस्मृति ८, ११०)

३. आत्महेतोः परार्थे वा नर्म हास्याद्भयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥ (महाभारत अनु० ११४.१६)

तेरहवां अध्याय

कर्मसम्बन्धी कुछेक फुटकर बातें

इस अध्याय में हम कुछेक ऐसी बातों का उल्लेख करना चाहते हैं, जो कर्म और उसके फलभोग से सम्बन्धित हैं और उनका अब तक विवरण नहीं दया गया।

क्या जीव मुक्तावस्था में कर्त्ता और भोक्ता होता है?

सांख्यकार ने एक जगह लिखा है कि प्रकृति और पुरुष के साक्षात् कर लेने को तत्त्व कहते हैं और तत्त्वज्ञानी होने (मोक्ष प्राप्त कर लेने) पर दोनों (कर्तृत्व और भोक्तृत्व) नहीं रहते[१]। तात्पर्य इसका स्पष्ट है कि मोक्ष में जीवात्मा शुद्ध अपने स्वरूप में हो जाता है, किसी प्रकार का प्राकृतिक बन्धन शरीरादि के रूप में भी बाकी नहीं रहता, इसलिये जगत् में जिसे शरीरादि के द्वारा किये कर्म और उन्हीं के द्वारा उपलब्ध भोग कहते हैं, बाकी नहीं रहते, अवश्य शुद्ध आत्मा आनन्द का अनुभव करता है और ईश्वर को भी स्मरण करता है, क्योंकि वही एकमात्र उसके आत्मिक चिन्तन का विषय रह जाता है और उसी के चिन्तन और उपलब्ध समीपता से वह असीम आनन्द प्राप्त करता है।

फिर वह मुक्तावस्था से लौटता क्यों है?

इस उच्च अवस्था को प्राप्त करने से उसे छोड़कर फिर जगत् में आने का प्रकट में तो कोई कारण प्रतीत नहीं होता, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव अल्पज्ञ है और यह अल्पज्ञता का स्वभाव उससे कभी छूट नहीं सकता, यह अल्पज्ञता, उसके प्रत्येक कर्म और प्रत्येक प्रकार के चिन्तन को प्रभावित किये रहती है, जिससे जीव सदैव जीव ही रहता है। जहां ईश्वर की चेतना, उसका ज्ञान और कर्म सर्वज्ञता से प्रभावित रहते हैं, वहां जीव की चेतना, उसके ज्ञान और कर्म को, अल्पज्ञता से प्रभावित रखती है। अपनी इस अल्पज्ञता के प्रभाव से जीव जो मुक्ति के साधनों को काम में लाता है, उनमें भी कमियों के रहने की संभावना हुआ करती है। परन्तु मुक्तिदाता उन कमियों को मनुष्य के मुक्ति प्रास करने में बाधक इसलिए नहीं होने देता कि उन (मनुष्यों) का सामर्थ्य, इतना ही होता है, जिससे प्रेरित होकर, वे इससे अधिक पूर्णता अपने

---

१. नोभयं च तत्त्वाख्याने॥ (सांख्य० १.१०७)

पुरुषार्थ में नहीं ला सकते। इसलिए ज्ञान की कमी जीव को, मुक्ति प्राप्त कर लेने पर भी, अन्य जीवों की अपेक्षा, जिन्होंने मुक्ति प्राप्त नहीं की, भले सर्वज्ञ कह लें, परन्तु ईश्वर की अपेक्षा जीव सदैव अल्पज्ञ ही रहता है। इस अल्पज्ञता तथा मुक्ति के कर्मों के ससीम होने से, मुक्ति प्राप्त करने के बाद भी, एक समय उसे (जीव को) मुक्ति से लौटने के लिये बाधित होना पड़ता है। इसीलिये सांख्यदर्शन में एक जगह कहा गया है कि "(ज्ञान से) इतर अर्थात् कर्म का फल भी, दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं है[१]।" क्योंकि सभी कर्म प्रकृति के संग (शरीरों के मेल) से बना करते हैं और प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणवाली है, इसलिये इन गुणों से बढ़कर असीम फल कर्मों का नहीं हो सकता।

एक योनि छोड़कर क्या दुःख-सुख होता है?

जब जीव आवागमन के चक्र में रहता है और एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रविष्ट होता है, तो क्या इन दोनों के बीच के मार्ग में जीव को दुःख-सुख हुआ करता है। सांख्यकार ने इसका उत्तर निषेधपरक दिया है[१]। सांख्यकार कहते हैं कि "संप्रति (संसृति के समय में) दोनों से (सुख-दुःख से जीव) मुक्त होता है[२]।" स्पष्ट है कि दुःख-सुख भोगने के लिये स्थूलशरीर का होना आवश्यक है और उस समय स्थूल शरीर होता नहीं, इसलिये कर्म करने अथवा उनका फल दुःख-सुख भोगने का प्रश्न, उस बीच वाले मार्ग के पथिक के लिये उठ ही नहीं सकता, जो लोग सूक्ष्मशरीर वालों की दुनिया ही अलग बतलाया करते हैं अथवा जो लोग भूत प्रेत की सम्भावना प्रकट किया करते हैं अथवा जो शव के साथ पिंड आदि रक्खा करते हैं, उन सबके कथन और कृत्यों का खण्डन इस सूत्र से होता है।

क्या कर्म करने का सबको अधिकार है?

वेद ने कर्म करने का अधिकार मनुष्यमात्र को दिया है, किसी प्रकार की रुकावट किसी वर्ण अथवा जाति के लिये नहीं रक्खी गई है। एक जगह पूर्वमीमांसा में इस पर बड़ी मनोरंजक बहस की गई है। मीमांसाकार ने कहा है कि "कर्म फल के लिए होने से शास्त्र सब के अधिकार वाला है[१]।" अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि

१. इतरस्याऽपि नात्यन्तिकम्॥ (सांख्य० ३.२७)
२. सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम्॥ (सांख्य० ३.६)
३. फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्॥ (पूर्वमीमांसा ६.१.४)

वेदादि शास्त्रों का अध्ययन और तदनुकूल कर्म करे। इस पर एक महापुरुष 'एतिशायन' का कथन है कि पुल्लिग का कथन कर्मविधायक वाक्यों में पाये जाने से पुरुष के ही यज्ञादि कर्मों का अधिकार है[१]। एतिशायन ने अपने कथन की पुष्टि में कहा है कि अज्ञात गर्भ के हनन में दोष का श्रवण पुल्लिगोक्ति से पाया जाता है[२]। "अविज्ञाते गर्भे हते भ्रूणहा" अर्थात् इस वाक्य में कहा गया है कि अज्ञात गर्भ के हनन करने से पुरुष भ्रूणहत्यारा बनता है। भ्रूण का नाम यज्ञ का है, इसलिए भ्रूण का ही अर्थ यज्ञहन्ता है। एतिशायन कहता है कि पुल्लिग के प्रयोग से यह बात प्रकट होती है, जिस गर्भ में पुरुष हो उस गर्भहन्ता को ही यज्ञहन्ता कह सकते हैं, जिसमें स्त्री हो उसको नहीं, अत: स्पष्ट है कि स्त्री को यज्ञाधिकार नहीं है। "एतिशायन" प्रतीत यह होता है कि योरुप के उस स्कूल का प्रतिनिधि था, जिसमें एक समय यह माना जाता था कि स्त्रियों में रूह नहीं होती (Woman has no Soul) अन्यथा लोपामुद्रा, सुलभा, गार्गी और मैत्रेयी आदिकों के देश में यह कौन कहने का साहस कर सकता था कि जिस गर्भ में स्त्री हो, उसका हन्ता यज्ञहन्ता नहीं? उचित रीति से उसका उत्तर जैमिनि ने बादरायण के हवाले से कह दिया है कि बादरायण मुनि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों में पुल्लिगनिर्देश को जाति का बोधक मानते हैं, क्योंकि उन (पुरुषों) में कोई विशेषता नहीं पाई जाती। जाति के अर्थ में, स्त्री पुरुष दोनों तुल्यरीति से ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये स्त्रियों को भी समस्त शास्त्रों के अध्ययन और समस्त कर्मों के करने का पूर्ण अधिकार है[३]। जैमिनि मुनि ने जो परिणाम निकाला है उसके लिये उन्होंने कहा है कि वेदप्रतिपादित होने से भी (स्त्रियों को यज्ञाधिकार है)[४]। अर्थात् उनका कथन वेद से भी पुष्ट है।

स्थिर आयु का प्रश्न

आयु कर्म का फल बतलाकर उसकी अवधि कुछ घण्टों से लेकर सैकड़ों वर्ष तक की नियत कहे जाने का विश्वास सर्वसाधारण में फैला

---

१. लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः॥ (पूर्वमीमांसा ६.१.६)

२. तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते॥ (पूर्वमीमांसा ६.१.७)

३. जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयते जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्॥ (पूर्वमीमांसा ६.१.८)

४. चोदितत्वाद्यथाश्रुति॥ (पूर्वमीमांसा ६.१.९)

हुआ है। कुछेक पढ़े लिखे लोग भी, ऐसा ही विश्वास रखते हुये, अपनी पुष्टि योगदर्शन के उस प्रसिद्ध सूत्र से करते हैं, जिसमें वर्णन किया गया है—"यदि क्लेशमूल (कर्म) बाकी रहेगा तो उसका फल योनि, आयु और भोग होते हैं[1]।"

इस प्रकार की वर्षों के हिसाब से, स्थिर आयु मानने का विचार भ्रममूलक है। उपर्युक्त सूत्र का आशय भी यह नहीं है। संसार में जितनी भी योनियां हैं, उनमें से प्रत्येक के अपवादों को छोड़कर पृथक्-पृथक् आयु नियत है, जैसे हाथी, ऊंट, कुत्ता, शेर, हिरण आदि साधारणतया कितने-कितने वर्ष जीते हैं, यह सब नियत है। अपवाद के तौर पर वह आयु कम और ज्यादा भी हो सकती है। इसी प्रकार मनुष्य योनि की आयु भी १०० वर्ष नियत है। सूत्र का भाव यह है कि पाप अथवा पाप-पुण्य मिश्रित कर्मों का फल योनि और उसके साथ नियत आयु और भोग हुआ करते हैं। इस सूत्र के भाष्य के प्रसंग में व्यासमुनि ने लिखा है कि क्लेश रहने से कर्मसमूह विपाकारम्भी होता है, छिन्नक्लेश होने से नहीं, जैसे तृणरहित चावल। यहां प्रश्न यह है कि—

(१) क्या एक कर्म एक जन्म का कारण होता है? उत्तर स्पष्ट है कि नहीं।

(२) क्या एक कर्म अनेक जन्मों का कारण होता है? इसका भी उत्तर निषेधपरक ही है?

(३) क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण होते हैं? युगपत् जन्म सम्भव न होने से इसका उत्तर भी निषेधपरक ही दिया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि जन्म प्राप्ति के बाद से किये हुये कर्म और उससे पूर्वकाल की एकत्रित वासनायें, दोनों मिल और अभिव्यक्त होकर एक जन्म दिया करती हैं, परन्तु इस जन्म के बाद अब पिछला कोई कर्म अथवा पिछली कोई वासना बाकी ही नहीं रही, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्लेश और कर्मविपाक के अनुभव से बनी हुई वासनाओं से, चित्र के सदृश चित्त चित्रित और मूर्छित-सा रहता है, जब तक चित्त की यह दशा रहती है, वह पिछले कर्म और वासनाओं से मुक्त नहीं समझा जा सकता। अस्तु, वर्षों के हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति की पृथक्-पृथक् आयु मानने का विचार, जैसा कि कहा जा चुका है,

---

१. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥ (योगदर्शन २.१३)

भ्रमपूर्ण है। हां, योनि की साधारण आयु अवश्य वर्षों के हिसाब से नियत है। एक जगह वेद में भी ऐसी ही बात कही गई है—

"जहां इस ब्रह्म द्वारा सूखपूर्वक जीवन की परिधि (नियत) की जाती है, वहां गाय, घोड़ा, पशु और मनुष्य सभी जीवित रहते हैं[१]।"

इससे प्रत्येक योनि के जीवन की परिधि नियत होने की ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। मनुष्ययोनि की १०० वर्ष की आयु नियत है, यह बात अनेक शास्त्रों में वर्णित है, जैसे—

(१) तुझे १०० वर्ष की आयु के लिये (जगत् में) लाता हूं[२]।

(२) हम १०० वर्ष देखें, सुनें और अदीन रहें[३]।

(३) १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करें[४], इत्यादि।

परन्तु इस १०० वर्ष की आयु का घटा या बढ़ा लेना मनुष्य के अधिकार में हुआ करता है। अच्छे कर्मों से, जिनका फल नियमित जीवन हुआ करता है, मनुष्य की आयु बढ़ जाया करती है और इसी प्रकार बुरे कर्मों से घट भी जाया करती है। इसीलिए वेद में लिखा है कि मनुष्यों को अपने कर्मों को संभाले हुए १०० वर्ष से भी अधिक जीने की इच्छा करनी चाहिये।

(१) हम १०० वर्ष से भी अधिक जीवित रहें[५]।

(२) ३०० वर्ष से भी अधिक आयु ईश्वर हमको प्राप्त करावे[६]।

कई विद्वानों का कहना है कि ऐसे स्थानों पर आया हुआ शत शब्द अवधारणवाची नहीं अपितु बहुवाची हुआ करता है। हमें इसके स्वीकार कर लेने में भी कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि १०० वर्ष से अधिक आयु का होना तो इससे भी सिद्ध हो जाता है।

मनुस्मृति में एक जगह लिखा है कि "सतयुग के मनुष्य रोगरहित होते और सर्वार्थ की सिद्धि रखा करते थे। इसलिये उनकी आयु ४००

---

१. सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
सत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिं जीवनाय कम्॥ (अथर्ववेद ८.२.२५)

२. त्वा हरामि शतशारदाय॥ (अथर्ववेद ८.२.२)

३. पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं+ + +॥ (यजुर्वेद ३६.२४)

४. जिजीविषेच्छतं समाः॥ (यजुर्वेद ४०.२)

५. भूयश्च शरदः शतात्॥ (यजुर्वेद ३६.२४)

६. त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ (यजुर्वेद ३.६२)

वर्ष की होती थी। इसके बाद के त्रेता, द्वापर और कलियुग में उनकी आयु एक-एक पाद घटती गई, अर्थात् ४०० से ३००, २०० और १०० की रह गई[१]।''

उपर्युक्त अवधि ठीक हो या न हो, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि सदाचार से आयु की वृद्धि और कदाचार से आयु का ह्रास हुआ करता है। अस्तु, स्थिर आयु व्यक्तियों की नियत हुआ करती है या नहीं, यह प्रश्न है; जिस पर इस प्रकरण के समाप्त होने से पहले कुछ प्रकाश पड़ना चाहिये। वेदादि सत्शास्त्रों में, जहां तक मेरी वाक़फियत है, इस सम्बन्ध में स्पष्ट शिक्षा नहीं मिलती, परन्तु उनके देखने से जो प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है, वह यह है कि वर्ष की अपेक्षा यदि स्थिर आयु की कल्पना की जाये, तो उसका श्वासों पर निर्भर होना अधिक युक्तिसंगत होगा। एक जगह ऋग्वेद में लिखा है कि—''वह श्रेष्ठकर्मा आदित्यब्रह्मचारी सदैव हमें अच्छे मार्ग में करे और प्राण हमारी आयु को परिपूर्ण करे[२]।'' यहां आयु की पूर्ति का साधन प्राण और वृद्धि के कारण सुकृत बतलाये गये हैं। ऐसे वाक्य अन्य जगहों में भी मिलते हैं, जिनसे प्राणों (श्वासों) पर आयु का निर्भर होना समझा जा सकता है। प्राणों के शीघ्र अथवा दीर्घ चलने से नियत श्वासों के भीतर रहते हुए भी, वर्षों के लिहाज़ से, आयु न्यूनाधिक हो सकती है, यह बात ऐसी नहीं है, जिसमें संदेह किया जा सकता हो।

नये पुरुषार्थ का पुराने कर्मफल पर पड़ाव

एक और प्रश्न है, उस पर भी प्रकाश पड़ना आवश्यक है और वह है प्राप्त कर्मफल में न्यूनाधिक का होना। यह बात कही जा चुकी है कि किये हुये कर्मों का जब फल मिलने लगता है, तब उसका नाम प्रारब्ध हो जाता है। कर्म यदि पुरुषार्थ अथवा तदबीर है, तो उसका फल प्रारब्ध, भाग्य या तकदीर है। कुछ लोगों का मत ऐसा है कि प्राप्त कर्मफल में, कितना ही नया पुरुषार्थ क्यों न किया जाये, किसी प्रकार की कमीवेशी नहीं हो सकती, परन्तु यह बात युक्ति और प्रमाण दोनों के विरुद्ध है। यहां एक बात समझ लेने योग्य है कि प्राप्त फल दो प्रकार

---

१. अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृतत्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥ (मनु० १.८३)

२. स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्। प्राणः आयूंषि तारिषत्॥ (ऋग्वेद १.२५.१२)

के हुआ करते हैं, एक तो मनुष्यादि की योनि के रूप में और दूसरे उस योनि में रहते हुय प्राप्त दुःख-सुख के रूप में। जब यह कहा जाता है कि प्राप्त कर्मफल में परिवर्तन हो सकने की संभावना है, तो उसका अभिप्राय दूसरे प्रकार के फल अर्थात् दुःख-सुख में परिवर्तन हो जाने से है। एक उदाहरण से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकेगी—

एक उदाहरण

एक प्राणी कर्म-फलानुसार, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मनुष्य योनि में उत्पन्न हुआ है और उसने असावधानी से अपने को स्वास्थ्यरक्षा के विरुद्ध कर्म करके रोगी बना रखा है, परन्तु रोग जो फलरूप में प्राप्त है, चिकित्सारूपी नया कर्म करने से दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार एक दरिद्री अपनी दरिद्रता को दूर अथवा कम कर सकता है। वेद में आयुर्वेद की शिक्षा इसलिये दी गई है कि उसका प्रयोग करके रोगी अपने को रोगमुक्त कर सके। जब कर्म का फल मिलना अनिवार्य है, तो इसका सबब क्या है कि एक कर्म के फल से मनुष्य रोगी तो हो जाये, परन्तु दूसरे चिकित्सारूप कर्म के फल से वह अच्छा न होवे ? यह बात कही जा सकती है कि अनेक रोगी चिकित्सा से भी तो अच्छे नहीं होते, उसका कारण यह हुआ करता है और वह कारण पुरुषार्थ का समय पर न करना अथवा चिकित्सकों की अल्पज्ञता से, ठीक औषधि का उपचार न करना आदि ही हो सकता है।

व्यास का मत

यहां, विषय को स्पष्ट करने के लिए योग के व्यासभाष्य में से, व्यास जी की सम्मति, इस विषय में क्या है ? प्रकट करते हैं—"ऊपर जो एक जन्म का देने वाला कर्मसमूह कहा गया है, वह दो प्रकार का है—एक नियतविपाक और दूसरा अनियतविपाक वाला। इनमें से नियतविपाक वाले कर्म का फल जन्म होता है। जो अनियतविपाक कर्मसमूह है, उसकी गति ३ प्रकार की है—(१) अपक्वफल (कृतस्याविपक्वस्य नाशः) का नाश, (२) प्रधानकर्म में (आवापगमनम्) असंयोग अर्थात् न्यूनता, (३) प्रधानकर्म (नियतप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम्) द्वारा, नियतविपाक का अभिभूत-अनादृत अथवा चिरकाल तक निष्फल रहना।"

इसी प्रसंग में, व्यासजी ने भाव स्पष्ट करने के उद्देश्य से लिखा है कि कर्मों की दो गति या राशि समझनी चाहियें। (१) पापकर्म, (२)

पुण्यकर्म। इनमें से मनुष्य के पाप, उसके किये अच्छे कृत्यों के नाशक होते हैं। इसी प्रकार व्यास जी पुण्य पाप के[१] जन्मदाता कर्मसमूह को नियतविपाक और अन्य प्रकार के फलदाता कर्मसमूह को अनियत-विपाक वाला कहा है। यही बात फल का प्रकार बतलाते हुए ऊपर कही गई है। अनियतविपाक में ही परिवर्तन हुआ करते हैं। एक मनुष्य को उसके दुष्टकर्म से ज्वर हुआ, अब यह बात उसके अधिकार में है कि और दुष्टकर्मों में वृद्धि करते हुये, उसे क्षय के रूप में बदल देवे, अथवा शुभकर्म चिकित्सा आदि के द्वारा उसे कम या दूर कर देवे। इससे यह बात भलीभांति साफ हो गई कि अनियतविपाक वाले कर्मसमूह का विपाक अर्थात् सुख-दुःख, नये कर्मों से बदला वा दूर किया जा सकता है।

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय का एक उपयोगी एवं प्रासंगिक लेख—

कर्मफल की समस्या

कर्मफल की समस्या समस्त धार्मिक समस्याओं में विकटतम समझी जाती है। यह इतनी जटिल है कि बहुतों ने अपना पीछा छुड़ाने के लिये इसके मानने से इंकार कर दिया है। ईसाई और मुसलमान भारतीयों के पुनर्जन्मवाद पर व्यङ्ग्य उड़ाते हुए, इसको कर्मफल की भूल-भूलैया बताया करते हैं। वे समझते हैं कि इस व्यंग्य से वह समस्या की जटिलता से बच सकेंगे। जो लोग पुनर्जन्म को मानते हैं, उनके सिद्धान्त भी भिन्न-भिन्न हैं। हम देखते हैं कि बहुत से लोगों ने इस विषय में अपने-अपने सिद्धान्तों की कल्पना कर ली है। ये कल्पनाएं आगे चलकर कितनी आपत्तियां उत्पन्न कर देती हैं इसका अनुमान वही लोग कर सकते हैं जिन्होंने समस्याओं के मूल तक पहुंचने का श्रम उठाया हो, यों तो मन को सान्त्वना सभी दे लेते हैं। परन्तु यह सान्त्वना स्थिर होनी चाहिए। क्षणिक सान्त्वना से कुछ काम नहीं चलता और प्रायः यह भ्रान्तिमूलक तथा व्यवहार अवस्था में दुखदायी होती है। हम बहुत से

---

१. देखो योगदर्शन २.१३ का व्यासभाष्य—"तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशः यथा शुक्लकर्मोदयात् इहैव नाशः कृष्णस्य। यत्र इदमुक्तम्-द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुम्॥"

अकर्त्तव्य कर्म इसीलिए कर बैठते हैं या कर्त्तव्य कर्मों से जी चुराते हैं कि हमको कर्म और फल की समस्याओं का उचित ज्ञान नहीं।

पहला प्रश्न यह है कि कर्म फल की समस्या का विचार कहां से आरम्भ किया जाए, जब तक आरम्भ बिन्दु (Starting Point) निश्चित न हो जाए, उस समय तक हम अवश्य ही भूल भुलैयों में पड़े रहेंगे और किसी निश्चित परिणाम पर न पहुंच सकेंगे।

जिन लोगों ने कर्म फलवाद के सिद्धान्तों से इंकार कर दिया है और जो इस सिद्धान्त को मानते हैं, उनमें क्या कोई समुदाय भी है।

थोड़ी देर उनके भावों का विश्लेषण कीजिए। कर्म फलवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक को दुःख और सुख अपने कर्मों द्वारा मिले। जो जैसा करे वह वैसा पावे। यह सिद्धान्त सभी लोगों को अभिमत है। यदि इससे सर्वथा इंकार कर दिया जाए, तो संसार का कोई काम न चले। किसी पुरुष को यह सह्य नहीं है कि वह काम करे और उसका उसको फल न मिले या दूसरा आदमी काम न करे और उसको फल मिल जाए।

किसी स्कूल के विद्यार्थियों से पूछो, परीक्षा का समय है प्रश्न-पत्र हाथ में है, सभी उसको हल करने का यत्न कर रहे हैं। क्यों ? इसलिए कि जो सबसे अच्छा पर्चा करेगा उसको सबसे अधिक अंक मिलेंगे। उसकी सबसे अधिक कीर्ति होगी। कल्पना कीजिए कि मोहन ने सबसे अच्छा पर्चा किया और सोहन ने बुरा। अब अगर मोहन को सबसे कम नम्बर मिलें और सोहन को सबसे अधिक तो इसका क्या परिणाम होगा। सोहन को हर्ष अवश्य होगा। परन्तु मोहन के जी से पूछो! मोहन कहेगा, "इस अन्धेर नगरी में रहने से क्या लाभ जिसमें टके सेर भाजी ले लो या टके सेर खाजा। मैं क्यों श्रम करूं जब मुझे कुछ नहीं मिलना।" सोहन की यह खुशी भी क्षणिक ही होगी। क्योंकि सोहन यह समझेगा कि बिना परिश्रम के मुझे नम्बर मिल सकते हैं अतः मुझे श्रम करने की क्या आवश्यकता थी। ऐसी अवस्था न तो अध्यापकों को सह्य होगी और न विद्यार्थियों को।

किसी कारखाने को लीजिए। एक अध्यक्ष के अधीन सैकड़ों आदमी काम करते हैं। उनकी योग्यता, बुद्धि तथा श्रम के अनुकूल उनको वेतन दिया जाता है, जो अधिक योग्यता का कार्य करते हैं उनको अधिक रुपया मिलता है। जो अति साधारण कार्य करते हैं उनका वेतन

भी अल्प होता है। यदि किसी कारखाने का अध्यक्ष इसके विपरीत करने लगे और अकर्मण्य को अधिक वेतन और परिश्रमशील को कम दे तो सभी कार्यकर्ता निरुत्साह हो जाएँ और असन्तोष की आग कारखाने को शीघ्र ही भस्म कर दे।

किसी राज्य पर दृष्टि डालिए। राज्य क्या है! एक बड़ा भारी कारखाना जिसमें भिन्न-भिन्न योग्यता के भिन्न-भिन्न मनुष्य कार्य कर रहे हैं और अपने-अपने कर्मों के अनुकूल फल पा रहे हैं, सबसे उल्लंघन होता है और इस नियम की अधिक उच्च शृंखलता ही उस राज्य की अधोगति का चिन्ह है।

ये तीन दृष्टान्त विद्यार्थियों, कारखानों और राज्य के जो हमने यहां दिए कर्मफलवाद के मानने वालों और न मानने वालों दोनों में समान ही हैं। अर्थात् इतना कर्मफलवाद सभी को माननीय है। अन्य पारलौकिक सिद्धान्त चाहे कुछ भी क्यों न हो।

यह सिद्धान्त इतना सर्वतन्त्र क्यों है! क्या कारण है कि इस सिद्धान्त से कोई भी इंकार नहीं कर सकता! शायद आप कहें कि कुछ लोग इसके विरोधी हैं। नवयुग का जो दल साम्यवादी कहलाता है, वह योग्यता और श्रम पर विचार नहीं करता। वह चाहता है कि संसार के सभी मनुष्य समान सुख और सम्पत्ति को भोग सकें। परन्तु साम्यवादी भी वस्तुतः इतने साम्यवादी नहीं हैं कि वह कर्मफल के बन्धन से तिलांजलि दे दें। वह केवल अन्धेर नगरी को मिटाना चाहते हैं। कभी-कभी समाज इतना पतित हो जाता है कि निठल्ले लोग हलवा खाते हैं और श्रमशील भूखों मरते हैं। जब यह बात पराकाष्ठा को पहुंच जाती है तो एक समय आता है कि समाज में उसके प्रति घृणा उत्पन्न होकर साम्यवाद की लहर चलती है। जहां-जहां ऐसी क्रान्ति करने की आवश्यकता पड़ी है, वहां वस्तुतः कर्मफल के बन्धनों से लोग मुक्त हो चुके थे। यह क्रान्ति उन बन्धनों को फिर से स्थापना के लिए ही हुई।

इससे यह सिद्ध हो गया कि यह सर्वतन्त्र ही है। कोई इससे इन्कार नहीं कर सकता। सर्वतन्त्रता बताती है कि यह सिद्धान्त सर्वव्यापी भी होना चाहिए। यह मेरे या आपके या किसी एक मनुष्य समूह के मस्तिष्क की उपज होता तो कोई न कोई तो उसका विरोधी अवश्य ही मिलता। परन्तु ऐसा नहीं है। इससे हम कह सकते हैं कि वे नियम प्राकृतिक या अपौरुषेय हैं, मनुष्य की गढ़न्त नहीं।

अगर हम यह मान लें कि जैसा करेंगे वैसा ही भोगेंगे तो यह भी मानना आवश्यक ही है। जैसा भोग रहे हैं वैसा ही किया होगा, जो आप की अपेक्षा भविष्य है वह कल की अपेक्षा वर्तमान या भूत हो जायेगा और जो आज वर्तमान या भूत है, वह कुछ दिन पहले अवश्य ही भविष्य रहा होगा। यह कल्पना नहीं किन्तु अकाट्य युक्ति है जिसका खण्डन हो ही नहीं सकता।

मैं इस पिछली बात को और अधिक स्पष्ट कर दूं। हर एक ईसाई और मुसलमान को पुनर्जन्म या कर्मफलवाद मान्य नहीं। वह मानता है कि यदि धर्म के अनुकूल चलोगे, तो भविष्य में आनन्द या स्वर्ग मिलेगा और यदि अधर्म पर चलोगे तो दुःख या नरक भोगोगे। यह क्यों! इसलिए ''जैसा बोवोगे वैसा काटोगे'' का सिद्धान्त उसको अभिमत है। यदि वह ऐसा न मानें तो अपने धर्म का उपदेश क्यों करें ? यदि उसके बताये हुए धर्म पर न चलने से भी सुख या स्वर्ग मिल सकता है तो उसके उपदेशों से क्या लाभ! यह रही भविष्य की बात, परन्तु किसी ईसाई या मुसलमान से पूछो कि तुम्हारा वर्तमान अगर अभी भविष्य हो जाएगा तो क्या तुम्हारा यह वर्तमान किसी भूतकाल का भविष्य न रहा होगा अर्थात् यदि आज के धार्मिक कृत्य अगले सुख कारण हो सकते हैं तो आज के सुख किसी पिछले कर्म का फल क्यों न होंगे ? या तो यह मानो कि हमारा यह वर्तमान ऐसा वर्तमान है, जिसका भूतकाल है ही नहीं और यदि इसका कोई भी भूतकाल है, तो इन वर्तमान सुख या दुःखों का कारण अवश्य रहा होगा।

अब विचार कीजिए। आप यह मानते हैं कि हमारे आने वाले सुख या दुःखों का कारण हमीं होंगे, दूसरा कोई नहीं, यदि दूसरा हो तो हम अपने कर्म में स्वाधीन नहीं। हम तो परतन्त्र हो गए। कैसे ? सम्भवतः आप नहीं समझे, फिर सोचिए। यदि मेरे सुखों का कारण दूसरे किसी व्यक्ति के कर्म हो सकते हैं, तो मेरा सर्वस्व उस व्यक्ति के अधीन हो गया। मैं क्या कर सकता हूं! मुझे तो उसका ही मुख ताकना चाहिए। क्योंकि जैसा वह करेगा वैसा पाऊंगा। क्या यह कर्म की स्वतन्त्रता है! कदापि नहीं, मैं तो उसी के आश्रय हो गया जिसके कर्मों से मुझे फल मिलेगा। कल्पना कीजिए कि पिता के कर्मों का फल पुत्र के सुख या दुःख का कारण होता है। तो पुत्र अपने कर्मों में स्वतन्त्र कैसे रहा! वह

तो पिता की इच्छा के अधीन हो गया। पिता चाहे तो उसके लिए दुःख का सामान कर दे और चाहे सुख का।

कुछ लोग आसानी के लिए यह मान बैठते हैं कि हमारे कुछ सुख और दुःख का कारण हमारे कर्म हैं और कुछ का हमारे पिता के कर्म। परन्तु यदि यह नियम मान लिया जाए तो यह प्रश्न उठेगा कि अपने कर्म गौण या पिता के कर्म या दोनों की प्रतिष्ठा समान रूप से है। यदि एक के कर्मों को गौण और दूसरे के कर्मों को मुख्य माना जाए तो कोई अवस्था न बन सकेगी क्योंकि गौणता और मुख्यता के लक्षण करने के लिए किसी तीसरी निरपेक्ष वस्तु की आवश्यकता होगी। समान रूप मानने का कोई अर्थ ही नहीं। क्या पिता और पुत्र के कर्म का एक ही मूल्य है और यदि है तो क्यों! सारांश यह है कि इस सिद्धान्त के मानने में इतनी आपत्तियां हैं कि हम को इससे कुछ भी शान्ति नहीं मिल सकती।

अच्छा तो यह मान ही लेना पड़ा कि हमारे वर्तमान अच्छे या बुरे कर्मों का फल आगे के सुख या दुःख के रूप में मिलेगा। अब प्रश्न रहा वर्तमान के सुख और दुःख का। यह सुख और दुःख हम भोग रहे हैं हमारे ही कर्मों का फल होना चाहिए। न्यायदर्शन में कहा भी है—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः॥ (३.२.६०)

अर्थात् पहले किये हुए कर्मों के फल से शरीर आदि की उत्पत्ति होती है। हम जब से उत्पन्न होते हैं उसी समय से दुःख या सुख हमको होते रहते हैं।



चौदहवां अध्याय

बुद्धधर्म और कर्मस्वातन्त्र्य

भारतीय दृष्टिकोण, कर्म के सम्बन्ध में क्या है ? इसका विवरण देने और उसके बाद पश्चिमी विचार उपस्थित करने से पहले, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कर्म के सम्बन्ध में बुद्धमतानुयायी क्या मानते हैं और स्वयं गौतम बुद्ध ने इस सम्बन्ध में क्या शिक्षा दी है ? यह बात पाठकों के सम्मुख रख दी जाये, क्योंकि बुद्ध की शिक्षायें भारतीय शिक्षा का ही एक अंग है। बुद्ध ने स्वयं भी यह बात एक से अधिक जगहों पर कही है कि वह कोई नया सम्प्रदाय नहीं चलाना चाहता है, किन्तु प्राचीन (वेद के) धर्म का ही पुनरुद्धार करना चाहता है। अस्तु, इस सम्बन्ध में, किसी भूमिका को स्थान न देकर कर्म और कर्मस्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में बुद्धमत की शिक्षायें क्या हैं ? उनका यहां उल्लेख किया जाता है। जैन धर्म में भी लगभग कर्म के सम्बन्ध में इसी प्रकार और इसी से मिलती जुलती बातें कही जाती हैं, इसलिये उनके पृथक् लिखने की जरूरत नहीं है।

बुद्धमत में कर्म के लिये माना जाता है कि उसका फल अनिवार्य रीति से मिला करता है। बुद्ध के प्रादुर्भूत होने से पहले और उस समय भी, जब बुद्ध का प्रादुर्भाव हो चुका था, इस देश में संशयवादियों के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। एक ऐसे ही सम्प्रदाय वालों का, जिसका आचार्य 'अजीता' था, विचार था कि न कोई कर्म है, न उसका कोई अच्छा या बुरा फल है, न कोई परलोक है, न इस लोक ही की कोई वास्तविकता है—इत्यादि, परन्तु इन और ऐसे ही अन्य विचारों के लिये, बुद्धमतानुयायी, मिथ्याचार कहा करते थे[१]।

एक और जगह लिखा है कि यदि उन कारणों को दूर कर दिया जाये जिनसे बुराई पैदा हुआ करती है, तो उस बुराई का पैदा होना अवश्य बंद हो जायेगा[२]।

फिर एक जगह लिखा है कि यदि स्वयं बुद्ध ने, संयम पर बल देते हुए, शिक्षा दी थी कि (१) शुभाशुभ कर्मों से शुभाशुभ फल निकला

---

१. Buddhism by Rhys Davids p. 86.

२. Do. p. 94.

करते हैं। (२) चावल (धान) बोने से धान ही पैदा होते हैं। (३) ईख अथवा शहद से मिठास मिला करती है, इत्यादि[१]।

फिर एक जगह बुद्धधर्म के लिये, यह प्रकट करते हुये कि उसने (वैदिकधर्म से भिन्न) अपने लिये कोई नया आचार नहीं बनाया था, बतलाया गया कि तुम अच्छे बन जाओ, तुम्हें अवश्य अच्छी योनि मिलेगी और बुरे बनने से बुरी योनियों में जाना पड़ेगा। अवश्य यहां बुद्धधर्म ने शिक्षा यह दी है कि संस्कार, यज्ञादि का शुभकृत्यों में समावेश नहीं है, बुद्धमतानुसार शुभकर्म केवल वे हैं जिनसे किसी को कष्ट न पहुंचे, अपितु उनकी (अन्यों की) कुछ भलाई ही हो सके। सदाचार और संयम के साथ रहना भी शुभकर्मों के अंग हैं[२]।

फिर एक जगह बतलाया गया है कि किन्हीं लोगों को संदेह हो जाया करता है कि अच्छा कर्म करते हुये भी बुरा फल मिल जाया करता है, परन्तु इस का प्रतिवाद करते हुये बुद्धधर्म ने शिक्षा यह दी है कि यदि तुम अपने कर्मों पर ठीक रीति से ध्यान रखोगे, तो प्रकट हो जायेगा कि अच्छे कर्म का अच्छा फल मिलता है और बुरे का बुरा, और यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि मनुष्यों का त्रुटिपूर्ण न्याय, प्राकृतिक नियमों के मर्यादानुकूल अचूक न्याय का मुकाबिला नहीं कर सकता। तुम जो बोओगे, उसी के अनुकूल फसल काटोगे[३]।

गौतम बुद्ध द्वारा प्रदत्त शिक्षाओं में से, जो बौद्धधर्म के ग्रन्थों के अवगाहन से प्राप्त होती हैं, उन सब में सबसे अधिक बल कर्म करने पर दिया गया है।

श्रीमती राइस डैविड्स ने, नये अहदनामे के उस प्रसिद्ध प्रश्न, जिसे क्राइस्ट के एक शिष्य ने, एक अन्धे को देखकर, क्राइस्ट ने किया था कि "स्वामिन्! इस व्यक्ति या इसके माता-पिता में से किसने पाप किया था, जिससे यह व्यक्ति अन्धा पैदा हुआ है?" उद्धृत करते हुये लिखा है कि यद्यपि हम इस (अन्धे होने) का कारण पैतृक प्रभाव बतलायेंगे और यहूदी लोग भी ऐसा ही उत्तर देंगे, परन्तु बुद्धधर्म साफ कह देगा, कि इस अन्धे व्यक्ति के अन्धे होने के कारण उसके पिछले जन्म या जन्मों के कर्म हैं[४]।

---

१. Do. p. 119 (अभिधम्म पिटक के आधार से) २. Do. p. 121.

३. बुद्धिज्म Buddhism by Rhys Davids p. 122 and 123.

४. Do. p. 124.

गौतम बुद्ध ने अपने इकलौते पुत्र से कहा कि "राहुल! जब तुम कोई कर्म करना चाहो, तो पहले यह सोचो कि क्या वह कर्म तुम्हारे, अन्यों अथवा दोनों के लिये हानिकारक है। यदि है, तो समझ लो कि वह कर्म बुरा और अकर्त्तव्य है। श्रीमती डैविड्स ने बुद्ध की इस शिक्षा को, उपयोगितावाद समझा है[१]। परन्तु जब बुद्धधर्म प्राकृतिक न्याय पर विश्वास करता है जिसके द्वारा कर्म स्वयमेव अच्छा या बुरा फल पैदा कर लिया करते हैं[२], तब बुद्धधर्म का कर्मवाद, उपयोगितावाद से सर्वथा भिन्न वाद ठहरता है। अस्तु, एक बात और भी कही जाती है कि समझदार और विचारशील बुद्धमतानुयायियों के लिये, उनके सदाचार को लक्ष्य में रखते हुये, कर्मनियम, मानो उनकी प्रवृत्ति यह मानने की ठहराते हैं कि एक सर्वज्ञ नियन्ता कर्मों का साक्षी है और वही उनका फल दिया करता है[३]। कम्म (कर्म) शब्द पाली भाषा में, मनसा, वाचा, कर्मणा, तीनों प्रकार के कर्त्तव्यों का द्योतक है। बुद्ध ने कर्म के सम्बन्ध में कहा जाता है, कि शिक्षा यह दी है कि मनुष्य अपने कर्म का स्वामी और विधाता है, अपने कर्म का उत्तराधिकारी है, उनके कर्म उनका गर्भाशय (उत्पत्तिस्थान) है, उनका कर्म ही उनकी सन्तति है और अपने कर्मों से ही वे प्रतिष्ठित होते अर्थात् अपनी सत्ता की स्थापना करते हैं[४]।"

बुद्ध की शिक्षानुकूल बुद्धमतानुयायी मानते हैं कि मनुष्य जितने भी दुःख भोगता है, उनका कारण उनके पिछले कर्म हैं और ये कर्मों के फल, संसार को शासित करने वाले, प्राकृतिक नियमों के न्यायानुकूल प्राप्त हुआ करते[५]।

फिर एक जगह लिखा है कि "यह सर्वश्रेष्ठ है कि मनुष्य

---

१. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 125 (Utilitarianism preached by John Stuart Mill.)

२. Do. p. 125.

३. Do. p. 127.
अंग्रेजी के शब्द ये हैं—For the thoughtful Buddhist the "Kamma Neyam" will have furnished as a pressing motive for moral conduct as if he held that an Omniscient Lawguver watched and rewarded his acts.

४. Buddhism by Mrs. Rhys Davids p. 129 and 130.

१. Buddhism by Rhys Mrs. Davids p. 162

निष्काम होकर, पुनर्जन्मोत्पादक समस्त कर्मों का त्याग कर देवे। इच्छाओं का त्याग, निष्कामता, निवृत्ति, 'निरवान' (=निर्वाण) के कारण हैं[१]।" इस शिक्षा पर किसी जिज्ञासु ने एक प्रश्न किया जिसे उत्तर के साथ उद्धृत किया जाता है—

प्रश्न—क्यों उस उत्कृष्ट पुरुष ने इस बात की घोषणा नहीं की कि सन्त (तथागत) मृत्यु के बाद बाकी है?

उत्तर—इसलिये कि इसकी उपयुक्तता मनुष्य को अपने अन्तिम ध्येय प्राप्ति के लिये नहीं थी। इसका पवित्र जीवन बनाने, जगत् का निस्वाद समझने, निष्कामता, निवृत्ति, शान्ति, अन्तर्दृष्टि होने, ज्ञान प्राप्त करने अथवा निर्वाण प्राप्त करने से कुछ सम्बन्ध नहीं था।

प्रश्न—फिर उस उत्कृष्ट पुरुष ने क्या घोषणा की है?

उत्तर—केवल उपर्युक्त योग्यताओं के प्राप्त करने की घोषणा की है और शिक्षा दी हैं कि "यह दुःख है और यह इस दुःख का कारण है और यह उस दुःख की निवृत्ति का उपाय है[२]।"



१. Do. p. 179.
२. संयुक्त निकाय—2.223. Quoted by Rhys Davide in her Buddhism p. 179

पन्द्रहवां अध्याय

पश्चिमी देशों में कर्म-स्वातन्त्र्य समस्या

ग्रन्थ के उपोद्घात में कुछ थोड़ा-सा अत्यन्त सरसरा विवरण कर्म-स्वातन्त्र्य का दिया गया है कि पश्चिमी देशों में उसके मानने व मानने की क्या अवस्था है ? अब यहां सविवरण उसका उल्लेख किया जाता है। विषय गहन होने पर भी मनोरंजक है। विश्वास है कि पाठकों को इस दार्शनिक विषय के अध्ययन करने में इतिहास का-सा आनन्द आयेगा और दार्शनिक विषय के पढ़ने से जो बोझ चित्त पर पड़ा करता है, उसे उनके चित्त, अनुभव न करेंगे। हम और प्राय: सभी पश्चिमी विद्वान् पश्चिमी विचारों का जन्म-क्षेत्र यूनान को मानते हैं, इसलिये हम भी इसी पश्चिमी विचारों की, जन्मदात्री भूमि से, अपने विषय का प्रारम्भ करते हैं—

पाइथागोरस (Pythagorous)

पाइथागोरस और उसके अनुयायी, इच्छा-स्वातन्त्र्य का कुछ अस्पष्ट ज्ञान रखते थे। वे आवागमन को मानते थे। उनका विचार था कि मृत्यु के बाद अपने कर्मानुसार मनुष्य या तो नरक में जाता है या मनुष्य अथवा पशुयोनि में उत्पन्न होता है। कर्मफल और आवागमन पर विश्वास रखने से उनके लिये इच्छा-स्वातन्त्र्य का मानना अनिवार्य था और इसीलिये वे इसमें विश्वास रखते प्रतीत होते हैं।

परमेनिडस तथा डिमोक्रीटस (Parmanidas and Democritus)

ग्रीक के इन दार्शनिकों का विचार था कि जगत् की प्रत्येक घटना जरूरत के साथ घटित होती है, यही नियम मनुष्य का ध्येय है और यही न्यायविधि भी है और ब्रह्माण्ड का यही कारण भी है। परमाणुवादियों का भी सिद्धान्त कुछ इसी प्रकार का है, वे कहते हैं कि जगत् की प्रत्येक वस्तु का अन्तिम हेतु आकाश की अवस्थाओं के परिवर्तन में निहित होता है और इसी अवस्था परिवर्तन से अणुओं का सम्मिश्रण होता है और यह परिवर्तन दूसरे के द्वारा ही होता है। फल इसका यह है कि सार्वत्रिक आवश्यकता ही जगत् में काम करती है, अचानक कुछ नहीं हो जाता, सब कुछ कारण और आवश्यकता की ही आधीनता से होता है।

सुकरात (Socratcs)

सुकरात का कथन है कि कोई भी स्वेच्छातः दुश्चरित्र नहीं होता। किन्हीं आचारिक नियमों के प्रचलित न रहने से सोफिस्ट[१] लोगों का सन्देहवाद प्रचलित हो चला था। कोई प्रवृत्ति चरित्र–गठन आदि के सम्बन्ध में बाकी न रहने से, विषयवासना का तृप्त कर लेना मात्र उद्देश्य हो गया था। सुकरात ने इसका विरोध किया और आचारनियमों की ज्ञानपूर्वक स्थापना की और प्रकट किया कि जो सत्य है, वही श्रेष्ठ है और ज्योंही मनुष्य उसे जान लेता है, उसका प्रभाव अनिवार्य रीति से जैसा बुद्धि पर पड़ता है, वैसा ही इच्छाशक्ति पर भी। प्रत्येक व्यक्ति बहुमात्रा में अपना कल्याण चाहा करता है और अपनी वास्तविक प्रसन्नता की इच्छा करता है और उसके कर्म इसी उद्देश्य के साधक होते हैं। इसीलिए यह पर्याप्त है कि आदमी जान ले कि श्रेष्ठता या भलाई क्या है ? जिससे वह उसे काम में ला सके। जो कोई बुराई करता है, अज्ञानता से करता है। उसने असत्य साधनों को सत्य समझ लिया है और इसीलिये उसे ही किये चला जा रहा है। दुश्चरित्र आदमी, सचमुच जिस बात की इच्छा करता है, उसे नहीं करता। यद्यपि वह जो कुछ करता है, यह समझकर ही करता है कि इसमें उसकी भलाई है। सुकरात की सम्मति में जो कोई जान लेता है कि क्या भला और प्रतिष्ठित है और यह भी कि किस प्रकार उसे व्यवहार में लाया जा सकता है ? उसमें और उस व्यक्ति में जो यह जानता है कि क्या बुराई है और किस प्रकार उससे बचा जा सकता है ? दूरदर्शिता और संयमशीलता की दृष्टि से, कोई अन्तर नहीं है। इस पर लोगों ने सुकरात से पूछा कि जो कोई अपने कर्त्तव्य को तो समझता है, परन्तु आचरण उसके विपरीत करता है, क्या वह भी बुद्धिमान् व संयमशील है ? सुकरात ने उत्तर दिया कि वह खुले तौर से अदूरदर्शी और संयमशीलता रहित है। सुकरात ने इस बात को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा कि मैं जानता हूं कि सभी आदमी अपने लिये लाभ की बातें छांटकर उन्हीं के अनुकूल आचरण किया करते हैं। इसलिये जो इसके विपरीत आचरण करते हैं, वे न दूरदर्शी हो

१. यूनान में ईसा से चार पाच सौ वर्ष पहले एक सोफिस्ट नाम का समुदाय था, जो कुतर्क बहुत किया करता था। उनके इस कुतर्क के व्यवहाराधिक्य से 'सोफिस्ट' (Sopfist) शब्द अपमानित समझा जाने लगा था और ऐसे ही अवसरों पर प्रयुक्त होने लगा था।

सकते हैं, न संयमशील। उसने यह भी कहा कि न्याय और प्रत्येक अन्य भलाई दूरदर्शिता का एक अंग होती है। क्योंकि प्रत्येक सत्य और श्रेष्ठ काम प्रतिष्ठित और भला है और जो कोई इन बातों की तमीज रखते हैं, वे अपने लिये किसी उलटे काम को तरजीह नहीं दे सकते।

एम० फ़ौइली (M. Fouillee)

फ़ौइली ने, सुकरात के उपर्युक्त सिद्धान्त पर विचार करते हुए प्रकट किया कि सुकरात ने अपने परतन्त्रतावाद को स्थापित करने के लिये कितनी निकम्मी बात कह डाली, जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति भलाई को समझते हुए बुराई कर डाले।

अफ़लातून (Plato)

सुकरात के उपर्युक्त तर्क को ज़ेनोफ़ोन (Zenophon) ने अपनी किताब में केवल उद्‌धृत किया था, परन्तु अफलातून ने उसे व्यक्त और अधिक स्पष्ट करने का यत्न किया है। सुकरात के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये अफ़लातून कहता है कि एक आदमी चाहे बुरे ही ढंग से दौड़ता है, परन्तु दौड़ता है अपने इरादे से, वह उससे कहीं बेहतर है, जो स्वाभाविक अयोग्यता के कारण, अनिच्छा और बुरे ढंग से दौड़ता है। इसी प्रकार जो लंगड़ाकर चलता, बुरी तौर से गाता या कुश्ती में हार जाता है, परन्तु ये सब करता अपनी इच्छा से है, वह इन सब कामों को अनिच्छा से करने वालों की अपेक्षा बेहतर है, क्योंकि इन सब सूरतों में काम चाहे बुरे ही ढंग से क्यों न किये जाते हों? परन्तु अपनी इच्छानुसार करने के कारण उनके कर्त्ता को नेकी का ज्ञान होता है और न केवल ज्ञान होता है, किन्तु वह यह भी जानने लगता है कि इस प्रकार उस (नेकी) को, काम में लाया जा सकता है। इसी प्रकार सुकरात के मतानुसार, आचारिक जीवन में भी वह आदमी चाहे वह अन्याय ही क्यों न करता हो? उस आदमी से अच्छा है, जो बिना इरादे के अन्याय करता है। क्योंकि पहला आदमी न्याय को जानता और उसे काम में लाने की योग्यता रखता है। अफ़लातून कहता है कि सुकरात के इस मत को सुनकर, हिपियास (Hippias) ने सुकरात से कहा कि "मैं इस मामले में आपसे सहमत नहीं हो सकता।" सुकरात ने उत्तर दिया कि "मैं भी अपने से सहमत नहीं हो सकता, परन्तु इस समय, जहां तक विचारा गया है, अनुकरण करने योग्य यही बात है।"

सुकरात के उपर्युक्त विचार की एक प्रकार से पुष्टि ही करता हुआ

कि "मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा, स्वभावतः भलाई करने की ओर जाती है," अफ़लातून इसमें संशोधन करता है और कहता है कि जीवात्मा का एक अंश बुद्धि का विरोधी है और वह सदैव बगावत करने के लिये तैयार रहता है। मनुष्य की सम्मति, वह कहता है कि दृढ़ आधार पर स्थित नहीं होती, इसलिये उसमें बल नहीं होता कि उस विरोधांश का सफलतापूर्वक विरोध करे। इसलिये वह विरोध की टक्कर न सह सकने से बदल जाया करती है। इसीलिये मनुष्य उस बात के विरुद्ध, जो उसे भलाई मालूम होती है, अमल कर सकता है। शुद्ध विज्ञान ही अजेय है, परन्तु सम्मति एक प्रकार का अज्ञान ही है, जो कभी-कभी ही सत्यता की ओर झुकती है।

इस प्रकार सुकरात और अफ़लातून, दोनों के मतानुसार—नेकी[1], श्रेष्ठता[2] के ज्ञान के आधार पर, इच्छाशक्ति की निश्चय की हुई एक वस्तु होती है। यही वास्तविक स्वतन्त्रता और सच्ची प्रसन्नता है। इसके विरुद्ध आचरण करने वाला मूर्ख, सदैव दासता के बन्धन में रहा करता है।

अरस्तु (Aristotle)

सुकरात के मतानुसार, मनुष्य के अन्दर ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे असंयमता कहते हैं। जब एक प्राणी श्रेष्ठता के विरीत आचरण करता है तो उसके कथनानुसार, वह प्राणी विषय का शुद्ध ज्ञान नहीं रखता और जो कुछ करता है, अज्ञान से करता है, सुकरात का यह विचार अरस्तु के मतानुसार अनुभव के विरुद्ध है। अन्य विद्वान् अफलातून हैं, जो सुकरात के इस विचार से आंशिक सहमति और आंशिक विरोध रखते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान के विपरीत कुछ संचालित नहीं हो सकता, परन्तु ऐसा भी नहीं कि मनुष्य जिसे श्रेष्ठ समझता है, उसके विपरीत आचरण न कर सके। वह इन्द्रियाधीन होकर, जब सुख की कामना करता है, तब वह ज्ञानसम्पन्न नहीं होता। किन्तु जो कुछ करता है, अपने सम्मति के वशवर्ती होकर करता है। इस पर अरस्तु कहता है, कि यदि सचमुच वह (विषयकामना) उस पुरुष की केवल सम्मति है और यथार्थ ज्ञान नहीं और इस यथार्थ ज्ञान की कमी से ही, जिसे ढीला विश्वास कहना चाहिये, वह उस विषयकामना का सफलतापूर्वक विरोध

१. Virtue शब्द अंग्रेजी अनुवाद में प्रयुक्त है।
२. Good शब्द अंग्रेजी अनुवाद में प्रयुक्त है।

नहीं कर सकता, जैसा बहुधा सन्दिग्ध विषयों में हुआ करता है, तो वह पुरुष अरस्तु की सम्मति में क्षन्तव्य है। परन्तु वह बुराई (विषयकामना) क्षन्तव्य नहीं हो सकती[१]। अर्थात् कोई उस बुराई को भलाई नहीं कह सकता। बुराई सदैव बुराई ही रहेगी। फिर एक दूसरी जगह[२] अरस्तु ने लिखा है कि "कोई न भला होता है, न बुरा" यह कुछ तो ठीक है और कुछ ठीक नहीं, क्योंकि कोई भी पुरुष अपनी इच्छा के विरुद्ध अच्छा नहीं बन सकता और बुराई तो इरादा करके ही की जाया करती है। यदि इसे कोई न माने, तो मानना पड़ेगा कि जिस प्रकार मनुष्य अपनी सन्तान का उत्पादक होता है, उस प्रकार अपने कर्म का उत्पादक नहीं। स्पष्ट है कि अरस्तु मनुष्य को अपने कर्म का उत्तरदाता ठहराता है और इसीलिए इच्छा-स्वातन्त्र्य का भी पोषक था।

स्टोइक्स (The Stoics)

अरस्तु के बाद यूनान में अनेक स्कूल फिलासोफी के बने, परन्तु कर्मस्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में उनमें भेद थे। वहां के एक समिटवादी स्कूल ने, जिन्हें स्टोइक्स कहते हैं, यह शिक्षा प्रचलित की कि संसार एक बड़े पशु के सदृश है, जिसके प्रत्येक अंश को एक ही जीव ने घेर रक्खा है और छोटी से छोटी गति भी उसी की प्रेरणा से होती है। उनके इस परतन्त्रतावाद में इच्छास्वातन्त्र के लिए कोई स्थान नहीं था। उनका कहना है कि बिना कारण के कुछ नहीं होता, कारण के बिना कार्य का मानना, अभाव से भाव की उत्पत्ति के सदृश है, उनके मतानुसार संसार शब्द समुदाय से बना हुआ छन्द नहीं है, अपितु जब समस्त संसार कुछ करता है, तभी कोई काम होता है। संसार में जो कुछ होता है, वह ईश्वर द्वारा पहले से निश्चित कार्यक्रमानुकूल ही हुआ करता है; जगत् में अकस्मात् किसी कार्य के हो जाने की गुंजाइश नहीं।

इपीक्यूरस (Epicurus)

इपीक्यूरस, इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में अरस्तु से मिलते जुलते विचार रखता था। उसने एक जगह लिखा है—"यह अच्छा है कि देवताओं से सम्बन्धित, कल्पित कहानियों पर विश्वास किया जाये, परन्तु किस्मत का गुलाम बनना अच्छा नहीं है।" उन कहानियों के अनुसार देवताओं को प्रसन्न करके, उनकी मिन्नत मानकर अपना काम तो

१. Nicom Ethics VII, 2
२. Nicom Ethics III, 5

निकाला जा सकता है, परन्तु भाग्य की परतन्त्रता को कौन टाल सकता है। इस परतन्त्रतावाद से बचने के लिए इपीक्यूरस ने परमाणुओं के भीतर एक प्रकार से भीतर ही काम करने वाली शक्ति की कल्पना की है, जो उन्हें गतिमान् बना दिया करती है। वह कहता है कि काम मस्तिष्क से शुरू होता है और शरीर द्वारा उसकी पूर्ति हुआ करती है। भाव से भाव और अभाव से अभाव ही हुआ करता है। इसलिये मस्तिष्क, जिसमें इच्छा उत्पन्न हुआ करती है, वह जिन परमाणुओं का बना हुआ होता है, उनमें भी उस इच्छारूपी गति का अंकुर होना आवश्यक है। इपीक्यूरस ने बन्धन (परतन्त्रता) को उत्तरदायित्वरहित, शक्ति और भाग्य को अस्थिर कहते हुए, इच्छा को स्वतन्त्र कहा है। वह कहता है कि इस स्वतन्त्रता से हमारे भीतर उत्तरदायित्व पैदा होता है और उसी उत्तरदायित्व की पूर्ति या अपूर्ति करने से हम प्रशंसा या निन्दा के भागी बना करते हैं[१]।

कारनीडेस (Carneedes)

कारनीडेस ने स्टोइक्स और इपीक्यूरस दोनों के विचारों का विरोध करते हुए अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—"जब हम कहते हैं, 'बिना कारण के' तो इसका मतलब यह नहीं होता कि कार्य का कोई कारण ही नहीं है, बल्कि उसका अभिप्राय यह होता है कि इसका कोई बाह्य, व्यक्त और तात्कालिक कारण नहीं है। जैसे, हम कह सकते हैं कि एक बरतन खाली है, तो उसका मतलब यह नहीं होता कि उसके भीतर आकाश और वायु भी नहीं, अपितु उसका तात्पर्य केवल इतना होता है उसके भीतर जल, तेल आदि कोई स्थूल और व्यक्त वस्तु नहीं है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं, कि हमारा जीवात्मा बिना किसी कारण के चेष्टा करता है, तो इसका भी केवल इतना ही मतलब समझना चाहिए कि कोई व्यक्त, बाह्य और तात्कालिक कारण नहीं है। जब कोई परमाणु विशिष्ट गुरुत्व से गति में है, तो इसका भी तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि उस गति का कोई व्यक्त, बाह्य कारण नहीं। स्पष्ट है कि हम किसी कार्य के बिना कारण के होने के समर्थक नहीं हैं। हमारा अभिप्राय केवल यह प्रकट कर देने से है कि परमाणुओं की प्रकृति ही कुछ इस प्रकार की है कि वे विशिष्टगुरुत्व से ही गतिमान् होते हैं। इसी

१. A History of the Problems of Philosophy by Paul Jenart (English Translation) P. 312 and 329

प्रकार जब हम इरादा करके कोई काम करते हैं, तो इस इरादे के भी किसी बाह्य कारण के खोजने की जरूरत नहीं, क्योंकि इच्छित कार्यों की भी प्रकृति कुछ इसी प्रकार की है कि उसे केवल आन्तरिक प्रेरणा अपेक्षित है और यह कि वह (प्रेरणा) हमारे ऊपर ही निर्भर होती है। यदि ऐसा न हो तो फिर उसे इच्छितकार्य ही किस प्रकार कहा जा सके। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि हमारी इच्छास्वातन्त्र्य की गति, बिना कारण के कोई कार्य है, क्योंकि उसकी प्रकृति ही इस कार्य का कारण हुआ करती है[१]।''

वर्तमानकाल के विद्वान् जो इच्छास्वातन्त्र्य के पोषक हैं, वे स्पष्ट रीति से कहते हैं कि इच्छास्वातन्त्र्य के सिद्धान्त से कार्यकारणवाद को कुछ हानि नहीं पहुंचती, इसीलिए कि इच्छास्वातन्त्र्य स्वयमेव एक कार्य है, जो प्रकार की दृष्टि से स्वतन्त्रता का पोषक है[२]।



१. Problem of Freedom p. 323 and 324

२. Do. p. 324

सोलहवां अध्याय

प्लाटिनस का सिद्धान्त (Neo-Platonism)

इस वाद के अनुयायियों ने मनुष्य के कर्मस्वातन्त्र्य का समर्थन किया है, परन्तु उन्हें अपने साम्प्रदायिक विचारों के साथ इस वाद की संगति लगाने में सफलता नहीं हुई। प्लाटिनस ने अनेक बार कहा, कि हम इच्छास्वातन्त्र्य रखते हैं, क्योंकि नेकी, दासत्व से ऊपर की वस्तु है और यह कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्मों का शुभाशुभ फल भोगा करता है। उस ने यहां तक अपना मत प्रकट किया है कि बिना इच्छास्वातन्त्र्य के मनुष्य, मनुष्य नहीं कहा जा सकता और न उसे स्वतन्त्र कर्त्ता कह सकते हैं, अवश्य उसे मिट्टी का एक ढेला कह सकते हैं, जो ब्रह्माण्ड की सार्वत्रिक गति के साथ गति में हो।[१]

प्लाटिनस ने यह भी प्रकट किया है कि यदि प्रत्येक कार्य भवितव्यता के ही आधीन हो, तो फिर न तो हम ही होंगे और न हमारा कोई कार्य ही होगा। हाँ, हमारे स्थान पर एक नियम होगा, जो हमारे अन्दर तर्क, इच्छा और कर्म सबका स्थानापन्नरूप समझा जाएगा, दैववाद अथवा अनिवार्य परतन्त्रतावाद तो मनुष्य को, इच्छास्वातन्त्र्य, कर्मस्वातन्त्र्य, इन सभी से वंचित करके ईंट पत्थर के समान ठहराते हैं, जो एक निश्चित गति के साथ घसीटते हुए चले जा रहे हैं और जिस गति पर हमारे कर्म का कोई प्रभाव नहीं होता[२]।

प्लाटिनस ने यह प्रश्न भी उठाया है कि इच्छास्वातन्त्र्य की संगति किस प्रकार ईश्वर और ब्रह्माण्ड के संगठन से लगाई जा सकती है ? और उत्तर दिया है कि धर्म तो स्वतन्त्र है परन्तु उसके अनुसार किया हुआ कर्म, ब्रह्माण्ड के नाटक की उस समष्टि में शामिल रहता है, जो इस नाटक के रचयिता के दिए हुए भागानुसार प्रत्येक नाटक में भाग लेने वालों के कृत्यों से बना करती है, परन्तु इस नाटक के रचयिता का दिया हुआ काम होता ऐसा ही है जो प्रत्येक के लिए अधिक से अधिक

१. Enneades III, I, Ch: IV
२. Do. III, I, 5

अनुकूलता रखता है[१]। परन्तु कठिनता यह है कि प्लाटिनस धर्म को कहता है कि स्वतन्त्र है, किसी के आधीन नहीं और स्वतन्त्रता से आचरण में लाया जा सकता है और प्लेटो की तरह साथ ही यह भी मानता है कि अधर्म पराधीनता से किया जाता है। इस कठिनता का समाधान प्लाटिनस ने वही किया है जो उससे पहले स्टोइक्स कर चुके हैं, अर्थात् जो अपने स्वभाव का अनुकरण करता है, स्वतन्त्र होता है। क्योंकि ऐसा करने में, उसे अपने सिवा अन्य किसी की अधीनता नहीं करनी पड़ती। जो अधर्म करता है, यद्यपि बन्धन और परतन्त्रता से किया जाता था, परन्तु वह भी उसी से सम्बन्धित होकर किया जाता है, जिसने उसे पूरा किया है, क्योंकि उसका कर्त्ता असल में वही (उसका स्वभाव) होता है[२]।

लैम्बलीचस और ईश्वर की त्रिकालज्ञता (Lamblichus)

लैम्बलीचस ने इच्छा की कि कर्मस्वातन्त्र्य और ईश्वर की सर्वज्ञता की संगति लगाई जाये। इस प्रश्न के समाधान का उत्तरदायित्व अब तो धर्माचार्यों के जिम्मे है, परन्तु उस समय दार्शनिकों के ही जिम्मे इसके समाधान का भार था। स्टोइक्स ने तो ईश्वर की सर्वज्ञता की रक्षा की धुन में, इच्छास्वातन्त्र्य को उड़ा ही दिया था। लैम्बलीचस ने समाधान तो करना चाहा, परन्तु वह समाधान ईसाई मतावलम्बी विद्वानों के समाधान से कुछ बेहतर न था। उसने बतलाया कि जो बातें, अनिश्चित और संदिग्ध हैं, ईश्वर उन्हें भी निश्चितरूप में जानता है, क्योंकि वह त्रिकालज्ञ है।

सेंट आगस्टिन

सेंट आगस्टिन और अन्य ईसाई मतावलम्बी विद्वान् ईश्वर को न्यायकारी सिद्ध करने और मनुष्य से आचारिक जीवन की दृष्टि से इच्छा-स्वातन्त्र्य का मानना अपने लिए अनिवार्य समझते थे।

ईश्वर की दया और त्रिकालज्ञता के साथ उसकी संगति किस प्रकार लगे, इसके सम्बन्ध में सेंट आगस्टिन का विचार था कि इच्छा का विचार ही इच्छास्वातन्त्र्य का समर्थक है। उसका कहना है कि कारणों की शृंखला के आधार पर इच्छास्वातन्त्र्य का विरोध करना

१. Enneades III, I, 5
२. Do. III, 2, 10

हेत्वाभास है। इच्छा कार्य नहीं, किन्तु मनुष्य में समस्त कर्मों का कारण है। इच्छा बुनियादी और समस्त अध्यात्मजीवन सम्बन्धी कर्मों का सार है। इच्छा का निश्चय बुद्धि से नहीं होता, क्योंकि उसकी सत्ता बुद्धि के पूर्व से है। नेकी को जानने और उसे अधिकार में करने के लिए हमारे भीतर नेकी का प्रेम और इच्छा होनी चाहिए। सेंट आगस्टिन उनसे बहुत अप्रसन्न हैं, जो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर मनुष्यों को इच्छास्वातन्त्र्य के अधिकार से वंचित करना चाहता है। वह कहता है कि हमारी इच्छायें उन कारणों की शृंखला में सम्मिलित हैं; जिनका त्रिकालज्ञता से ईश्वर को ज्ञान है। चूंकि ये हमारी इच्छाएं हमारे कार्यों का कारण भी हैं, इसलिए उनमें जो शक्ति है, वह एक सीमा के भीतर है, परन्तु फिर भी वे (इच्छायें) जो कुछ करना चाहें कर सकती हैं।

जो कुछ भविष्य में होने या न होने वाला है, ईश्वर को उसका ज्ञान, किस प्रकार पहले से हो सकता है? आगस्टिन इसका उत्तर यह देता है कि ईश्वर के लिये भूतकाल कुछ नहीं, जो कुछ है वर्तमानकाल ही है। "कदापि नहीं," "पहले", "उस समय" इन शब्दों का, ईश्वर के दिव्यजीवन में कोई महत्त्व नहीं है। ईश्वर दोनों (भूत+वर्तमान) को एक साथ देखता है और ब्रह्माण्ड की प्रत्येक गोचरवस्तु का रचयिता है, जो अपने समय पर प्रकट होती रहती है। कोई अनिश्चित काम संसार में इसलिये नहीं हुआ करता कि ईश्वर उन्हें पहले से देख लेता है और ईश्वर इसलिये उन्हें देख लेता है कि वे होने वाले होते हैं[१]।

ईश्वर की दया और इच्छास्वातन्त्र्य

सेंट आगस्टिन का कथन है कि धर्मात्माओं में जहां स्वतन्त्रता है, वहां पाप की असम्भावना है। पाप के आदिकारण पर दृष्टिपात करने से, आगस्टिन के मत में इस समय सम्भव नहीं कि कोई पाप न करे। अतः मनुष्य की इच्छा, दया के बिना शक्तिहीन है। मनुष्य जो नेकी करता है, उसका कारण उसके भीतर ईश्वर का होना है, क्योंकि ईश्वर स्वयमेव शक्ति है[२]।

---

१. The Problem of Philosophy p. 326
सेंट आगस्टिन के अन्त के शब्द अंग्रेजी भाषा में ये हैं—"Contingent things do not take place because God foresees them, but God forrsees them because they will take place."

२. The Problem of Philosophy p. 326

एक्यूनस (Aquinas)

सेंट आगस्टिन के विचारों को, ईश्वर की त्रिकालज्ञता से जो सम्बन्धित थे, संशोधन करता हुआ, एक्यूनस अपनी सम्मति इस प्रकार देता है—"ईश्वर जो कुछ जानता है, वह अवश्यम्भावी है और जो कुछ हम जानते हैं, वह भी अवश्यम्भावी है। परन्तु ईश्वर का ज्ञान हमारे ज्ञान की अपेक्षा अधिक निश्चित है, ऐसा होने पर भी कोई बात जो अचानक हो जाया करती है, उसके लिए पहले से यह नहीं कह सकते कि वह अवश्य होगी। इसलिए ऐसी बातें ईश्वर के ज्ञान में भी नहीं होती।" अवश्य ईश्वर सब कुछ जानता है, न केवल उन्हें जो वर्तमान हैं, बल्कि उन्हें भी जिन्हें वह स्वयमेव करता अथवा अन्य कोई प्राणी करने लगता है। इस प्रकार भविष्य की वास्तविक अवस्था का भी उसे सर्वज्ञता से ज्ञान है और होता रहता है × × × वह नित्य है और उस (ईश्वर) का नित्यत्व भी नित्य है, जिससे स्पष्ट है कि वर्तमानकालीन सभी वस्तुयें और घटनायें, चाहे वे नियमानुकूल हुई अथवा अचानक घटित हो गई ईश्वर को उसका ज्ञान होता है और इसके साथ ही भविष्य की उन बातों का भी उसे ज्ञान है, जिनके तात्कालिक कारण अपना काम पूरा कर चुके हैं और वे ईश्वर के ज्ञान में हैं[१]।

एक उदाहरण

कल्पना करो कि एक आदमी किसी मीनार के सबसे ऊपरी भाग पर खड़ा होकर, नीचे एक के बाद दूसरे जाने वाले मुसाफिरों को देखता है, ठीक इसी प्रकार ईश्वर नित्यता की अचल मीनार पर खड़ा होकर अपने उत्पन्न किये हुए प्राणियों के कार्य, जो एक के बाद दूसरे होते रहते हैं, देखा करता है। इस प्रकार ईश्वर अपनी सर्वज्ञता से, जहां उन प्राणियों के कार्यों को देखता है और साथ-साथ ही अपने ईश्वरतत्त्व से उन्हें निश्चय भी करता जाता है। इस प्रकार ऐक्यूनस के मतानुसार हमारे काम न केवल ईश्वर के पूर्व से जाने हुये हैं, किन्तु पूर्व से निश्चय किये हुय भी हैं। ईश्वर इच्छा करता है और पहले से हमारे समस्त कृत्यों को जान लेता है और स्वाभाविक रीति से पूर्व से हमें प्रेरणा हो जाती है। इस प्रकार हमारे कृत्य ईश्वर द्वारा पूर्व से निश्चित हो जाते हैं, परन्तु साथ

---

१. The Problem of Philosophy p. 327

ही यह भी निश्चय हो जाता है कि हम उन्हें स्वतन्त्रता के साथ एक खास ढंग से करेंगे[१]।

मध्यमकालीन विचार

डंस स्कौटस (ऐक्यूनस का प्रतिपक्षी) कहता है कि जगत् ईश्वर का बनाया हुआ है और जगत् में अनेक कारण हैं, जिन्हें चाहे काम में लाया जाये या न लाया जाये और उनके कार्यों को चाहे उत्पन्न होने दिया जाये या न उत्पन्न होने दिया जाये। स्कौटस इच्छा को बुद्धि से ऊपर समझता है और कहता है कि स्वतन्त्र सम्मति से विश्वास की सच्चाई स्वीकृत हुआ करती है। मनुष्य को इच्छा-स्वातन्त्र्य के माध्यम से ही समझा जा सकता है। ईश्वर के विचार में ऐसी बातें नहीं रहा करती, जिन्हें भाग्य की तरह किये जाने के लिये मनुष्य बाधित किये जा सकें। ईश्वर ने स्वतन्त्रता से सत्यता और नेकी को पैदा किया है। यदि कर्त्ता, जगत् में कर्म परतन्त्रता से करता होता तो उसका फल पर कुछ भी अधिकार न होता और जो कुछ जगत् में उसके लिये होता, वह सब परतन्त्रता ही का परिणाम होता।



१. The Problem of Philosophy p. 327 and 328 ऐक्यूनस का यह वाद Theory of Physical Pre-motion के नाम से प्रसिद्ध है।

सत्रहवां अध्याय

होबस का यान्त्रिक जड़वाद

इच्छास्वातन्त्र्य की समस्या डेकार्टेस से कांट तक

वह इच्छास्वातन्त्र्य को, मनुष्य के मस्तिष्क से पृथक् करता है। वह कहता है कि हमारे विचार और कल्पनायें, असल में मस्तिष्क में फैली हुई एक गति के सिवा और कुछ नहीं है। वह गति मस्तिष्क में खत्म नहीं हो जाती, किन्तु हृदय तक पहुंचती है, जहां उसके लिये आवश्यक होता है कि वह जीवनरूपी गति की सहायक बने या उसके काम में बाधा डाले। पहली सूरत होने पर मनुष्य को प्रसन्नता होती है और वह प्रसन्नता इष्ट वस्तु के सम्बन्ध से प्रेम कहलाती है। दूसरी सूरत में दुःख होता है और वह दुःख भी, इष्ट वस्तु के सम्बन्ध से द्वेष कहा जाता है। यह गति, जिसके भीतर सुख और दुःख निहित होते हैं, सुखद वस्तुओं को आकर्षण करने और दुःखद वस्तुओं को हटाने के लिए याचना अथवा प्रकोपोत्तेजन का कारण बना करती है और यह याचना ही उद्योग अथवा प्राणियों की आन्तिरिक गति का सूत्रपात करती है और उस (गति) से जब कर्त्ता में प्रसन्नता के भाव उद्भूत होते हैं, तब उसे सुख की स्वाभाविक इच्छा कहते हैं, परन्तु वर्तमान दुःख की दृष्टि से वह द्वेष और भावी दुःख के लिहाज से उसे डर कहा करते हैं[१]। इस प्रकार उत्पन्न हुए इच्छा, भय और द्वेष हमारे कार्यों के प्रारम्भिक परन्तु निहित कारण हुआ करते हैं। ये गहरी इच्छायें ही इच्छा-शक्ति होती हैं। एक आदमी नहीं कह सकता कि वह इच्छा की इच्छा करता है, यदि कहे तो ये शब्द बार-बार उसे दुहराने तिहराने पड़ेंगे। जिसे इरादा करके काम करना कहते हैं, वह इच्छाओं या भयों की पुनरुक्तिमात्र होती है।[२] स्पष्ट है कि होबस के मत में प्रत्येक वस्तु अन्त में एक प्राकृतिक अणु की गति का ही रूप धारण कर लिया करती है, जिसका निश्चित होना आवश्यक है। फल इसका यह हुआ कि मनुष्य में उससे अधिक इच्छास्वातन्त्र्य नहीं है, जितना एक बेसमझ पशु में समझा जा सकता है। होबस की सम्मति में इच्छा (Will) और राग (Desire) एक ही है।

---

१. On Human Nature by Hobbes Ch: VII

२. On Human Nature by Hobbes Ch: XII

लॉक (Locke)

लॉक ने मनोवैज्ञानिक हेतुओं से इच्छास्वातन्त्र्य को अस्वीकार किया है। वह कहता है कि हमारे अन्दर मस्तिष्क के अनेक कार्यों और शरीर के अनेक गतियों के प्रारम्भ करने, सह लेने, जारी रखने या समाप्त करने की एक शक्ति है। वह शक्ति इन कार्यों को मस्तिष्क की प्रेरणा से, जो एक दूसरे को तरज़ीह देते हुए किसी काम के करने या न करने का, मानो विधान कर रही होती है। उसी शक्ति को इच्छाशक्ति कहते हैं[१]। लॉक का कहना है कि समस्त कार्य जिनका हमें प्रज्ञान है, विचार और गतिमूलक हैं। मनुष्य को अपने मस्तिष्क की प्रेरणानुसार विचार करने न करने, गति देने न देने की जहां तक योग्यता हो, वहां तक वह स्वतन्त्र है[२]।

एक लूला लंगड़ा आदमी, यदि चलना चाहे तो नहीं चल सकता, क्योंकि पांव उसका साथ नहीं देते, इसलिये इस मामले में वह स्वतन्त्र नहीं है। एक गेंद भी, यद्यपि इधर-उधर चली जाया करती है, स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्रता के लिये समझ और इच्छाशक्ति की जरूरत होती है, परन्तु गेंद इनसे वंचित है।

फिर वह (लॉक) कहता है कि स्वतन्त्रता का सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा से भी नहीं है। कल्पना करो कि एक आदमी गहरी नींद में सो रहा है, उसे बेखबरी में ही, एक दूसरे कमरे में पहुंचाकर उस कमरे को बंद कर दिया गया। उस बंद कमरे में एक और व्यक्ति था, जिसे सोने वाला आदमी, देखना और जिससे बात भी करना चाहता था। जब वह जगा तो उसे देखकर खुश हो गया और बन्द कमरे से निकलने की जगह, उसी में उस व्यक्ति के साथ रहना चाहता है, इस घटना का उल्लेख करते हुये लॉक एक प्रश्न करता है कि क्या उस (सोने वाले) पुरुष का, उस बन्द कमरे में ठहरना, उसकी इच्छानुसार नहीं है? और उत्तर देते हुए कहता है कि इसमें किसी को भी सन्देह न होगा कि वह (सोने वाला) अपनी इच्छानुसार ही उस बन्द कमरे में ठहरना चाहता है, यद्यपि उस बन्द कमरे से बाहर जाने की उसे स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है[३]। अस्तु, लॉक इस उदाहरण से परिणाम यह निकालता है कि इच्छा और

१. On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 5.
२. On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 8.
३. On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 10.

स्वतन्त्रता दो पृथक्-पृथक् वस्तुयें हैं। इच्छा, स्वतन्त्रता से पहले उत्पन्न होती है और जैसी इच्छा होती है, स्वतन्त्रता से मनुष्य वैसा ही काम किया करता है। अतः स्वतन्त्रता एक शक्ति है, जिससे इच्छानुकूल मनुष्य काम किया करता है और वह (इच्छा) स्वतन्त्रता से भिन्न वस्तु है।'लाइबनिट्ज़' ने भी एक जगह इच्छा और कर्म करने की स्वतन्त्रताओं में भेद किया है अर्थात् इच्छा करने की स्वतन्त्रता एक वस्तु है और कर्म करने की स्वतन्त्रता एक वस्तु है और कर्म करने की स्वतन्त्रता दूसरी वस्तु[१]।

लॉक ने, इस विवादास्पद विषय को कि मनुष्य में इच्छास्वातन्त्र्य है या नहीं, लक्ष्य करके उत्तर दिया है—

अतः साफ जाहिर है कि वर्तमान कर्म से सम्बन्धित समस्त प्रस्तावों के करने न करने में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि वह इच्छा करना बन्द नहीं कर सकता और स्वतन्त्रता में एक शक्ति है कि चाहे काम करे या न करे[२]। अच्छा यदि मनुष्यों में इच्छास्वातन्त्र्य नहीं है, तो वह इच्छा किस प्रकार निश्चित होती है? इसके सम्बन्ध में लॉक का कहना है कि "एक ही हालत को स्थिर रखने या एक ही कर्म को जारी रखने से मनुष्य वर्तमान की संतुष्टि रखता है, परन्तु जब उस हालत या कर्म में परिवर्तन करना चाहता है, तो इसमें उसे सदैव कुछ कठिनता प्रतीत हुआ करती है[३]। इससे लॉक यह परिणाम निकालता है कि जब हम अत्यन्त प्रतिकूलता का अनुभव करने लगते हैं, तो उस समय राग के आनुकूल्य से इच्छा निश्चित हुआ करती है[४]। असुविधाओं के भण्डार में से, जो प्राकृतिक बन्धनों अथवा बनाये हुय स्वभावों ने एकत्र कर रक्खा है, बार-बार असुविधायें निकलकर, मनुष्य की इच्छा को अपने साथ ले लेती हैं और ज्यों ही एक काम पूरा हो चुकता है, जिसे इसी प्रकार की प्रभावित इच्छा से प्रारम्भ किया गया था, दूसरी असुविधायें, इच्छा को प्रभावित कराके दूसरा काम शुरू करा देती है[५]।"

१. New Essays II, Ch: 21 Sec. 8.
२. On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 24.
३. On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 25.
४. The History of the Problem of Philosophy p. 33
५. On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 45.

इच्छा और राग (Will and Desire)

जैसा कि कहा जा चुका है, लॉक ने इच्छा और राग में भेद किया है। वह एक जगह लिखता है कि एक गठिया का रोगी चाहता है कि रोगमुक्त हो जावे। वह समझता है कि इस रोग के दूर होने से शरीर के भीतर का कष्टप्रद वायुविकार, दोषमुक्त होकर जीवनप्रद बन जायेगा, तो भी उसकी प्रभावित इच्छाशक्ति इस प्रकार कार्य नहीं करती जो उस दर्द के दूर करने का कारण बने[१]। उसने फिर एक दूसरी जगह लिखा है कि "इसलिये स्वीकार करना चाहिये कि यद्यपि अत्यन्त असुविधायें, इच्छाशक्ति को प्रभावित करके, एक के बाद दूसरे काम करने के लिये बाधित करती रहती हैं, फिर भी यह नियम अपवाद से खाली नहीं है[२]।" "हमारे भीतर एक शक्ति है, जिससे हम किसी खास इच्छा को रोक भी सकते हैं, जिससे वह इच्छाशक्ति को बाधित करके, किसी काम में न लगा सके[३]।" "हमको स्वतन्त्रता है कि हम अपनी रागात्मक इच्छाओं की तुलना करके उनके विषयों पर विचार करें और उनके परिणामों पर दृष्टि डालें। इसी में मनुष्य को जितनी स्वतन्त्रता प्राप्त है, उसका विधान है[४]।" इस मामले में इच्छाशक्ति जिस बात से प्रभावित और बाधित होती है, वह शुभाशुभ का अन्तिम निर्णय है[५]। "आत्मनिरीक्षण करते हुये, अन्तिम निर्णय के आधार पर इच्छा करना और उसी इच्छा को कार्य में परिणत करना, यह हमारे स्वभाव का दोष नहीं, किन्तु उसकी पूर्णता है। हमारी रुचि, हमारे ज्ञान से नियन्त्रित होती है। हम अपनी बुद्धि से, जितना अधिक भलाई करने की इच्छा द्वारा प्रभावित अथवा बाधित होते हैं, उतना ही अधिक स्वतन्त्रता वाले समझे जा सकते हैं। इसलिये स्वतन्त्रता तात्कालिक इच्छाओं को दूर करने और वास्तविक सुख के विचारों को बलिष्ठ बनाने में होती है।××× निष्कर्ष यह है कि मनुष्य निश्चय कर लेवे कि यथार्थसुख को छोड़कर सुखाभास की चिन्ता न करेगा, यही स्वतन्त्रता की असली बुनियाद है[६]।"

---

१. On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 30.
२. Do. Sec. 47.
३. Do. Sec. 50.
४. Do. Sec. 47.
५. Do. Sec. 48.
६. On the Human Understanding by Locke Book II Ch: 21 Sec. 51.

डेकार्ट (Descartes)

वर्तमान दार्शनिकयुग में डेकार्ट, इच्छास्वातन्त्र्य का सब से बड़ा पोषक था। वह आत्मा को न केवल मेधा (Intelligence) अपितु स्वतन्त्रतापूर्ण भी मानता था। उसके मतानुसार, विधि-निषेध का निर्णय केवल प्रज्ञा से नहीं होता। प्रज्ञा से, किसी वस्तु से सम्बन्धित केवल विचार ग्रहण किये जाते हैं, जिनके लिये कोई सम्मति स्थिर करनी होती है। वह चीज़ जो उस वस्तु की सत्ता को स्वीकार करती है, जिसका विचार बुद्धि से हमने ग्रहण किया है, हमारी इच्छाशक्ति होती है[१]। निर्णय करना इच्छा करना ही है। इच्छा-शक्ति की विभेदक विशेषता उसकी स्वतन्त्रता है। इससे हमको समझना चाहिये, कि हमारे अन्दर एक घनात्मक शक्ति है, जिससे हम अपने लिये किसी वस्तु के स्वीकार, अस्वीकार अथवा ग्रहण या त्याग का निर्णय किया करते हैं[२]। उस शक्ति का ज्ञान हमको, जब वह काम लाई जाती है, होता है। हमारे अन्दर जो कुछ है, सभी अल्पज्ञतापूर्ण है, परन्तु केवल इच्छाशक्ति या उसकी स्वतन्त्रता है, जिसे अपने अनुभव से हम इतना महत्त्वपूर्ण पाते हैं कि उससे अधिक महत्त्वपूर्ण और विस्तारवती कोई दूसरी स्वतन्त्रता नहीं है। यही हमारी स्वतन्त्रता है, जिससे हम अपने को ईश्वर को तद्रूप और तदनुकूल समझते हैं। डेकार्ट ने जो पत्र एक जेसूट पादरी को लिखा था, उसमें उसने कुछ इस तरह की बातें लिखी थीं, जिनसे यह समझा जा सकता है कि उसने अपने उपर्युक्त सिद्धान्त का विरोध किया[३]। परन्तु उसके सब लेखों के देखने से उसका सिद्धान्त यह पाया जाता है कि "यद्यपि हम घटनाओं से प्रभावित होते रहते हैं, परन्तु फिर भी हमारी स्वतन्त्रता के बने रहने के हेतु ये हैं—

(१) सत्य, जो सर्वदा श्रेयस्कर है, उसे सदैव हम अपनी इच्छा ही से ग्रहण किया करते हैं।

(२) हम घटित घटनाओं की अपेक्षा करते हुये उन बातों को करते रहते हैं, जो हमें बुराई की ओर प्रवृत्त करने वाली होती हैं।

(३) कोई भी चीज़, हमारी उस इच्छा को, जो हमारी इच्छाशक्ति

---

१. Principle of Philosophy by Descartes I, 34.

२. Letter to Peremers, Edition V Cousin, Vol. VI, 134.

३. Letter to a Jesuit Father, Ed. V Cousin, Vol. IX, 168.

को स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए हमारे अन्दर सदैव बनी रहती है, दबा नहीं सकती[१]।''

स्पाईनोज़ा (Spinoza)

स्पाईनोज़ा का कथन है कि संसार में अचानक कुछ भी नहीं हो जाता। संसार की प्रत्येक वस्तु, प्राकृतिक नियमों की आवश्यकतानुसार नियमित काम करने के लिए उत्पन्न हुई है[२]।

मनुष्य के अन्दर कोई पूर्ण या स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं है, बल्कि मनुष्य का मस्तिष्क स्वयमेव, कारणवश, एक या दूसरा, काम करने के लिये बाधित है। वह कारण भी स्वतन्त्र नहीं है, वह एक-दूसरे कारण से, उस प्रकार के कार्य के लिये मजबूर है और वह दूसरा कारण भी, इसी प्रकार एक तीसरे कारण के बन्धन में है। निष्कर्ष यह है कि कारणों का अनन्त चक्र है, जो एक-दूसरे को उपर्युक्त रीति से कार्य करने के लिये बंधन में रखते हैं[३]। ये विचार स्पाईनोज़ा के प्रायः सभी लेखों में, कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं।

उसने एक और जगह लिखा है कि मस्तिष्क में इच्छा या विधिनिषेधपरक कोई शक्ति नहीं है, सिवाय एक विचार के और वह भी इतना कि वह विचारमात्र है[४]। उसकी सम्मति में इच्छाशक्ति (Volition) और बुद्धि (Understanding) एक ही चीज है। जब हम कहते हैं कि एक आदमी अपनी निर्णायक बुद्धि से काम नहीं लेता, तो इसका मतलब केवल इतना होता है कि विवादास्पद विषय को वह अच्छी तरह नहीं समझता। निर्णायक बुद्धि से काम लेने के अर्थ समझना मात्र है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं[५]। तब स्वतन्त्रता का ज्ञान कहां से आया? स्पाईनोज़ा का उत्तर यह है कि यह भ्रममात्र है और इस भ्रमोत्पत्ति का कारण यह है कि मनुष्य अपने कामों को तो जानता है, परन्तु उन कारणों से अनभिज्ञ रहा करता है, जिनके द्वारा वे कार्य, विवशता के साथ निष्पन्न हुआ करते हैं[६]। फिर एक और जगह उसने एक उदाहरण देकर अपना भाव इस प्रकार प्रकट किया—

---

१. The Problem of Philosophy p. 333 and 334.
२. Ethics by Spinoza part I Prop.XXIX.
३. Do. part II prop. XLVIII.
४. Do. part II prop. XLIX.
५. Ethics by Spinoza part II Prop.XLIX. note.
६. Do. part II prop. XXXV. note.

"एक बालक दूध की इच्छा करने में अपने को स्वतन्त्र समझता है। एक दूसरा क्रोधी बालक क्रोध के लिए इसी प्रकार के विचार रखता है। एक डरपोक बालक भाग जाने को स्वतन्त्रता समझता है। एक शराब के नशे में बेसुध पुरुष, जो कुछ ऊटपटांग बकता है, उसे अपनी स्वतन्त्रता का काम समझता है, इसी प्रकार एक सन्निपातग्रस्त व्यक्ति अथवा एक वाचाल स्त्री, अपनी व्यर्थ की बातों को अपनी स्वतन्त्रता का काम समझती है। परन्तु वास्वत में वे, ये सब कार्य बंधन से ही करते हैं और हेतु स्पष्ट है कि वे इन कार्यों को रोक नहीं सकते[१]।"

मालब्रांश (Molebranche)

मालब्रांश ने अपने अनियत कारणवाद में ईश्वर में ही समस्त कर्त्तव्य का आदेश किया है। ऐसा करते हुए भी जीव की सत्ता स्वीकार की है। जीव की सत्ता से इन्कार न करते हुए भी, उसने उसको किसी प्रकार का यत्न प्रारम्भ करने से वंचित रखा है। वह कहता है कि किसी प्रकार का भी हम यत्न क्यों न करें, वह ईश्वरेच्छा से बाहर नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्य के समस्त कार्य, ईश्वरेच्छा पर ही निर्भर होते हैं, जैसे समस्त जगत् के अन्य कार्य। हमारी इच्छा एक स्वाभाविक रुचि है, जो आमतौर से भलाई की ओर जाती है, परन्तु वह रुचि भी अनिश्चित है। वह ईश्वर है, जो बिना रोकटोक हमको भलाई की ओर ले जाता है और वहीं किसी विशेष भलाई का ज्ञान और उसका प्रेम हमें देता है और उस भलाई के करने के लिए भी वही हमें उद्यत करता है। अतः हमारे मस्तिष्क के कार्यों में जितनी वास्तविकता है, उसका कर्त्ता भी ईश्वर ही है, परन्तु वह पाप का कर्त्ता नहीं है। पापी कुछ नहीं करता, क्योंकि **पाप कुछ** नहीं है। पाप यही है कि जीव कुछ नहीं करता और बेकार रहता है, ईश्वर का अनुसरण नहीं करता[२]।

बोसूट (Bossuet)

बोसूट ने, इच्छास्वातन्त्र्य सम्बन्धी अपने एक निबन्ध में, इच्छास्वातन्त्र्य की स्थापना करते हुये उसकी संगति ईश्वर के भविष्य-ज्ञानी और सर्वज्ञ होने के साथ लगाने का यत्न किया है। वह कहता है कि इच्छास्वातन्त्र्य अवश्य हमारे अन्दर है और इस स्वतन्त्रता का ज्ञान हमको निम्न कारणों से होता है—

---

१. Ethics by Spinoza part III Prop.II, note.

२. Rech. dela Verite by Molebranch Book I (English Translation)

(१) अनुभव साक्षी है। (२) तर्क से समर्थित है।

(३) इलहाम से उसकी गवाही मिलती है। ईश्वर ने धर्मग्रन्थों के द्वारा उसका हमें ज्ञान दिया है। इस आक्षेप के उत्तर में कि आवश्यक कार्यों के करने में कोई न कोई अभिप्राय कर्त्ता का अवश्य हुआ करता है और वही उस कार्य के करने में हमें बाधित किया करता है; बोसूट, अनेक ऐसे कार्यों के उदाहरण देते हुये, जिन्हें मनुष्य उपेक्षा बुद्धि रखते हुये करता है; कहता है कि इच्छाशक्ति अपने कार्यों की स्वयं निर्णायक है। उसे उस निश्चय के करने में अन्य किसी बन्धन की जरूरत नहीं। उसने एक उदाहरण दिया है कि जब हम अपना हाथ बिना किसी इरादे के विशेष दिशा की ओर उठाते हैं, तो हमको मालूम हो जाता है कि केवल हमारी इच्छाशक्ति है, जो हमको इस काम के करने के लिये बाधित करती है। अन्तःकरण के इस साक्ष्य की पुष्टि तर्क से होती है। बोसूट एक और तर्क उपस्थित करता है कि संसार के प्रायः सभी भाषाओं में आये हुये, "उत्तरदायित्व", "प्रायश्चित्त", "प्रशंसा", "इलज़ाम", "दण्ड", "इरादा" आदि शब्द, स्वतन्त्रता का विधान करने के सिवा और कोई बात प्रमाणित नहीं करते। इसलिये हम अनेक वस्तुओं से सम्बन्धित स्पष्ट विचार रखते हैं, जिन्हें कोई स्वतन्त्र व्यक्ति ही रख सकता है। इलहाम से स्वतन्त्रता सिद्ध करने के लिये उसने बाइबिल के अनेक उदाहरण दिये हैं। इस के बाद उसने इस जटिल प्रश्न के हल करने का यत्न किया है कि किस प्रकार इच्छास्वातन्त्र्य की संगति ईश्वर की सर्वज्ञता से लगाई जा सकती है।

"ईश्वर, मनुष्य की इच्छाशक्ति को प्रेरित करता है कि वह अपनी इच्छानुसार किसी परिणाम के लिए कोई काम करे, ईश्वर केवल वही जानता है, जो वह स्वयं करता है। वह बाहर से कोई ज्ञान प्राप्त नहीं करता और क्योंकि वह प्रत्येक बात देखता है, इसलिए कोई काम नहीं, जिसका वह कर्त्ता न हो[१]।" यदि उसके भीतर कुछ न होता, तो कहां से वह हमारे कार्य-स्वातन्त्र्य का कारण बन सकता था। हमारे स्वतन्त्रता से किये कामों को, वह पहले से नहीं जानता है और इन कामों को जब हम करेंगे, तब भी वह इन्हें नहीं देखेगा[२]।" मनुष्य का इच्छास्वातन्त्र्य भी बना रहे और ईश्वर की त्रिकालज्ञता में भी भेद न आये, इसके लिए बोसूट से चार सूरतें पेश की हैं—

१. Rreatise on Freewill by Bossuet Ch: II.

२. Rreatise on Freewill by Bossuet Ch: III.

(१) पहला हल तो वही है, जो सेंट आगस्टाइन (St. Augustine) से सम्बन्धित है, जिसे पीछे से प्रोटिस्टेंट और जान सेनिस्ट ईसाइयों ने अपना लिया था। अर्थात् जो काम मनुष्य अपने इरादे से करे, उसे इच्छास्वातन्त्र्य के अन्तर्गत समझना चाहिए। १७वीं शताब्दी में इरादे से कुछ करने का मतलब यह समझा जाता था कि किसी काम को मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करे। इसके भीतर रहस्य यह है कि पहला पाप करने से पूर्व मनुष्य कर्म करने में पूरा स्वतन्त्र था, परन्तु जब उसने पहला पाप कर डाला, तब ईश्वर ने पूर्णता से सब कार्यों को इस प्रकार व्यवस्थित किया, जिससे वे हमारी इच्छा पर निर्भर रहें और वह अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से इस प्रकार का हमको बना देता है, जिससे हमारी इच्छा वही हो, जिसमें वह (ईश्वर) प्रसन्न होता हो। बोसूट के मत में, इस प्रकार समझने से ईश्वर की त्रिकालज्ञता और हमारे अपने कर्मों के उत्तरदायित्व में कोई असंगति नहीं रह जाती, परन्तु वह इस बात को भूल जाता है कि पहला पाप करने से पूर्व ईश्वर में त्रिकालज्ञता नहीं थी और उसके बाद स्वतन्त्रता नहीं रही।

(२) १६वीं सदी में जेसूट मौलिना (Jesuit Molina) ने एक निबन्ध में स्वतन्त्रता का ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ अविरोध प्रदर्शन करते हुए लिखा है था कि ईश्वरीय ज्ञान के तीन उद्देश्य हैं—(१) सम्भवनीय घटनाओं का प्रकट करना, (२) घटित घटनाओं का विवरण देना, (३) सोपाधिक घटनाओं का खोलना। संख्या ३ में वर्णित घटनाओं का स्थान सं० १ और २ के मध्य में है। ईश्वर अनादिकाल से जानता है कि उससे उत्पन्न किये हुए प्राणी स्वतन्त्रता से क्या करेंगे ? ईश्वर के इस ज्ञान से मनुष्य की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं पहुंच सकती, क्योंकि चीज के जानने का अभिप्राय यह नहीं होता कि स्वतन्त्रता से करने के लिए निश्चय किये हुए कर्म का प्रकार बदल दिया जाये। ईश्वर प्राणियों की इस बात को लक्ष्य में रखते हुए कि वे अपनी प्राप्त स्वतन्त्रता से किस-किस समय क्या-क्या करेंगे, अपने आदेशों को मर्यादित किया करता है, वह (ईश्वर) प्रतीक्षा करता हुआ देखता है, कि हमारी इच्छाओं के रुख किधर हैं और तब निश्चित रीति से अपने आदेशों को हमारे निश्चयों के सम्बन्ध में निश्चित करता है[1]। इस प्रकार

१. Treatise by Bossuet Ch: IX.

ईश्वर, अपने ज्ञान के माध्यम से, जो सं० १ (सम्भवनीय घटना) और सं० २ (घटित घटनाओं) दोनों से पृथक् होता है, मनुष्य इच्छास्वातन्त्र्य से जो कुछ करना निश्चय करता है, उसे जानते हुये अपनी कृपाओं का विभाग किया करता है।

जेसूट मौलिना के लेख का, उपर्युक्त विवरण देते हुए बोसूट इस पर आक्षेप करता है कि इस वाद के अनुसार ईश्वर के आदेश, वस्तुओं के आदिकारण नहीं हो सकते[१]।

यह समाधान भी आक्षेपरहित नहीं कहा जा सकता। किस प्रकार, स्वतन्त्रता से किया हुआ अचानक कर्म, अनादि काल से ईश्वर के ज्ञान में आ सकता है?

(३) तीसरा समाधान यह है कि ईश्वर हमको विशेष कार्यों की ओर खींच लेता है।

(क) विषयों की तरतीब और उन परिस्थितियों के द्वारा, जिनमें उस (ईश्वर) ने हमको रक्खा है।

(ख) उन विचारों के द्वारा, जिन्हें उसने हमारे मस्तिष्कों में भर दिया है।

(ग) उन आवेगों के द्वारा, जिन्हें वह हमारे हृदयों में उत्पन्न करता रहता है।

अस्तु, ऐसी कोई भी बात नहीं है जिसे वह, अपने मनसूबों के पूरा करने में, अपनी सर्वशक्तिमत्ता से, काम में न ला सकता है। इसलिए यदि वह चाहे कि हमारी इच्छाशक्ति पर अधिकार प्राप्त कर ले और साथ ही हमें स्वतन्त्र भी रखे, तो ये दोनों काम एक साथ करने में वह समर्थ है[२]।

(४) चौथा समाधान—इसे थौमिस्ट[३] लोगों ने उपस्थित किया है, जिसे पूर्वनिश्चयवाद[४] कहते हैं। वाद का रूप वह है कि ईश्वर हमारे मस्तिष्क पर तत्काल इस प्रकार काम करता है, जिससे हम कोई काम विशेष रीति से करना स्थिर कर लेते हैं, परन्तु फिर भी वह हमारा स्थिरीकरण स्वतन्त्रतापूर्ण ही रहता है, क्योंकि वह (ईश्वर) ऐसा ही चाहता है। हम अपने को व्यर्थ थकाते हैं, जब हम यह जानने का यत्न

---

१. Treatise by Bossuet Ch: VI.

२. Do. Ch: VII.

३. A follower of the scholastic philosophy of Thomas Aquinos.

४. The doctrine of Premonition of physical pre-determination.

करते हैं कि ईश्वर के इच्छा करने का आधार क्या है ? ईश्वर न केवल हमारी पसन्द का ही कारण है, बल्कि उस स्वतन्त्रता का भी कारण है, जिससे हम किसी काम का करना, पसन्द किया करते हैं[१]।

बोसूट, इस चौथे समाधान को उपस्थित करते हुए कहता है कि ईश्वर हमारी स्वतन्त्रता का कारण है। वह हमारे काम को ऐसा बना देता है, मानो उसका करना न करना एकमात्र हमारे ऊपर ही निर्भर था।

लाइबनिट्ज (Leibnitz)

लाइबनिट्ज डेकार्ट और स्पाईनोजा दोनों के सिद्धान्तों का विरोधी था। डेकार्ट ने डंस स्कौटस (Duns Scotis) की तरह निश्चय किया था कि ईश्वर में पूर्ण उपेक्षा और मनुष्य में इच्छास्वातन्त्र्य है, परन्तु इसके विरुद्ध स्पाईनोजा ने जीव और जगत् सबका आधार ईश्वर ही को माना था। स्पाईनोजा के इस दैववाद और डेकार्ट के उपेक्षावाद के मध्य में लाइबनिट्ज ने एक वाद, जिसे "आचारिक आवश्यकतावाद" कहते हैं, स्थापित किया था। लाइबनिट्ज़ कहता है कि उपेक्षा-स्वातन्त्र्यवाद ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ असंगत है और प्राकृतिक नियमों तथा तर्क के साथ भी इसकी संगति नहीं लगती, क्योंकि इस वाद के अनुसार, जीवात्मा कर्म करते समय, ऐसी अवस्था में है, जिसमें प्रत्येक बात ठीक तरह नपी-तुली है; या तो इसलिए कि इच्छा के सामने कर्म का कोई लक्ष्य नहीं है अथवा वह अत्यन्त बलिष्ठ प्रलोभनदायक उद्देश्यों से प्रभावित है। लाइबनिट्ज, अपने वाद को पुष्ट करने के लिए कहता है कि मनुष्य में भी सब बातें, उसी तरह से ठीक और पूर्व से निश्चित हैं, जैसे कि ब्रह्माण्ड के अन्य सब काम और जीवात्मा एक प्रकार आध्यात्मिक स्वयं चलने वाला यन्त्र है। मस्तिष्क एक कांटा है और लक्ष्य उस कांटे में तोलने के बाट हैं, या यों कहिये कि मस्तिष्क एक शक्ति है, जो अनेक ओर काम करने का यत्न करता है, परन्तु कर उसी को पाता है, जिधर अधिक से अधिक, उसे सुगमतायें प्राप्त होती हैं, और कम से कम विरोध होता है, इस प्रकार मस्तिष्क की इच्छा, उसके संपर्क में आने वाली, भलाइयों की ही ओर जाती है। ये पूर्वगामिनी इच्छाएं होती हैं, परन्तु आनुषंगिक इच्छायें, जो इन इच्छाओं का परिणाम होता है, उस ओर जाने के लिए निश्चित हो जाती हैं, जिधर जाने के

१. Treatise by Bossuet Ch: IX.

लिए उस पर अधिक से अधिक प्रभाव पड़ते हैं। यहां प्रश्न यह है कि फिर किस दृष्टि से मनुष्य में स्वतन्त्रता का आरोप किया जाये?

स्वतन्त्रता के भीतर तीन बातें हुआ करती हैं—(१) बुद्धि या छांटकर पसंद करने का विवेक, (२) स्वेच्छा, (३) यदृच्छा। इनमें से स्वेच्छा कर्म करने की शक्ति और वह योग्यता है जिसके भीतर, कर्म क्यों किया गया, यह रहस्य निहित है। चूंकि संसार आध्यात्मिक अणुओं से बना हुआ है, इसलिए प्रत्येक वस्तु के अन्दर स्वेच्छा मौजूद होती है जगत् में सभी, जो असंभव या परस्पर विरोधी नहीं हैं, आपातिक (अचानक हो जाने वाला) है। इस दृष्टि से, न केवल मनुष्यों के कर्म, किन्तु वास्तविक जगत् की प्रत्येक दृष्टिगोचर वस्तु आपातिक है।

लाइबनिट्ज के उपर्युक्त विवरण पर दृष्टिपात करने पर सुगमता से यह कहा जा सकता है कि लाइबनिट्ज जिसको सुरक्षित रखना चाहता है वह स्वतन्त्रता का शब्दमात्र है, वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं। फिर भी लाइबनिट्ज के आचारिक परतन्त्रतावाद को स्पाईनोजा के तर्कानुसार भाग्यवाद से मिला नहीं सकते।

डैविड ह्यूम (David Hume)

ह्यूम की सम्मति में कर्म करने की जगत् में न तो परतन्त्रता है और न स्वतन्त्रता। जो कुछ है, उसे दृष्टिगोचर वस्तुओं का तारतम्य ही कह सकते हैं। जो निरन्तर एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी घटना घटित होती रहती है। लाइबनिट्ज की तरह, न तो उसकी पद्धति युक्तियुक्त थी और न लॉक की तरह अनुभवात्मक। उसे केवल आलोचनात्मक कह सकते हैं, जिसका उद्देश्य इतना था कि अपने विचारों का व्यवच्छेद करके उसका स्पष्टीकरण कर देवे। ह्यूम ने एक जगह लिखा है—"मुझे आशा है कि सभी मनुष्य परतन्त्रता और स्वतन्त्रता दोनों पद्धतियों के मानने में, युक्तियुक्त सीमा तक सदैव सहमत रहे हैं और यह कि इस सम्बन्ध का सभी वादविवाद केवल शब्दों पर निर्भर रहता है[१]।"

यदि यह प्रकट हो सके, कि सभी मनुष्य बिना किसी झिझक या सन्देह के सहमत हैं, कि हमारे सभी स्वतन्त्र इच्छापूर्वक किये कर्म नियमित सम्बन्ध-नियम के आधीन हैं और उनके तर्क-निर्णीत अर्थ

१. Enquiry Concerning the Human Understanding by Hume Section VIII part I.

किये जा सकते हैं, तो इससे सिद्ध हो जायेगा कि सभी पुरुष परतन्त्रतावाद को मानते हैं। एक ही उद्देश्य से, एक ही प्रकार के कार्य हुआ करते हैं। कर्म के लक्ष्य आकांक्षा, धनोपार्जन, आत्मप्रेम, उदारता, जनसेवा आदि हुआ करते हैं।

अपने वाद को पुष्ट करने के लिए एक जगह ह्यूम ने लिखा है कि—"अत्यन्त अनियमित और आशातीत निश्चय, जो मनुष्य करता है, उसे प्रायः ऐसे मनुष्य पूर्व से विचार लिया करते हैं, जिन्हें उस मनुष्य के चरित्र का प्रत्येक विवरण और परिस्थिति का पूरा ज्ञान होता है[१]। + + + एक प्रकार से, मनुष्य उचित रीति से इच्छास्वातन्त्र्य को स्वीकार कर सकता है, जैसा लॉक ने भी कहा है कि मनुष्य में ऐसी शक्ति हो, जिससे रुकावट न होने पर वह अपनी इच्छा को कार्य में परिणत कर सके, परन्तु जब लक्ष्य मालूम होने से मनुष्य के सभी कर्म पहले से जाने जा सकते हैं, तो फिर स्वतन्त्रता का विचार भ्रममात्र है।"

कान्ट (Kant)

हम ब्रह्माण्ड में केवल ब्रह्मजगत् को, काल और दिशा के रूप में देखते हैं। परन्तु यह दृश्य बाह्यजगत्, अद्वैत और एकात्मवाद से मेल नहीं खा सकता। हां, यदि कठोर परतन्त्रतावाद की बेड़ियों से, अपने आगे-पीछे जाने के कार्यों में, इस प्रकार जकड़ दिया जाये कि पृथक् न हो सके, तो शायद मेल हो सके। परन्तु हमारी बुद्धि के समस्त विचार और नियम, बुद्धि की सीमा से बाहर काम में नहीं आ सकते। यदि समस्त आन्तरिक विषयों को बाह्यजगत् की सत्यता दे दी जाये, तो बुद्धि का यह काम इन्द्रजाल ही समझा जायेगा और उसका यह कार्य अपनी तुष्टि का ही कार्य माना जायेगा। इस प्रकार दैववाद से हमारा छुटकारा हो जाता है। जगत्, जैसा वह हमें प्रतीत होता है, परतन्त्रतापूर्ण है, केवल बाह्यजगत् यहां अभिप्रेत है। परन्तु आन्तरिक वस्तु तात्त्विक और यथार्थ जगत् इस बाह्यजगत् के नियमों से सर्वथा स्वतन्त्र है और केवल उन्हीं नियमों के आधीन है, जो आन्तरिक जगत् से ही सम्बन्धित हैं। निष्कर्ष यह है कि हमको जो कुछ ब्रह्माण्ड में प्रतीत होता है उससे, जो कुछ वास्तव में है, उसके अनुमान करने का कोई अधिकार नहीं है। कान्ट के उस ग्रन्थ से, जो उसने शुद्ध तर्क के सम्बन्ध में (The

---

१. Enquiry Concerning the Human Understanding by Hume Section VIII part I.

Critique of Pure Peason) लिखा था, प्रमाणित होता है कि स्वतन्त्रता असम्भव है, परन्तु क्रियात्मक बुद्धि से सम्बन्धित ग्रन्थ (Critique of Practical Reason) से सिद्ध होता है कि स्वतन्त्रता अनिवार्य है। जगत् में मनुष्यों के लिये जो स्पष्ट विधायक कर्त्तव्य नियत किये जाते हैं, फिर उनके कुछ अर्थ ही नहीं हो सकते, यदि मनुष्य को स्वतन्त्रता से वंचित रक्खा जाये। कर्त्तव्य की नियुक्ति असंदिग्ध रीति से स्वतन्त्रता का विधान करती है। अपने वर्तमान जीवन में, यदि हम समष्टि रूप से अपने कार्यों को देखें, तो वे केवल नामरूप (बाह्य दृश्य) होते हैं और एक ऐसा प्रकार उपस्थित करते हैं, जिसके सभी अंश एक दूसरे के साथ, परतन्त्रवाद की मर्यादानुसार, जुड़े हुये हैं, परन्तु यह शृंखला, जिसकी अनेक लड़ियां हैं और जो क्रमबद्ध और विभाज्य है, क्योंकि काल उनका प्रकाश कर रहा है, एक ऐसी वस्तु को प्रकट कर रही है, जो निरवयव, एकाकी, स्वतन्त्र, काल के बन्धन से रहित और नित्य है। परतन्त्रता उसका बाह्य दृश्य और स्वतन्त्रता उसका आन्तरिक सत्य है। कान्ट की इस दार्शनिक शिक्षा में विश्वास के लिये कोई स्थान नहीं है।[१]



१. Preface. 25 Edition of the Critique of Pure Reason by Kant.

अठारहवां अध्याय

जॉन स्टुआर्ट मिल (John Stuart Mill)

मिल ने लिखा है कि इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में बहुत पुराने जमाने अर्थात् पेलेजियस (Pelegius) के समय से मतभेद चला आता है। परतन्त्रतावाद के अनुसार मनुष्य की इच्छा और कार्य दोनों नियत और अनिवार्य हैं, परन्तु स्वतन्त्रतावाद इसके विरुद्ध है। उसके अनुसार मनुष्य की इच्छा, जगत् के अन्य दृश्य कार्यों के सदृश, पहले से निश्चित नहीं है, किन्तु मनुष्य उसका निश्चय स्वयं करता है, इन दोनों सूरतों का विवरण देने के बाद मिल कहता है कि उसकी सम्मति में पहला पक्ष ठीक है[१]। परन्तु उसमें एक आपत्ति यह है कि इस पक्ष के समर्थक, उसे इस प्रकार प्रकट करते हैं कि जिससे आमतौर से वह वाद स्वीकार करने के अयोग्य हो जाता है।

दार्शनिक परतन्त्रता

मिल ने पहली सूरत का शुद्ध रूप इस प्रकार प्रकट किया है कि मनुष्य के मस्तिष्क में निमित्त पहले से मौजूद होते हैं और इसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति और चरित्र भी पहले से तैय्यार होता है। मिल का कथन है कि यदि किसी मनुष्य को याथातथ्य रीति से जानते हों और उस पर पड़ने वाले प्रत्येक प्रभाव अथवा प्रलोभन को भी जातने हों, तो निश्चित रीति से बतलाया जा सकता है कि वह किस प्रकार काम करेगा। इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में, इस प्रकार उसका भविष्य बतला देने से उसकी इच्छास्वातन्त्र्य में जरा भी फर्क नहीं आ सकता[२]। अपने पक्ष के समर्थन में उसने एक दलील दी है। वह कहता है कि धार्मिक तत्त्वों ने इच्छास्वातन्त्र्य को, ईश्वर की त्रिकालज्ञता के साथ संगत समझा है। यदि ईश्वर के भविष्य ज्ञान के साथ वह संगत हो सकता है, तो अन्यों के भविष्य ज्ञान के साथ भी उसकी संगति होनी चाहिये।

मनुष्य, किसी लक्ष्यविशेष की ओर चलने के लिये, जैसे किसी निहित अलौकिक शक्ति से विवश होता है, वैसा कर्म करने में विवश

---

१. System of Logic by J.S. Mill Book VI Ch: II p. 547.
२. System of Logic by J.S. Mill Book VI Ch: II p. 548.

नहीं, अपितु हम यह भी अनुभव करते हैं कि यदि किसी लक्ष्य का हम विरोध करना चाहें, तो हम यह भी कर सकते हैं। + + + जो लोग यह ख्याल करते हैं कि कारण और कार्य के मध्य में एक अलौकिक सम्बन्ध है, जो कारण के बाद कार्य को ले आया करता है, वे यह समझने में निर्दोष हैं कि स्वाभाविक प्रवृत्तियों और इच्छाओं के बीच का सम्बन्ध उससे भिन्न प्रकार का है। यदि इसी प्रकार की ग्रन्थि, परतन्त्रता शब्द के अन्तर्गत मानी जाये, तो परतन्त्रतावाद मनुष्यों के कर्मों के सम्बन्ध में ठीक नहीं उतरेगा और न किसी सजीव प्राणी के सम्बन्ध में ही ठीक होगा, क्योंकि यह कहना बिलकुल ठीक है कि मस्तिष्क से अधिक प्रकृति, परतन्त्रतावाद से परतन्त्रित नहीं है[१]। वह फिर कहता है कि कारण और कार्य अथवा प्राकृतिक आवश्यकता और उसके प्रभाव के मध्य में निरुद्धता की गुंजाइश नहीं है, परन्तु इच्छाशक्ति के सम्बन्ध में समझना होगा कि वर्तमान कारणविशेष से कार्य होगा, परन्तु इस कारण के प्रभाव में अन्य कारणों के प्रति व्याघात की संभावना हो सकती है, परन्तु साधारणतया वह (कारणविशेष) सभी अन्य कारणों, विशेषकर सब से बलवान् प्रतिव्याघाती कारण के व्यापार का साधक होता है।

जब हम कहते हैं कि मनुष्यों के प्रत्येक कार्य परतन्त्रतावशात् ही होते हैं, तब इसका मतलब इतना ही होता है कि यदि कोई रुकावट न हुई तो वह अवश्य घटित होंगे, परन्तु जब हम यह कहते हैं कि जो लोग भोजन नहीं पा सकते, उनके लिये मरना अनिवार्य है, तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि उसके रोकने के लिए चाहे जितना यत्न किया जाये, वह अवश्य मरेगा। प्राकृतिक साधन जिन पर मनुष्यों के कर्म निर्भर होते हैं और जो अनियन्त्रित हैं, उनके अनुकूल सदैव कार्य हुआ करता है। मिल ने अपना भाव स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया है कि प्राकृतिक नियमों की आवश्यकता या परतन्त्रता किसे कहते हैं? हम शारीरिक परम्परा को आवश्यकता या परतन्त्रता कहते हैं, जैसे बिना वायु या भोजन के मरना आवश्यक है, परन्तु यदि किसी व्यक्ति को विष दिया जाये, तो उसके लिये हम मौत को आवश्यक नहीं कहेंगे, क्योंकि सम्भव है कि औषधि प्रयोग से, विष का प्रभाव जाता रहे और वह आदमी न मरे। यह उदाहरण देकर मिल कहता है कि मनुष्य के कर्म दूसरी (जहर से मृत्यु वाली) सूरत में आते हैं। वे कर्म कदापि किसी

१. System of Logic by J.S. Mill Book VI Ch: II p. 548.

एक लक्ष्य के इस प्रकार आधीन नहीं होते, कि उन पर किसी दूसरे लक्ष्य का प्रभाव न पड़ सके। इसलिये वे कारण (प्राकृतिक साधन), जिस पर कर्म निर्भर होते हैं, कदापि अनियन्त्रित नहीं होते और कोई भी कार्य, यदि उस कारण को, जिसका वह कार्य है, नियन्त्रित न किया जाये, तो वह अवश्यम्भावी है[१]।

यह परतन्त्रतावाद, जिसका ऊपर विवरण दिया गया है, दैववाद से, सर्वथा पृथक् है, परन्तु प्रायः देखा यही जाता है कि अधिकांश परतन्त्रतावादी, अपने अनुभव के आधार पर न्यूनाधिक दैववादी ही होते हैं। मिल ने भाग्य (दैव) वाद और परतन्त्रतावाद के अन्तर दिखलाने के लिये एक चित्र दिया है जो इस प्रकार है—

भाग्य (दैव) वादी

(१) (क) भावी अपने कार्य का अनिवार्य फल है।

(ख) भावी के विरुद्ध यत्न करना बेकार है। वह अटल है।

(२) विश्वास रखता है कि उसका स्वभाव ऐसा है अथवा उसकी शिक्षा और अवस्थाओं ने, उसके चरित्र को ऐसा मोड़ दिया है कि कुछ भी उसे एक खास तरीके से सोचने और वैसा ही कर्म करने से रोक नहीं सकता, या कम से कम उसका कोई भी यत्न, उसमें रुकावट नहीं डाल सकता।

(३) मनुष्य का चरित्र उसके लिये बनाया गया है, उसने नहीं बनाया, इसलिये वह उसे बदल भी नहीं सकता।

परतन्त्रतावादी

(१) (क) से सहमत है।

(ख) हमारे कर्म हमारे चरित्र फल हैं और चरित्र शारीरिक संगठन शिक्षा और परिस्थितियों का परिमाण होते हुए न्यूनाधिक चेतना के अनुकूल होता है।

(२) मनुष्य का चरित्र उसकी अवस्थाओं से बना करता है, परन्तु उसकी यह इच्छा भी, कि मैं उसे (चरित्र को) मोड़ दूं, एक अवस्था (कारण) है और यह भी नहीं है, कि उसका कम प्रभाव हो।

(३) हम साक्षात् रीति से यह इच्छा नहीं कर सकते, कि हम जो कुछ हैं, उससे सर्वथा भिन्न हो जायें, परन्तु क्या वे भी जिनके लिये कल्पना की जाती है, कि उन्होंने हमारा चरित्र बनाया है, साक्षात् रीति

१. System of Logic by J.S. Mill Book VI Ch: II p. 549.

से इच्छा करते हैं, कि हमें वही रहना चाहिये, जो कुछ कि हम हैं। मनुष्य की इच्छाशक्ति में और कोई साक्षात् शक्ति नहीं है सिवाय इसके, कि अपने कर्मों पर अधिकार रखे। उन्होंने हमको पहले जैसी इच्छा वाला बनाया, वैसा ही बना दिया, परन्तु यह बनाना अन्त का काम नहीं था, अपितु आकांक्षित मध्यस्थिति ही थी। हम जबकि हमारा स्वभाव (आदत) अत्यन्त चिरस्थायी नहीं, उपर्युक्त भांति इच्छा करके आकांक्षित मध्यस्थिति में हो जाने के द्वारा अपने को अब से भिन्न भी बना सकते हैं। हम भी अपने चरित्र को बनाने में उतने ही समर्थ हैं, जितना कि दूसरे हमारा चरित्र हमारे लिये बनाने में समर्थ हैं।

ओवनाइट का इस पर आक्षेप

रौबर्ट ओवन के अनुयायी ओवनाइट (Owenitcs) मिल के उपर्युक्त तर्क पर यह आक्षेप करते हैं[१] कि इच्छाशक्ति, जो हमारे चरित्र को बदल देती है, बिना किसी यत्न से हमको मिली है, वह इच्छाशक्ति विशेष अवस्थाओं द्वारा जिनपर हमारा कुछ अधिकार नहीं होता, बाह्य कारणों से या बिना किसी कारण के हमारे पास आती है।

मिल का समाधान

हमारा चरित्र, हमारे लिये हमारे द्वारा ही बना है, इच्छाशक्ति जो हमको चरित्र के निर्माण के लिये प्रवृत्त करती है, उसी से चरित्र बना करता है, किस प्रकार चरित्र बनता है ? इसका उत्तर यह है कि न केवल हमारे शारीरिक संगठन और न केवल हमारी शिक्षा से चरित्र बनता है, किन्तु मुख्यतया उस अनुभव से चरित्र बना करता है, जो हमारे पहले चरित्र के दुःखप्रद परिणामों से प्राप्त होता है अथवा अन्यों द्वारा अपने गुणों की बार-बार प्रशंसा से जो संस्कार बना करते हैं, या अनायास जो प्रभाव सत्संगादि से हृदय पर पड़ता है, वे चरित्र के निर्माण में सहायक हुआ करते हैं। परन्तु एक यह विचार कि हमारे अन्दर चरित्रपरिवर्तन करने की शक्ति नहीं और दूसरा यह विचार कि हम अपनी शक्ति को प्रयोग में नहीं लायेंगे, जब तक हम उसको प्रयोग में लाने की इच्छा न करें, दो भिन्न-भिन्न बातें और दोनों का भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ा करता है।[२]

---

१. The Socialistic Philanthropical System of Robert Owen (1958) established by him at the New Lamark Mills in Scotland.

२. System of Logic by John Stuart Mill, Book VI Ch : II P. 550.

उन्नीसवां अध्याय

विज्ञान का पक्ष

ज्ञान की दृष्टि में मनुष्य की प्रकृति, वस्तुओं की सार्वत्रिक प्रकृति का भाग है, और मनुष्य का जीवन भी विश्व की विस्तृत चेतना का एक अंश है। प्राकृतिक नियमों में अपवाद नहीं हो सकता। जो अपवाद अपवाद प्रतीत होता है, वह भ्रममात्र है और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने पर जाता रहता है। यह नियम है, जिसका विज्ञान सदैव समर्थन करता रहता है। इसी वाद के आधार पर, जब मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान और भौतिकविज्ञान का, मनुष्य की जीवन समस्या पर, आक्रमण होता है, तब मनुष्य के कल्पित इच्छास्वातन्त्र्य का सफाया हो जाता है और उसे अपनी परतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ती है। इसी वैज्ञानिकवाद का नाम परतन्त्रतावाद है, इस पर जैम्स सेठ ने एक जगह लिखा है, कि यदि इस वैज्ञानिकवाद (Determinism) को अपने मन्तव्य के प्रकट करने का साहस होता, तो उसे अपने पुराने और शुद्ध नाम ''प्राकृतिक आवश्यकतावाद'' (Necessitarianism) को अपनाना चाहिए था[१]। क्योंकि जो शक्तियां मनुष्य को बन्धन में रखती हैं, वे मुख्यत: लक्ष्य, स्वभाव और निर्मित चरित्ररूपी आंतरिक शक्तियां ही हुआ करती हैं। तो भी आंतरिक शक्तियों और बाह्यजगत् में प्रचलित प्राकृतिक शक्तियों के मध्य कोई वास्तविक असम्बद्धता नहीं है। अन्त को ये दोनों (बाह्य और आभ्यन्तर) शक्तियां एक ही हैं। अत: मनुष्य के कर्त्तव्य का असली आधार, भीतर की अपेक्षा, अधिकतर बाहर है, क्योंकि बाह्यशक्तियां अधिक बलवती और महत्त्वपूर्ण हैं। आन्तरिक शाक्तियों का समावेश उन्हीं के अन्दर है, और वे उन्हीं का अंशमात्र हैं। हम अपना स्वभाव, बाह्यप्रकृति से, वंशपरम्परा के द्वारा लेते हैं और एक बार जब प्राप्त कर लेते हैं तब अवस्थाओं के बल और शिक्षा से, उसकी पुष्टि और वृद्धि करते रहते हैं। उन्हीं बाह्यप्रभावों के वशीभूत होकर, जो प्रभाव हमारे ऊपर नित्यप्रति पड़ते रहते हैं, हम जो कुछ करते हैं, वह उन्हीं के

---

१. पहले Determinism और Necessitarrrianisn के पृथक्-पृथक् स्कूल थे, परन्तु पीछे से यह अन्तिम वाद पहले वाद में शामिल कर दिया गया। अब Necessitarrrianisn का कोई पृथक् स्कूल नहीं रहा। वे आम तौर से Determinism को मानने लगे हैं—लेखक

अनुकूल, पुनरावृत्ति के रूप में होता है, जैसे कि पशु, पौधे और यहां तक कि पत्थर भी, अपने भीतर (परिवर्तन) किया करते हैं। इस प्रकार के (प्रभावों से उत्पन्न) कार्य (और उन्हीं के वश होकर किए हुए हमारे), पुनः कार्य, मिलकर उन घटनाओं की पूरी शृंखला उत्पन्न करते हैं, जिनसे हमारा जीवन बनता है, इसलिए हम स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु बाह्य प्रकृति की आवश्यकताओं के बन्धन में हैं। बाह्यप्रकृति के जो नियम हैं, वही हमारे भी हैं। बाह्यप्रकृति की आवश्यकता को, जो हमारे जीवन से इस प्रकार जुड़ी हुई है, जैसे दुलड़ी रस्सी की एक लड़ दूसरी के साथ जुड़ी हुई होती है, हम विचार में ला सकते हैं। वह सत्य है, आंतरिक आवश्यकता की जगह, उसे बाह्य आवश्यकता कहना अधिक उपयुक्त है। परन्तु ये आन्तरिक और बाह्य आवश्यकतायें, अन्त में एक ही हैं। पैटर ने एक जगह[१] कहा है कि "आवश्यकता जिससे हमारा जीवन शासित होता है, वह एक ऐन्द्रजालिक तन्तु है, जो हम में ओतप्रोत है। जिस प्रकार विज्ञान, वैद्युत् शक्ति का कथन करता है कि वह जाल की तरह हमारे शरीर में फैली हुई है और सूक्ष्म नाड़ी से भी सूक्ष्म है, तो भी उसके भीतर ब्रह्माण्ड की मुख्य शक्ति निहित होती है।"

इन नवीन परतन्त्रतावाद और प्राचीन आवश्यकता**वाद** में जो भेद था, वह विज्ञान से, जहां तक कि उसका सम्बन्ध है, विकासवाद के विचारों के आ जाने से दूर हो गया। अब विज्ञान, अन्य विकसित पदार्थों की तरह मनुष्य को भी विकास की पैदावार समझता है। मनुष्य स्वभाव को भी समझना चाहिये कि वह विकासमय है, जिसमें नित्यप्रति विकास होता रहता है। विज्ञान की दृष्टि में, मनुष्य अपने समय और अपनी अवस्था की सन्तति है और बच्चों की ही तरह शक्तिहीन उनके हाथ में है। मनुष्य के जीवन और चरित्र की, वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि ब्रह्माण्ड में प्रचलित सार्वत्रिक विकास से विकसित, अन्य पदार्थों के साथ वह भी अपना स्थान ले रहा है और अपने स्थान पर अपना प्रदर्शन कर रहा है।

विज्ञान के पक्ष का निचोड़ यह है कि विज्ञान के लाभ और उसे अपनी इच्छाओं की पूर्ति की ओर चलने देने के लिए आवश्यक है कि इच्छास्वातन्त्र्य का प्रत्येक अंश में, जो इन शब्दों से प्रकट हो सकते हैं,

---

१. The Renaissance by W. Patcr.

विरोध किया जाये, उसकी स्वीकृति का अर्थ, विज्ञान ने मनुष्य के जीवन का जो अर्थ समझा है, उससे दस्तबरदार होना है[१]।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विज्ञान का उपर्युक्त मत सर्वसम्मत था, परन्तु बीसवीं शताब्दी का विज्ञान और मनोविज्ञान इससे सर्वथा भिन्न है। वह इस परतन्त्रतावाद को स्वीकार नहीं करता।

सर आर्थर इडिंगटन ने १९३० ई० में, एक विज्ञानसम्बन्धी सभा के सभापति की हैसियत से जो भाषण दिया था, उसमें इस (उपर्युक्त) वैज्ञानिक परतन्त्रतावाद के असफल होने के संबंध में इस प्रकार कहा था—"एक और आश्चर्यजनक परिवर्तन, जो वैज्ञानिक विचारों में हो गया है, परतन्त्रतावाद के सम्बन्ध में है। यह विचार कि भविष्य पहले से निश्चित है और यह कि समय केवल उस कहानी के पृष्ठों को उलट रहा है जो पहले से लिखी जा चुकी है।"

"निस्सन्देह उत्पन्न जगत् की पहली प्रातःकाल में ही जो लिखा गया था, वही प्रलयांत की अन्तिम प्रातः को पढ़ा जायेगा।" एडिंगटन ने उपर्युक्त वाक्य का उल्लेख करते हुये प्रकट किया था कि कुछ काल पूर्व तक आमतौर से यह शिक्षा साइंस की समझी जाती थी। कम से कम प्राकृतिक जगत् के सम्बन्ध में तो यही सार्वत्रिक विचार था। यद्यपि यान्त्रिक दृष्टिकोण के मुख्य नियमों ने जड़वाद का बहिष्कार किया था, परन्तु आज का भौतिक-विज्ञानवाद यांत्रिक नियमों पर निर्भर नहीं है। वह ऐसी बुनियाद पर खड़ा हुआ है, जहां इस कल्पित परतन्त्रतावाद के लिये कोई गुंजाइश नहीं है। जहां तक प्राकृतिक जगत् का संबंध है, उसमें हमें अणुमात्र भी, परतन्त्रतावाद का चिह्न नहीं मिलता और इसलिये अब इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में संदेह करने की कोई बात नहीं है[२]।

---

१. A Study of Ethical Principles by James Seth part III Ch: I (15th Edition).

२. सर आर्थर एडिंगटन वर्तमान काल के वैज्ञानिकों में उच्च स्थान रखते हैं, इसलिये पाठकों के लाभार्थ हम उनके शब्द यहां उद्धृत किये देते हैं—

Another striking change of scientific views was in regard to Determinism, The view that the future was pre-destined, and that time merely turned over the leaves of a story that was already written.

"Jea, the first morning of Creation wrote
What the last Dawn of Reckoning shall read."

Contd.....

मैक डौंगाल महाशय ने भी एक जगह लिखा है कि "मुझे बड़ा संदेह है कि यदि भावी जीवन तथा तत्सम्बन्धी धार्मिक विचारों को छोड़ दिया जाये, तो कोई जाति आचारिक उत्कृष्टता प्राप्त भी कर सकती है[१]।"



Until recently this was almost universally accepted as the teaching of science, at least in regard to the material universe. It was the distinctive principle of the mechanistic outlook which superseded the crude materialistic outlook. But today physical theory was not mechanistic and it was **built ona** foundation which knew nothing of this supposed Determinism. So far as we had yet gone in our proving of the material universe, we could not find a particle of evidence in favour of Determinism. There was no longer cry need to doubt our intuition of Freewill. (Leader Allahabad 29/12/30).

1. Body and Mind-a History and Defence of Animism by Mr. Mc. Dougall Ch: XIV

बीसवां अध्याय

दूसरा पक्ष आचारिक और धार्मिक विश्वास

कांट का प्रसिद्ध वाक्य, कि इच्छास्वातन्त्र्य आचार की बुनियाद है, अब तक स्वीकार किया जा रहा है, वैज्ञानिक परतन्त्रतावाद के स्वीकार करने से, आचारिक जीवन नष्ट हो जाता है। परतन्त्रतावादी हजार यत्न करें कि प्राकृतिक आवश्यकता के आधार पर परतन्त्रतावाद की सहायता से, नाममात्र का कोई आचार स्थापित करें, परन्तु यह यत्न अवश्य असफल होगा, असफल होगा।

सदाचारी पुरुषों का जीता जागता अनुभव है कि प्रायश्चित्त प्रतिफल, पाप की स्वीकृति और इनाम, उसके जीवन के समस्त कष्ट, अपमान, प्रसन्नता और श्रेष्ठता के लिए इनका पूरा करना न करना, उसकी अपनी इच्छा पर ही निर्भर होता है, अवश्य उसके अन्तिम उद्देश्य की पूर्त्ति, एक अंश तक, एक दूसरी शक्ति की सहायता से होती है।

मनुष्य जब तक मनुष्यता खो न दे, अपने स्थिर कर्त्तव्य के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए यह अपनी स्वतन्त्रता भी नहीं छोड़ सकता है और न यह चाह सकता है, कि प्रकृति के हाथ की कठपुतली बन जाये। उसके आचारिक अनुभव के आधार से, उसके अन्दर यह विचार बना रहता है कि जड़ प्रकृति से अनादि काल से, असीम श्रेष्ठता रखता है। प्रकृति उसके विरुद्ध कुछ नहीं कर सकती परन्तु वह प्राकृतिक आवश्यकता में भेद पैदा कर सकता है, उसकी दृष्टि में प्राकृतिक आवश्यकतावादी पशुओं का-सा स्वाभाविक जीवन व्यतीत कर रहा है। ऐसा जीवन नहीं व्यतीत कर रहा है, जिसे एक अच्छे और सदाचारी पुरुष का जीवन कह सकें, स्वतन्त्रता पर विश्वास रखने से मनुष्य का जीवन सदाचारप्रिय जीवन बना करता है। आचारिक जीवन की मुख्य विशेषता यह है कि उससे मनुष्य न तो स्वाभाविक जीवन पशुओं की तरह व्यतीत करता है और न वह अपने को ईश्वर ही समझने लगता है। उसमें उत्तरदायित्व और कृतज्ञता के भाव निहित रहते हैं।

मनुष्य के दुःखसम्बन्धी साधारण अनुभव में यह विश्वास शामिल रहता है कि उसके लिए अनेक प्रकार के कर्मों के मार्ग खुले हुए हैं, इसलिए ऐसे ही कर्म करने चाहिएं, जो दुःखप्रद न हों और आगामी जीवन में वे उसके काम आयें। भूलों के लिए पश्चात्ताप करने की भावना बाहर से नहीं किन्तु निश्चय है कि भीतर ही से उत्पन्न हुआ करती है, हमारी आचारिक प्रकृति, उच्चताओं की प्राप्ति का मतालिबा करने में, बड़ी कठोर है और इसी प्रकार उन उच्च आदर्शों के पूरा न कर सकने की अवस्था में भी, उसकी कठोरता वैसी ही बनी रहती है। इस प्रकार से देखा जाए तो मनुष्य जीवन में सम्भावना और वास्तविकता के लिए एक ही जैसे विचार रहा करते हैं अथवा यों कहिए "जो होना चाहिए था" उसको जो "हुआ है" उसमें परिणत करने की भावना बनी रहती है।



इक्कीसवां अध्याय

इच्छास्वातन्त्र्य और अद्वैतवाद

आचार को लक्ष्य में रखते हुये जिस इच्छास्वातन्त्र्य की अपेक्षा हो सकती है, उसके स्वीकार करने का फल यह होगा कि हमें उन सारे दार्शनिक प्रकारों से हाथ धो लेना पड़ेगा जो ऐक्य या जड़ाद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं। जब हम इच्छास्वातन्त्र्य को स्वीकार करते हैं, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि—

(१) हम एक ऐसे अध्यात्मजगत् को स्वीकार करते हैं जो इस प्राकृतिक जगत् से इस प्रकार की दृष्टि से भिन्न है और इसीलिये वैज्ञानिक संयोग के दावे से भी दस्तबरदार होते हैं।

(२) इसका यह भी अभिप्राय है कि हम जीव के बहुत्व को स्वीकार करके चेतनाद्वैत को भी रद्द करते हैं।

(३) प्रोफेसर जैम्स ने भी यही कहा है कि स्वतन्त्रतामय व्यक्तित्व के स्वीकार करने से हम अनेक प्रकार के अद्वैतवादों से पृथक् होकर अनेकतावाद के संसार में दाखिल हो जाते हैं।

(४) इस (इच्छास्वातन्त्र्य) के स्वीकार करने से, यह भी आवश्यक होगा कि जगत् में नेकी के साथ बदी की सत्ता को भी स्वीकार किया जाये, इस बदी की सत्ता के स्वीकार करने का फल यह होगा, कि दार्शनिक और धार्मिक प्रसन्नता को भी खैरवाद कहा जाये या कम से कम यह मानने के लिये बाधित होना पड़ेगा कि हर्षवाद की इमारत में दुःखवाद के खुले और सीधे द्वार से प्रवेश करें। ये सब कठिनाइयां जो अध्यात्मजगत् को उठानी पड़ेंगी और एक तमपूर्ण गुफा में जो उसे प्रवेश करना पड़ेगा, उसका एकमात्र कारण आचारिक बुद्धि की स्वीकृति और उसके मतालिबों की पूर्ति करने की भावना है।

(५) इसके साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि आचारिक इच्छास्वातन्त्र्य का प्रश्न जीवात्मा की सत्ता स्वीकार करने का भी प्रश्न है। यदि यह स्वीकार कर लिया गया तो अनेक अध्यात्म प्रणालियों के मार्ग में रोड़ा अटकाना पड़ेगा, इन कठिनाइयों को लक्ष्य में रखते हुये भी, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इच्छास्वातन्त्र्य आचार की बुनियाद है और इसी बुनियाद से आचार परखा जा सकता है।

विलियम जेम्स (William James)

विलियम जेम्स ने अपने "परतन्त्रतावाद की भूल-भुलैयां" शीर्षक के लेख में कांट के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुये लिखा है कि मैं एक व्यक्ति के रूप में, आचार सम्बन्धी मर्यादाओं के विचार करने में, अपने को वैसा ही स्वतन्त्र अनुभव करता हूं, जैसी कि यान्त्रिक या तार्किक सच्चाई के अनुभव करने में उनके विचारक अपने को अनुभव करते हैं। यदि कोई वाद, जो ब्रह्माण्ड का विवरण देने में, ऐसा हो जो आचार सम्बन्धी सिद्धान्त में बाधा डाले, तो मैं उसका खण्डन करने या कम से कम उसकी सत्यता में सन्देह करने के लिए अपने को स्वतन्त्र समझूंगा। मैं यह बात खुले तौर से स्वीकार करता हूं कि अनेकतावाद और इच्छास्वातन्त्र्य के मानने से जो अशान्ति जगत् में होती है, एक दरज़े तक अनुचित है और शायद बुद्धि के भी विरुद्ध हो, परन्तु इस (इच्छास्वातन्त्र्य) के स्थान पर जो वाद स्थापित किया जाता है, वह कहीं उससे भी अधिक बुद्धि के विरुद्ध और अशान्तिप्रद है। निबन्ध को समाप्त करते हुए जेम्स ने परिणाम यह निकाला है कि स्वतन्त्रवाद से केवल हमारी बुद्धि की पूर्णता में बाधा पहुंचती है और वह पूर्णता प्रशंसनीय नहीं, अपितु अनियन्त्रणीय है, परन्तु परतन्त्रतावाद से तो आचारिक सत्यता और उत्तरदायित्व का भाव सर्वतोभावेन नष्ट हो जाता है[१]।

१. The will to Believe, and Other Essays by William James P. 145-183

बाईसवां अध्याय

जेम्स सेठ (James Seth)

जेम्स सेठ ने, विलियम जेम्स के स्वतन्त्रता सम्बन्धी मत पर विचार करते हुए लिखा है कि इच्छास्वातन्त्र्य के प्रश्न का यह हल तो ठीक है, परन्तु तो भी इस हल का वास्तविक आशय क्या है ? उसे प्रकट कर देना ठीक होगा। यह हल कांट के पक्ष की पुष्टि करता हुआ घोषित करता है कि आचार का पक्ष वैज्ञानिक पक्ष की अपेक्षा, प्रबल और शुद्ध है।

दो प्रकार के मतों का कारण

जिन दार्शनिक अथवा अन्य विद्वानों ने इस विषय में अपने-अपने अनुकूल या प्रतिकूल मत प्रकट किये हैं, उनमें इस प्रकार के मतभेदों का होना स्वाभाविक है। कारण स्पष्ट है कि सभी मनुष्यों के अन्दर आचारिक अथवा तार्किक बुद्धि एक जैसी नहीं होती। किसी में एक की अधिकता और अन्यों की न्यूनता होती है और अन्यों में इसके सर्वथा विपरीत अवस्था देखी जाती है, जैसे कुछ लोग तो जन्म से ही अद्वैतवादी और कुछ द्वैतवादी हुआ करते हैं। इसी प्रकार कोई जन्म से ही आचारप्रिय होता है और दूसरा तार्किक, और इस प्रकार के भिन्न-भिन्न मनुष्यों के स्वभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं और ये भिन्न-भिन्न स्वभाव ही, भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति, उनमें उत्पन्न करने का कारण हुआ करते हैं कि किसकी प्रवृत्ति, इस विवादास्पद विषय की ओर क्या होगी ?

जो विज्ञान और तर्क का पक्ष लेते हैं, उन्हें स्पाईनोजा के सामने झुकना पड़ता है और जो आचार और धर्म का पक्ष लेते हैं, उन्हें कांट और लोज़े (Lotze) की ओर जाना पड़ता है। कोई इस स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को चाहे वर्तमान ज्ञान और खोजों के कम अनुकूल समझें, परन्तु उसके समर्थक उसे बुद्धिपूर्वक और तर्कसिद्ध विश्वास बतलाते हैं। यदि आचार सम्बन्धी अनुभवों के अन्तर्गत स्वतन्त्रता निहित है और मनुष्य की सृष्टि भी इसी प्रकार की रची गई है कि वे स्वतन्त्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझें, तब इस विषय के सिद्ध करने का बोझ, आचारवादियों के जिम्मे नहीं अपितु परतन्त्रतावादियों के जिम्मे पड़ता है कि वे अपने पक्ष को सिद्ध करें।

दोनों पक्षों में मेल किस प्रकार रह सकता है?

हम और हमारा आचारिक जीवन तथा शारीरिक और मानसिक जीवन, दोनों एक ही सत्यता के अंश हैं। आचारिक सत्यता और शारीरिक सत्यता, दोनों एक ही वास्तविक ब्रह्माण्ड के दो तत्त्व हैं। आचारिक ज्ञान, जगत् की अनेक चेतनाओं या प्रकाश में से एक प्रकाश है[१]। हम ब्रह्माण्ड से आचार और उससे सम्बन्धित ज्ञान को पृथक् नहीं कर सकते और न यह बनावटी वस्तु है! और न जगत् में कहीं बाहर से लाकर रक्खी गई है।

यह (इच्छास्वातन्त्र्य) एक अकृत्रिम तथ्य स्वयं जगत् का द्योतक और प्रकाशक है और इसलिये हमारा कर्त्तव्य है कि हम इसी के प्रकाश में, जगत् की व्याख्या करें। जो कुछ भी कठिनाइयां आचार सम्बन्धी ज्ञानोत्पत्ति के कारण आध्यात्मिक ज्ञान के मार्ग में उत्पन्न हों, उन सबको कृपा करके नहीं, किन्तु प्रथम का अधिकार समझकर दूसरे को सहना चाहिये, क्योंकि यह (आचार सम्बन्धी ज्ञान) भी तर्क और सांसारिक तथ्य की आवाज़ है अथवा वस्तुओं का धर्म है। यदि परतन्त्रतावाद, इसकी आवाज को रोकेगा या इसे केवल इन्द्रजाल या सांसारिक छलमात्र समझेगा, तो यह न केवल मनुष्य स्वभाव का बल्कि स्वयं ब्रह्माण्ड का भी अपमान होगा। हमारी तार्किक और आचारिक बुद्धियों में जो अन्तर दिखाई पड़ता है, वह केवल दिखावटी है वह वास्तविक या स्थिरतापूर्ण अंतर नहीं है[२]। इसलिये हमको यत्न करना चाहिये कि दोनों की संगति लग सके। परतन्त्रतावादियों का कथन है कि इन दोनों वादों में विरोध का कारण, दोनों के यथार्थ ज्ञान की कमी है यदि प्राकृतिक आवश्यकता-वाद को ठीक तरह से समझ लिया जाये तो उससे स्वतन्त्रतावाद पृथक् नहीं किया जा सकता। इनमें मेल के उपाय की चिन्ता, बहुत दिनों यहां तक कि इडवार्ड के समय से चली आती है, परन्तु इसका सबसे बड़ा पक्षपाती ह्यूम था[३]। ह्यूम के बाद जो इन दोनों के मेल का समर्थक हुआ, वह "शैड-वर्ड-हौजसन" था। उसने एक जगह लिखा है, स्वतन्त्रता का सच्चा और सीधा अर्थ वह स्वतन्त्रता है, जो बलात्कार की विरोधी

१. C.F. Fouillee, L Avenir be la Metaphysique p. 262. (English Translation).
२. Ethical Principles by J. Seth. P. 375.
३. Enquiry Concerning Humar Understanding by Hume Ch: VIII.

है और इसी प्रकार प्राकृतिक आवश्यकता (परतन्त्रता) का शुद्ध और सच्चा अर्थ वह आवश्यकता है, जो यदृच्छा अथवा भाग्य का विरोध करती है, इस प्रकार बलात्कार रहित स्वतन्त्रता और यदृच्छा अथवा भाग्यवादशून्य आवश्यकता में, यदि देखा जाये, तो फिर ये विरोधी अंक नहीं ठहर सकते.... एक परतन्त्रतावादी को पूरा अधिकार है कि इच्छास्वातन्त्र्य रक्खे[१]" फिर एक दूसरी जगह उसने लिखा है कि "इच्छास्वातन्त्र्यवाद एक ऐसी स्वतन्त्रता का स्वप्न देखता है जो प्राकृतिक आवश्यकता से शून्य हो,.....परन्तु यह आवश्यकता अवियोज्य है, अथवा यों कहिये कि यह आवश्यकता स्वतन्त्रता का सहकारी अंग है और उस सहकारी अंग के बिना स्वतन्त्रता विचार में लाई ही नहीं जा सकती, अथवा इसी प्रकार से असम्भव है, जैसे कोई बिना भूमि के चलना या बिना हवा के उड़ना चाहे[२]।"

हौजसन ने फिर एक जगह लिखा है कि वह वस्तु, जिसके साथ सर्वसाधारण की दिलचस्पी हो, इच्छास्वातन्त्र्य ही है। स्वतन्त्रता शब्द से, चाहे वह इच्छा की स्वतन्त्रता हो अथवा अन्य किसी वस्तु की, उसका अभिप्राय अधिकतर बलात्कार रहित स्वतन्त्रता ही समझा जाता है। सर्वसाधारण एक साथ दोनों प्रकार के विचार रखते हैं—(१) इच्छास्वातन्त्र्य या बंधनरहित होना (२) आवश्यकता (परतन्त्रता) या कर्मों की एकरूपता। वह (होजसन) इनमें किसी प्रकार का विरोध अनुभव नहीं करता[३]। अतः स्पष्ट है कि इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में जो वाद-विवाद है, वह स्वयं दार्शनिकों के मध्य में है और इस विवाद का मूल, आवश्यकता शब्द की संदिग्धार्थता है और यह विवाद इसलिये और भी बढ़ गया कि वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों में, इस शब्द के आलंकारिक अर्थों का समावेश हो गया। असल में इस शब्द का अर्थ, चाहे वह मनुष्य के कर्त्तृत्व से संबंधित हो या प्राकृतिक विकास से, केवल समता है। आवश्यकता नियम (Law of Necessity) एक कर्त्ता या किसी सत्ता के रूप में काम नहीं दे सकते थे, तो भी चाहे प्राकृतिक घटना हो या मनुष्यों का कर्त्तत्व, दोनों में उन्हें कर्त्ता के प्रतिनिधि होने का रूप दिया गया है, अर्थात् असली कर्त्तृत्व, इन्हीं के हाथ में था। परन्तु

१. Mind by O.S. Shadworth Hodgson Vol. III, P. 111.
२. Mind by Shadworth Hodgson Vol. V, P. 252.
३. Ethical Principles by James Seth. P. 378.

वर्तमान परतन्त्रतावाद, इन पुराने ढांचे के आवश्यकतावादियों के मार्ग का अनुसरण नहीं करता, किन्तु वैज्ञानिकों के सरल वैज्ञानिक मार्ग का पथिक बना हुआ है[१]। ह्यूम ने सदैव के लिये, प्राकृतिक आवश्यकतावाद के विचारों को, जो अलौकिकता और शक्तिविशेषों से संबंधित थे, वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के लिये छोड़ दिया, इसलिये स्पष्ट है कि जब हम आवश्यकता नियम को, केवल समता समझते हैं, तो सारा विवाद शान्त हो जाता है और यह समतावाद, इच्छास्वातन्त्र्य के पूर्णतया अनुकूल है। परन्तु फिर भी मामला इस प्रकार खत्म नहीं हो सकता, क्योंकि बलात्कारशून्य इच्छास्वातन्त्र्य केवल एक बात है, किन्तु इच्छास्वातत्र्य के पूरे विचार का इसमें समावेश नहीं होता। यदि हम मनुष्य को उसी अर्थ में स्वतन्त्र कहें जिसमें प्रकृति स्वतन्त्र है, तो इससे काम नहीं चल सकता, क्योंकि हम अभी प्रकट कर चुके हैं कि आवश्यकता का प्राकृतिक घटनाओं से भी शक्तिसाम्य नहीं है। प्राकृतिक नियम, संसार में काम करने वाली वस्तुओं की चाल ढाल में सामंजस्यमात्र रखते हैं। इसलिये प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है कि किस प्रकार मनुष्य के कर्त्तृत्व को उस कर्त्तृत्व से पृथक् किया जाये, जो केवल प्राकृतिक नियमों के वशीभूत होकर काम में आया करता है, जिससे कर्मों के आचारिक दृष्टि से निर्णीत होने में बाधा न पहुंचे? केवल समता, बलात्कार से कम न होगी और उसे स्वतंत्रता का अभाव ही कह सकते हैं[२]। फिर भी आवश्यकतावाद को समतावाद में परिवर्तित कर देने से, इच्छास्वातन्त्र्य की समस्या हल करने में, वह एक उपयोगी साधन हो जाता है। एक संकुचित अर्थ में, समतावाद में परिवर्तित आवश्यकतावाद को इच्छास्वातन्त्र्यवाद का सहयोगी अंश कह सकते हैं। जैसा कि लोज़े ने कहा है कि स्वतन्त्रता को वही वस्तु समझ लिया जाये, जैसा कि उसे समझा जाना चाहिये, तो मान लेना पड़ेगा कि वह कारणवाद का अत्यन्त व्यापक रूप है[३]। इस पर जैम्स सेठ कहता है कि यदि इस प्रकार इच्छास्वातन्त्र्य की रक्षा करना इष्ट हो तो कारणिक समतावाद में, इच्छास्वातन्त्र्यवाद का समष्टिरूप से समावेश नहीं होना चाहिये, किन्तु उसमें आचाराभिमानी जीव का समावेश होना चाहिये। समता या

१. Ethical Principles by James Seth. P. 377.
२. Ethical Principles by James Seth. P. 378.
३. Ethical Principles by James Seth. P. 377 and 378.

यांत्रिकवाद, मनुष्य जीवन में कारण या कर्मसाधन हो सकते हैं परन्तु उस जीवन का सबसे ऊंचा भाग, इच्छास्वातन्त्र्य ही होगा।

आचारिक स्वतन्त्रता का लक्षण और उसकी सीमा

जैम्स सेठ ने इच्छास्वातन्त्र्य के लक्षण इस प्रकार किये हैं—

स्वतन्त्रता का अर्थ आत्मनियतिवाद करना, अनियतिवाद की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें समता का निषेधपरक भाव लाने की अपेक्षा, समता का उसमें पहले से समावेश है, ऐसे विचार का रखना, उत्तम है[१]।

प्रत्येक मनुष्य की आंतरिक प्रकृति और बाह्य परिस्थितियों में कुछ रेखायें खिंची हुई होती हैं, जिनके अनुकूल ही उसका चरित्र बना करता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये सब कुछ होना संभव नहीं, क्योंकि प्रत्येक का आचारिक क्षेत्र पृथक् होता है और यह प्रत्येक के लिए निश्चित होता है और यही उसके जीवन में, प्राप्त हुई वस्तु है और यह प्रत्येक के लिये निश्चित होता है और यही उसके ज़ीवन में, प्राप्त हुई वस्तु है और इस निश्चय के बनाने वाले दो साधन होते हैं—

(१) आन्तरिक (२) बाह्य।

आन्तरिक साधन

आन्तरिक साधन ये हैं—(१) प्रकृति (२) शील (३) स्वभाव (शारीरिक और मानसिक) ये ही वस्तुयें हैं, जो मनुष्य के आचारिक जीवन की, प्रारम्भिक सजावट किया करती हैं।

बाह्य साधन

बाह्य साधन ये हैं—(१) बाह्यस्थिति बल (२) उसके जीवन के स्थान और अवसर (शारीरिक और सामाजिक) जिन्हें परिस्थिति भी कहते हैं।

जहां तक निश्चय का सम्बन्ध है और जहां तक मनुष्य के कर्तृत्वक्षेत्र का संबंध है, प्रत्येक मनुष्य के लिये वह नियत है, फिर भी इच्छास्वातन्त्र्य के लिए जगह है। आचार-सम्बन्धी कार्यों की विशेषता और स्वरूप, प्रत्येक मनुष्य के लिए भिन्न-भिन्न हो सकते हैं और प्रत्येक के लिये निश्चित भी हो सकते हैं, परन्तु फिर भी आचारसम्बन्धी विकल्प का मार्ग, क्षेत्र के भीतर रहते हुए भी प्रत्येक के लिये खुला रहता है।

---

१. Ethical Principles by James Seth. 378.

मनुष्यत्व के निर्माण के लिये, उसके अच्छे या बुरे होने की सम्भावना पर्याप्त है। इसकी जरूरत नहीं कि उसके लिये अच्छे या बुरे या बुरेपन का विशेष स्वरूप नियत हो। अच्छे या बुरेपन का कोई भी स्वरूप ग्रहण किया जा सकता है। जो कोई भी स्वरूप ग्रहण किया जायेगा, वही किसी व्यक्ति के लिये निश्चित समझा जायेगा, परन्तु यह निश्चय उस व्यक्ति का किया हुआ न होगा, परन्तु विकल्पों में से, किसी एक के पसन्द करने की इच्छा, सभी सूरतों में एक ही होगी और वह इच्छा भले और बुरे में से, किसी एक के पसन्द के लिये ही होगी और इस इच्छा का व्यक्तियों के आधीन होना ही आवश्यक है।

अतः प्रकृति और बाह्य परिस्थिति कच्चे माल हैं, जिनसे मनुष्य अपना चरित्र बनाया करता है। ये कच्चे माल (द्रव्य) तो हैं, परन्तु हैं आकार द्रव्य, जिनसे संगतराश की तरह, वह जैसी चाहता है, अपने विचारानुकूल मूर्ति बना लिया करता है, मनुष्य भी अपनी इच्छानुसार अपना चरित्र बना लिया करता है।

सदाचारिक सीमानिरूपण ही मुख्यतया व्यक्तित्व का बोधक है

संसार में प्रत्येक व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा भिन्नता रखता है। यही कारण है जिससे सदाचार के आदर्श में भी प्रत्येक व्यक्ति में भिन्नता होती है। एक व्यक्ति का सदाचार उसके भाई तक से नहीं मिलता। आचार के विवरण में इतना अन्तर होते हुये भी मूलकार्य की बाह्य रेखा सब के लिये एक जैसी रहती है। मूलकार्य, प्रकार की दृष्टि से सार्वलौकिक है। यद्यपि उसे अवयवों के एक विशेष प्रकाश में देखा जाता है, परन्तु उसकी सार्वलौकिकता का ह्रास किये बिना भी उसे प्रत्येक अवयव में देख सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपना एक आदर्श रखता है कि उसे ऐसा होना चाहिये और विस्तृत अर्थों में भलाई और बुराई के मध्य उसी के पसंद करने की उसकी इच्छा होती है। इसलिये प्रत्येक के लिये मूलरूपेण एक ही (वही) कार्य होता है।

अतः प्रकृति और बाह्य स्थिति से काम लेने के अवसर आने पर मनुष्य का चरित्र बन जाया करता है, क्योंकि चरित्र, मूर्ति की तरह बनाई हुई वस्तु होती है और इसीलिये उसके बनाने के लिए भी मूर्ति के सदृश, कुछेक द्रव्य अपेक्षित होते हैं। चरित्र किस प्रकार अच्छा या बुरा बना करता है, इसका कारण उपलब्ध अतः प्रकृति और बाह्य स्थिति हुआ करती है। इस प्रकार चरित्रनिर्माण का उत्तरदायित्व स्वयं

मनुष्य ही पर होता है। आकारद द्रव्य से उत्तम स्वर्गीय आदर्शानुसार, चरित्र का बना लेना मनुष्य की विशेषता हुआ करती है।

क्या मनुष्य के सदाचारिक जीवन के उपस्थित किये हुए कारण, आकारद चरित्र का रूप बनाने वाले नहीं है ? क्या बहुधा यह नहीं देखा जाता है कि प्रतिकूल कारणों से आश्चर्यप्रद सदाचारिक परिणाम निकल आया करते हैं ?

जब किसी काम को कठिन और प्राय: असम्भव समझ लिया जाता है तो क्या कभी-कभी यह नहीं देखा जाता कि उसी में आशातीत सफलता हुई है ? और इसके विपरीत कई बार अच्छे साधनों से क्या काम बिगड़ते नहीं देखा जाता ?

इन घटनाओं को लक्ष्य में रखते हुये बहुत सुगमता से यह परिणाम निकल आता है कि सफलता या विफलता केवल साधनों पर निर्भर नहीं है, बल्कि उसका असली कारण मनुष्य की बुद्धि और योग्यता होती है, जिससे वह साधनों का सदुपयोग और दुरुपयोग किया करता है। मनोवैज्ञानिक न सही आचारनीतिशास्त्रीय कामना ही सही, उसमें अवश्य वास्तविक पर्याय पाया जाता है, जिससे मनुष्य अच्छे या बुरे दोनों में से एक, अपने लिये छांट लिया करता है।

अध्यात्मविद्या इस प्रश्न के हल करने में समर्थ है

विज्ञान से इस प्रश्न का हल सम्भव नहीं है, क्योंकि विज्ञान की ओर से जो समाधान मानुषी जीवन का उपस्थित किया जाता है, यदि वह ठीक मान लिया जाये, तो फिर उसमें इच्छास्वातन्त्र्य के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती[१]। शैडवर्थ हौजसन (Shadworth Hodgson) ने एक जगह कहा है कि "यदि इच्छास्वातन्त्र्य सत्य है, तब तो वैज्ञानिक वर्गीकरण अपर्याप्त है और यदि वैज्ञानिक वर्गीकरण पर्याप्त है, तो इच्छास्वातन्त्र्य भ्रममात्र है[२]।"

विज्ञान की इस पर्याप्ति या अपर्याप्ति का निर्णय करना दर्शनशास्त्र के अधिकार में है, उसको उचित रीति से विश्वसमालोचक कहा जाता है। दर्शनशास्त्र की रू से, इच्छास्वातन्त्र्य की स्थापना, निषेधक और विधायक दोनों प्रकार की युक्तियों से हो सकती है। निषेधक युक्ति यह

१. यहां विज्ञान से उसका वह स्कूल लक्षित है, जिसके द्वारा मानुषी जीवन का आधार जड़ प्रकृति का विलक्षण सम्मिश्रण कल्पित है।

२. Erhical Principles p. 381.

है कि इच्छास्वातन्त्र्य के पोषक और पर्याप्त वर्गीकरणों का विज्ञान में समावेश किया जाए, क्योंकि यदि मनुष्य को मनुष्य न समझकर उसे केवल प्रकृति का बाह्यद्रव्य या आकार ही समझा जाए, जैसा कि जड़ाद्वैतवादी वैज्ञानिक कहते हैं या ईश्वर का प्रकाश (अंश) ही समझा जाये, जैसा कि चेतनाद्वैतवादी समझते हैं, तो फिर वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता, इसीलिए विकासवादी चाहे वे अध्यात्मवाद के पोषक हों या यन्त्रकलाविज्ञ, अपने-अपने अनुयायियों को इच्छास्वातन्त्र्य के विरुद्ध ही शिक्षा दिया करते हैं[१]।



१. Erhical Principles p. 381 and 382.

तेईसवां अध्याय

मनोवैज्ञानिक परतन्त्रतावाद

मिल ने इस वाद का जो रूप दिया है, उसका स्थान आध्यात्मिक संवेदन विज्ञानवाद और आचारिक परतन्त्रतावाद के मध्य कहा जा सकता है, यह सिद्धान्त असल में ह्यूम ने निकाला था और उस (सिद्धान्त) की तर्कानुरूप अधीनता, उसके आध्यात्मिक अनुभव के वाद से कम स्पष्ट नहीं। अर्थात् यदि मैं अपनी सज्ञान अवस्थाओं में विलीन हो जाने योग्य हूं, अर्थात् यदि मैं संवेदनों, इच्छाओं, कामनाओं, प्रेम और चित्त की वृत्तियों का एक पुलिंदा हूं और मेरी सत्ता केवल नाम रूपात्मक है, तब तो वह नाम रूप (बाह्य दृश्यमात्र), जो कि "मैं" हूं, अपने उद्गम स्थान को लौट सकता है, जिस प्रकार अन्य दृश्य अपने उद्गम स्थान में अन्त को लीन हो जाया करते हैं। अस्तु, उपर्युक्त विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया कि इच्छास्वातन्त्र्य की सिद्धि अध्यात्म-विद्या से ही हो सकती है। हां, ह्यूम ने जो मनोवैज्ञानिक विवरण सदाचारी पुरुष या जीव का दिया है, उसमें इच्छास्वातन्त्र्य का कोई स्थान नहीं है। जीवात्मा क्या है ? यह प्रश्न अध्यात्मविद्या से सम्बन्धित है और उसी विद्या के सहारे से उस (जीव) की खोज होनी चाहिए।

एक ओर वैकल्पिक अतीतात्मक या भावप्रधानात्मक विवरण दिया जाता है और वह यह कि जीवात्मा अनुभवों और भावों के संग्रह के तुल्य है। जो कुछ हो, यह साफ जाहिर है कि आचारनीति का मुख्य प्रश्न जीवात्मा के ज्ञान, स्वभाव और वृत्ति के मुख्य प्रश्न के तुल्य ही है। इसलिए हमको प्रत्यक्षमूलक और अतीतात्मक इन दो में से एक के किये हुए जीवसम्बन्धी समाधान को ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि यह माना जाए कि जीवात्मा की और कोई सत्ता, सिवाय उसके बाह्यदृश्य के नहीं है, तब तो इच्छा स्वातन्त्र्य का विषय समाप्त हो जाता है। जब जीव की कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं, तो फिर स्वतन्त्रता कहां और किस में ? इसके विपरीत यदि यह मान लिया जाए कि जीव अनुभवों का पुलिन्दामात्र नहीं है, बल्कि आचारनैतिक अनुभव सिद्ध करते हैं कि जीव के प्रत्येक दरजे पर स्थिर रीति से मौजूद होने के सिद्धान्त का मानना अनिवार्य है, तब इच्छास्वातन्त्र्य का विषय ग्राह्य हो जाता है।

जीवात्मा के अतीतात्मक समाधान का विचार

जीवात्मा का केवल अनुभवमूलक होना, उससे अधिक और कुछ न होना, आचारनीति में भी, उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार ज्ञानक्षेत्र में उसका ऐसा होना निराद्रित है। आचारनीति के समझ लेने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार वह आत्मा के कर्त्तृत्व का फल है, इसी प्रकार बुद्धिमय जीवन भी इसी का उत्पन्न किया हुआ है। जीवात्मा का कर्त्तृत्व ही समस्त कार्यप्रणालियों का केन्द्र है। यही बात है, जिससे जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने के लिए बाधित होना पड़ता है। न तो आचारनीतिवान् और न बुद्धिमान् पुरुष ही, किसी व्यक्ति के अनुभव के अंगमात्र माने या समझे जा सकते हैं। यदि परतन्त्रतावाद को स्थापित करना है, तो मानना पड़ेगा कि प्रत्येक कार्य का कर्त्ता नाम रूपमात्र है, परन्तु कर्त्तृत्व के स्रोत (जीव) को नामरूपमात्र नहीं कहा जा सकता।

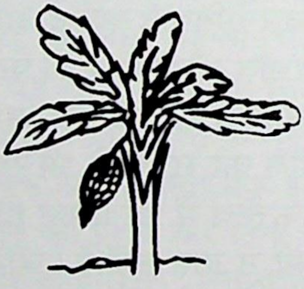
परतन्त्रतावाद से कर्म के सूक्ष्म पहलू (अंग) प्रकट होते अथवा कर्म का व्यवच्छेद होता तो है, परन्तु वह विश्लेषण इस प्रकार होता है कि स्वयं कर्माभिमानी जीव भी उन्हीं विश्लेषित जड़ तत्त्वों में विलीन हो जाता है औरा आचारनैतिक जीवन के संस्थापक और सांयोगिक मूलतत्त्व (जीव) का चिह्न भी बाकी नहीं रह जाता। परन्तु जब हम निदिध्यासन अथवा अन्तर्दृष्टि से देखते हैं, तो साफ दिखाई देने लगता है कि जीवात्मा ही आचारनीतिवान् व्यक्ति और वही कर्म का स्रोत है। प्रयोजन, परिस्थिति, स्वभाव और चरित्र जो परतन्त्रतावादियों के समष्टि जीवन के अवयव हैं यदि वे इनके साथ आचार नैतिक जीवन तथा समस्त कर्म के स्रोत जीव की सत्ता को भी स्वीकार कर लेवें, तो फिर ये सबके सब जीव के कर्त्तृत्व में समाविष्ट हो जायेंगे ? और फिर उसे कर्म करने में परतन्त्र भी न कह सकेंगे। जीव की हालत ठीक उसी मकड़ी के सदृश होगी, जो अपने आप जाला बनाकर उसमें इधर-उधर घूमती है।

अनुभव क्या है ?

अनुभव शब्द स्वयं अर्थव्यंजक नहीं है, उसकी व्याख्या की जरूरत होती है। प्रत्यक्षमूलक अथवा मनोवैज्ञानिक जीव वस्तुतः तत्त्वात्मक नहीं, अपितु नामरूपात्मक मात्र है। ऐसी हालत में उचित रीति से पूछा जा सकता है कि वह कौन-सी वस्तु है जो अपने को नामरूप के रूप

में प्रकट करती है और उसके इस प्रकार स्वयंभू होने की उपपत्ति क्या है ? इसका अतीतात्मक समाधान स्पष्ट है और वह यह है कि अनुभव सम्बन्धी समस्त कार्यप्रणाली जीव के कर्त्तृत्व की कार्यप्रणाली मात्र है।

एक मनोवैज्ञानिक का सम्बन्ध केवल अनुभव (प्रत्यक्ष) मूलक कार्यप्रणाली से है। उसका काम यह है कि पूर्व और उत्तर की घटनाओं में कारण कार्य का सम्बन्ध स्थापित करे। परन्तु यदि बुद्धि के निर्देश से यह दिखाया जा सकता है कि अपरोक्षानुभूत विवरणों के समन्वय में ज्ञान का पूर्व से चिंतन कर लेना जीव का निरन्तर कर्त्तृत्व है और यह कि बिना आत्मा के एकत्व के, नियमबद्धता के साथ, क्रमपूर्वक अनुभव का निर्माण असम्भव है, तो यह भी कम स्पष्ट नहीं है कि बिना एक सविवेक मुख्यात्मा के, इसी प्रकार के सांयोगिक कर्त्तृत्व के आचार-नैतिक-अनुभव का भी एकत्व असंभव है[1]।



१. ग्रीन ने भी मानसिक और आचारनैतिक कर्त्तृत्व के मध्य इसी प्रकार की समता दिखलाई है (देखो Prolegomena to Ethics by Green Book II) और प्रो० लौरी (Laurie) ने अपने ग्रन्थ Companion Volumes, Metaphysica and Ethica में ग्रीक का समर्थन किया है।

चौबीसवां अध्याय

जीवात्मा

जीवात्मा अपने बौद्धिक और आचारनैतिक अनुभवों का जाला पूरा करता है। अपनी आवश्यकताओं, प्रोत्साहनों और अपनी ग्रहणशक्ति के प्रकोपों से जीवात्मा, अपने कर्त्तृत्व के आधार पर जो कार्यसिद्धि के लिये किये जाते हैं, अपने कर्त्तृत्व के उद्देश्य और परिणाम नियत किया करता है, इस प्रकार उद्देश्यों के नियत करने का समस्त कार्य, जीवात्मा अपनी सत्ता और सामर्थ्य के भीतर किया करता है। जीवात्मा के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक अथवा प्रत्यक्षमूलक दृष्टि ही को मानने के लिये बल देना कि आचारनैतिक जीवन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक निरूपण ही अंतिम और पूर्णतापूर्ण निरूपण है, अनिपुणता का ग्रहण करना है, विशेषकर ऐसी अवस्था में, जब कि एक दूसरा दृष्टिकोण मौजूद है, जो निपुणतापूर्ण और पहले वाद की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है। कहा जाता है कि अनुभवमूलक या नामरूपात्मक जीव अनुकूल और प्रतिकूल प्रवृत्तियों और प्रवर्तक शक्तियों का बंडलमात्र है, जिसके नाम और रूप (बाह्यदृश्य) का नाम ही जीवन है, परन्तु जब हम पूछते हैं कि प्रवर्तक शक्ति क्या है? तो इसका उत्तर मिलता है कि प्रवर्तक शक्ति जीव ही है, जीव से भिन्न कुछ नहीं। "यह वस्तु मेरी है", "मैंने इसको बनाया" इन वाक्यों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि "मैं" प्रवृत्तियों का न विषय ही हूं, न उसका स्थिर कोष, किन्तु मैं इन समस्त कार्यप्रणालियों का क्षेत्र हूं और ये सब काम मेरे भीतर ही हुआ करते हैं।

मनुष्यजीवन, असल में व्यक्तिगत (Personal) है, मनोविज्ञान की दृष्टि में एक अकर्तृक (Impersonal) विचार प्रवाह अथवा चेतना का नाम रूपात्मक क्रम है।

अध्यात्मविद्या मनोविज्ञान के इस विभिन्नत्व को दूर करेगी, जैसा कि विज्ञान का विभिन्नत्व उससे दूर हुआ है। आचार-नैतिक-जीवन की आलोचना उसे (अध्यात्मविद्या को) उपर्युक्त जीवन के व्यक्तिगत केन्द्र और आत्मत्व के दृष्टिकोण से, जो एक मूलतत्त्व होने के कारण नामरूप के बन्धन में नहीं आ सकता, करनी चाहिये, क्योंकि बिना उस जीव के निरन्तर कर्त्तृत्व के बाह्य कार्यप्रणाली का प्रारम्भ नहीं हो सकता और न होकर जारी रह सकता है। मनोविज्ञान उस मूलतत्त्व (जीवात्मा) का न

तो विवरण ही दे सकता है और न उसकी व्याख्या ही कर सकता है, क्योंकि प्रत्येक मनोवैज्ञानिक व्याख्या में उस (जीव) की पहले ही कल्पना कर ली जाती है।

इस सबका सार यह है कि आचार नैतिक दृष्टि से जीव व्यक्तित्व रखता है। जीव के व्यक्तिगत चरित्र से ही आचारनैतिक महत्त्व प्रकट हो सकते हैं। अकर्तृक चरित्र कोई सत्तामय वस्तु ही नहीं है। यह मूलतत्त्व (जीव) उस व्रत का केन्द्र है, जिसकी परिधि का मनोविज्ञान ने सावधानता और परिश्रम से वर्णन किया है।

जीव के अतीतात्मक समाधान में कुछ कठिनतायें

प्रचलित मनोविज्ञान से पहले, मनोविज्ञान की प्रवृत्ति यह है कि जीव को न माना जाये, उसकी ओर से कहा यह जाता है कि शारीरिक जगत् के सिवा, मानसिक संसार में, हमको किसी मूलतत्त्व के होने की पेशीनगोई नहीं करनी चाहिये। उसकी दृष्टि में अतीतात्मक कोई वस्तु असली (सत्य) नहीं है। नामरूपात्मक या अनुभवमूलक वस्तु ही सत्य हो सकती है, उसी को जानकर उसे श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार जिसको हम जानते हैं, या जिसका हम वर्गीकरण कर सकते हैं, मनोविज्ञान की दृष्टि में, वह जीव नहीं है, अपितु उसे केवल ''मानसिक आलोक'' या ''मनोवैज्ञानिक अहम्'' कहा जा सकता है। इसी वाद को डाक्टर वार्ड (Ward) ने व्यंजक दृश्यवाद का नाम दिया है।

जिस प्रकार शारीरिक घटनायें घटित होती हैं, उसी प्रकार मानसिक भी और प्रत्येक अवस्था में हमको पूर्व और उत्तरघटित घटनाओं के मध्य सम्बन्ध की खोज करनी चाहिये। यह खोज एक क्रम के भीतर भी हो सकती है और बाहर भी। बाहर इस प्रकार कि यह देखना कि एक क्रम का दूसरे क्रम से क्या सम्बन्ध है? मनोविज्ञान प्रकृतिविज्ञान ही है, इसलिये उसका क्षेत्र नामरूपात्मक जगत् ही होना चाहिये। उसकी सफलता इसी प्रकार हो सकती है कि जीव सम्बन्धी सभी कल्पनाओं को छोड़कर दृश्य जगत् का विवरण देवे, परन्तु प्रतीत यह होता है कि वैज्ञानिक मनोविज्ञान ने अध्यात्मविद्या सम्बन्धी जीवात्मा के विवरण देने के काम भी अपने जिम्मे ले रक्खा है।

आत्मा की कल्पना के विरुद्ध आक्षेप

यह कहा जाता है कि हम आत्मा के शुद्ध रूप को नहीं जान

सकते, क्योंकि वह कभी हमारी चेतना के अन्तर्गतार्थ का कोई अंश नहीं बनता। जो कुछ जाना जा सकता है, वह चेतना मात्र है।

चित्तवृत्ति, नामरूप, अनुभवमूलक विकृति, अचिरस्थायी जीव या "मैं" कुछ ही क्यों न हो, जो नामरूपात्मक जगत् का भाग नहीं बन सकता, नहीं जाना जा सकता। शुद्ध आत्मा या अतीतात्मक जीव, जो समस्त नामरूप का निमित्त है, इन्द्रियातीत है। अवश्य यह नये मनोविज्ञान का नया आविष्कार नहीं, किन्तु पुराना प्रसिद्ध सिद्धान्त है और प्रोटोगोरस (Protogoras) के समय से चला आ रहा है और इसी को संवेदनवाद भी कहते हैं। लॉक के अनुयायियों ने भी निश्चय किया था कि भावना या संवेदन ही निश्चित सत्य है। बरक्ले (Berkaley) ने ह्यूम की अपेक्षा कम स्पष्टता से निश्चित किया था कि हम कदापि आत्मा को नहीं जान सकते। हमारा ज्ञान भावनाओं तक ही सीमित है। हमें आत्मा का, जिसे समस्त भावनाओं का कर्त्ता कहते हैं, कुछ भी ज्ञान, भावना या संवेदनरूप में, नहीं है। परन्तु ह्यूम कहता है कि मैंने कभी अपने को बिना अनुभव किये नहीं देखा। परन्तु जब मनोविज्ञान ने, प्रकृतिविज्ञान के रूप में होकर, ऐसे आत्मा के स्वीकार करने से इन्कार किया है जो अवश्य और इन्द्रियातीत है तो वह इस इन्कार करने में पुराने प्रत्यक्षवादियों का ही अनुकरण कर रहा है। वैज्ञानिकों की ओर से फिर कहा जाता है कि हम बिना अतीतात्मक आत्मा या "मैं" का विचार किये अनुभवमूलक आत्मा या मनोवैज्ञानिक "मैं" को स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि "मैं" आत्मार्थव्यंजक है और उसके सिवा किसी अन्य "मैं" की जरूरत नहीं है। इसके सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि वैज्ञानिक मनोविज्ञान की उन्नति के साथ यह वाद भी, जिसे सत्याभास ही कह सकते हैं, उन्नति कर रहा है। यह वाद प्रकट करता है कि अन्तःकरणों की माला संवेदनों की कठोर जंजीर नहीं, अपितु एक धारा है। वैयक्तिक अन्तःकरण, एक पृथक् वस्तु, पूर्ण और पर्याप्त नहीं है। उसे अपनी यथार्थता समझने के लिये अपने से ऊपर देखना पड़ता है। उसका चरित्र, चाहे वह गुणों से सम्बन्धित हो या मात्रा से, अन्तःकरणों की माला या चेतना के क्षेत्र में उसका जो स्थान है, उसके सम्बन्ध में निश्चित हुआ करता है।

मानसिक जीवन, जैसा कि अनुभव से प्रकट होता है, न भिन्न है और न परमाणु-निमित्त, न पृथक् रहने वाले संवेदनों अथवा सहज विचारों का संग्रह है, बल्कि प्रकार की दृष्टि से प्रवाहरूप है। इस प्रकार

से संकलन का प्रश्न, बिना किसी अतीतात्मक जीव का आश्रय लिये, चेतना के प्रकृतिमूलक होने के वाद को छोड़ देने और विचारधारा के स्वीकार कर लेने से, बहुत दरजे तक हल हो जाता है। प्रचलित मनोविज्ञान, इसके सिवा अन्तर्बोध का अधिक पर्याप्त वैज्ञानिक या क्रमानुगत सहचार नियम उपस्थित करता है। केवल सहज सहचार की अपेक्षा यह नियम मानसिक जीवन के विभागों में अधिक दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करता है, अन्तर्बोध एक कार्यप्रणाली है, जिससे कोई भी मानसिक प्रकार एक नए तत्त्व को संयुक्त करता है या संयोग करने के लिए प्रवृत्त होता है। इसी कार्यप्रणाली को मानसिक ग्रहण प्रक्रिया, भावुकता, इच्छा तथा तर्कपूर्ण कार्यप्रणाली कहते हैं, जिससे केवल यही नहीं होता कि नया पुराने में मिल जाता हो, अपितु प्रत्येक का प्रत्येक के साथ इस प्रकार समन्वय हो जाता है, जिससे नया पुराना और पुराना नया हो जाया करता है। इस प्रकार मानसिक जीवन की एकता और निरन्तरता खोलकर प्रकट कर दी गई, जो नामरूप तथा अन्तर्गतार्थ के अक्षय परिवर्तनों से भी मुताबिकत रखती है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मनोविज्ञान ने वे हेतु बतला दिए, जिनके आधार से अतीतात्मक जीव की जरूरत बाकी न रहे, बल्कि इसके विरुद्ध यदि उपर्युक्त (मनोवैज्ञानिक) वाद को ठीक तरह से समझ लिया जाए तो मनोविज्ञान को स्वीकार करना पड़ेगा कि उसको अपने विषय अनुभवात्मक (प्रत्यक्ष) जीव का विवरण देने के लिए अतीतात्मक जीव की जरूरत है। बिना "मैं" के स्वीकार किये "मेरा" नहीं कहा जा सकता। मनोवैज्ञानिक एकत्व की असली बुनियाद क्या है? प्रत्येक मानसिक दृश्य क्या है? उत्तर में इतना तो निश्चित रीति से कहा जा सकता है कि यह (मनोवैज्ञानिक एकत्व) संवेदन रहित शुद्ध अहम् या जीव नहीं है, इसके साथ इतना और भी कहा जा सकता है कि यह केवल संवेदन या संवेदनसंघात भी बिना जीव या मन के नहीं हो सकता।

हम संवेदन से जीव या जीव को संवेदन से पृथक् नहीं कर सकते, इसलिए दोनों में से एक भी दूसरे की अपेक्षा अतथ्य नहीं है।

प्रो० जेम्स के शब्दों में कहा जा सकता है कि "बिना विचारक के विचारप्रवाह असम्भव है, बिना विचार के विचारक के होने की तो सम्भावना भी हो सकती है।" यदि ह्यूम के शब्दों में कहो कि बार-बार एक के बाद दूसरे अनुभव की शृंखला का नाम ही मन है, तो उत्तर में

कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभव के प्राप्त करने में मन तो पहले ही से मौजूद होता है। मौलिक और प्रारम्भिक वैज्ञानिक तथ्य केवल चेतना नहीं, किन्तु ज्ञानी आत्मा है। अर्थात् चेतना की विशेष अवस्था से मिश्रित मन चेतना विषयाश्रित (जीव) नहीं बन सकता। मनोविज्ञान बिना जीव के सत्याभासमात्र है।

जब हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि पर दृष्टि डालते हैं तो प्रकट होता है कि हम चेतनावस्था का वर्णन करते हैं, परन्तु अवस्था जड़ है, उसे अपना ज्ञान नहीं, वह मेरी चेतना की अवस्था है। यदि इसमें से "मेरी" शब्द निकाल दिया जाये, तब उसकी कोई सत्ता बाकी नहीं रहती। इस "अवस्था" का किसी व्यक्ति के मस्तिष्क से पृथक् प्रकट करना उनको नष्ट कर देना है। जब हम किसी मानसिक दृश्य का जिक्र करते हैं। और उसको घटाकर उसके मूल तक पहुंचा देते हैं, तो यह प्रकट होता है कि वह दृश्य किसी भी मस्तिष्क पर प्रकट नहीं होता और न वह किसी भी आत्मा तक पहुंचता है। अतः स्पष्ट है कि अध्यात्मविद्या का मतालिबा, कि चेतना के लिये विषय और विषयी दोनों के होने की जरूरत अनिवार्य है[१]।

जे० वार्ड

जे० वार्ड ने लिखा है कि मनोवैज्ञानिक (आत्मस्थानी) तथ्य सत्य है। यदि उसे सत्य न मानें, तो मानना पड़ेगा कि वह प्राकृतिक है और अन्त में प्रकृति में ही लीन हो जायेगा और फिर उसके लिये यही कहना पड़ेगा कि नामरूप है तो सही, परन्तु दिखाई किसी को नहीं देता, बल्कि ऐसी वस्तु है, जिसकी सत्ता अभाव से परे कुछ नहीं अथवा वह एक ऐसा अन्तःकरण है, जिसका अन्तःकरणत्व कभी प्रकट नहीं हुआ[२]।

जेम्स वार्ड के उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर जेम्स सेठ ने यह परिणाम निकाला है कि मानसिक जीवन को अकर्तृक या बाह्य दृश्यमात्र समझना अपनी बात का आप ही खण्डन करने के सदृश है[३]।

मनोवैज्ञानिकों का, आत्मसत्ता को स्वीकार करने से, इन्कार वैसा ही है, जैसे नामरूपवादियों का ईश्वर की सत्ता का न मानना। दोनों के इन्कार का आधार एक ही है, कि वे आत्मा को मिस्ल ईश्वर के कुछ

---

१. A Study of Ethical Principles by Jams Seth p. 390.

२. Modern Philosophy by J. Ward Vol. II p. 54.

३. Ethical Principles p. 390 and 391.

करता हुआ नहीं देखते। जेम्स सेठ की सम्मति में दोनों बातों का उत्तर एक ही है और वह यह कि आत्मा अध्यात्म जगत् में, जैसे ईश्वर बाह्य जगत् में, सब बातों का कर्त्ता धर्त्ता होता है, यदि माना जाये कि आत्मा कुछ नहीं करता और यह कि वह किसी अन्त:करण में मौजूद नहीं है, तो वह उन (अन्त:करणों या अन्त:करणगत विचारों) का योग भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक शून्यों से कोई संख्या नहीं बन सकती[१]। परन्तु आत्मा साक्षी होने, सम्बन्ध जोड़ने अथवा अन्त:करणों के कर्त्तृत्व की अपेक्षा अधिक कर्त्तृत्वशील है। वह (आत्मा) इन्द्रियों के कार्यों की एक-दूसरे से तुलना करता और उन पर टीका टिप्पणी करता है, इसीलिये अफलातून ने उसे संवेदनों का समालोचक कहा था। क्या हम (जड़) अन्त:करणों से, उनके भीतर से इस प्रकार की समालोचक (चेतन) शक्ति के निकल आने की आशा कर सकते हैं? फिर यह वाद कि "सब कुछ संवेदन ही है" किस प्रकार ठहर सकता है? क्या इन संवेदनों को मिलाने या इनमें संबंध जोड़ने के लिये किसी आत्मा की जरूरत नहीं है? किस प्रकार यह संभव है कि कोई विशेष संवेदन, पूर्णतया नये प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है और नाप तोल में इन संवेदनों का मूल्य रखता हो[२]?

कर्त्तृत्व का विचार और अनुभव सदैव आन्तरिक कार्य होते हैं, जब कि संवेदन (इन्द्रियवृत्ति) बाह्य कार्य, इसलिये आत्मा में दोनों प्रकार की शक्ति का होना, जिससे भीतर और बाहर दोनों ओर काम हो सके, आवश्यक है[३]।

अतीतवाद की कठिनतायें

यह कठिनता कांट और हेगल के दो विभिन्न प्रकार के उपस्थित किये हुये वादों से उत्पन्न होती है—

कांट और इच्छास्वातन्त्र्य

कांट ने वस्तुतत्त्व और नामरूप (बाह्य-इन्द्रियज्ञान) के भेद की स्थिरता की पुष्टि करते हुये प्रकट किया है कि असली आत्मा, जिसके लिये इच्छास्वातन्त्र्य माना जा सकता है, वह है जो अनुभव किया करता है, परन्तु जेम्स सेठ अवास्तविक और नाममात्र की स्वतन्त्रता कहता है।

१. Ethical Principles p. 391.

२. Ethical Principles by Jams Seth p. 393.

३. Do. p. 394.

हेगल और इच्छास्वातन्त्र्य

हेगल, दूसरी ओर जीव को ब्रह्म बतलाते हुये, एक नये प्रकार का परतन्त्रतावाद उपस्थित करता है[१]।

कांट ने यह देखकर कि परतन्त्रतावाद से और किसी प्रकार छुटकारा नहीं मिल सकता, सिवाय इसके कि आचारवान् जीव को अनुभववाद या मनोविज्ञान के क्षेत्र से पृथक् रखा जाये, क्योंकि अनुभववाद के क्षेत्र में परतन्त्रता और विवशता का साम्राज्य है और कांट ने यहां क्या, प्राय: सभी जगह, मानवीज्ञान की यथार्थता को झुठलाकर, आचार की यथार्थता को सुरक्षित रखा है, क्योंकि मनुष्य को ज्ञान तो केवल नामरूप का होता है, वस्तु तत्त्व का नहीं और केवल इतने ज्ञान से स्वतन्त्रता का प्रश्न हल नहीं हो सकता। कांट के मतानुसार जीवन अनेक आवश्यकताओं में से एक आवश्यकता है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह स्वतन्त्रता रहित है और कृत्य (व्यवसायात्मिका+Practical Keason) बुद्धि उस स्वतंत्रता का चिन्तन करने के लिये हमें बाधित करती है, जिसे आन्तरिक बुद्धि कदापि नहीं जान सकती।

आचारशास्त्र का "तू होगा" (Thou shalt) कार्यकारणवाद का सच्चाई से कम दरजा नहीं रखता और गहरे तर्क का फल है और अपने कर्त्ता में उपलक्षित है कि तू कर सकता है (Thou canst), इसलिये यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक या अनुभवमूलक जीवन के विवरण को झुठलाये बिना, जो विज्ञान के नामरूपात्मक दृष्टिकोण के आधार से दिया जाता है, यह दूसरा आचारमूलक जीवन का विवरण भी दिया जाये। यह विवरण, आचार के आन्तरिक दृष्टिकोण से कम प्रतिष्ठित न होगा।

आचारनीतिज्ञ होने के कारण, मनुष्य प्राकृतिक नियमों और इन्द्रियों के विषयों की परतन्त्रता से दूर रहता है और बुद्धिवादी होने से, तर्क के शासनाधिकार में रहता है और स्वतन्त्र होता है।

मनुष्य का आचारसम्बन्धी मुख्य काम यह है कि अपने को इन्द्रियाराम होने के साथ में जीवन को बंधन से मुक्त करे और साथ ही उस स्वतन्त्रता को भी प्राप्त करे, जिससे प्राप्त करने का अधिकार, उसे शुद्धबुद्धि के साम्राज्य का एक अंग होने से प्राप्त है। इस प्रकार से कांट का कहना है कि विचार स्वातन्त्र्य, जो काल्पनिक गति से नियामक और आदर्श है, क्रियात्मक रूप से संस्थापक और सत्य है।

---

१. Do. p. 394 and 395.

पच्चीसवां अध्याय

एमले फ़ौली

फौली ने एक जगह लिखा है कि मैं अपनी मानसिक सत्ता से स्वतन्त्र, परन्तु अनुभवमूलक या नामरूपात्मक सत्ता से परतन्त्र और प्राकृतिक नियमों के बन्धन में हूं[१]।

फ़ौली और कांट

फौली का यह विचार उससे कहीं अच्छा मालूम होता है, जैसी कि कांट की स्थिति है कि एक कैदी को कहा जाए कि जेल से बाहर स्वतन्त्रता है और इसलिये उसे कल्पना करनी चाहिये, कि वह जेल से बाहर है और इसलिये स्वतन्त्र है। हम इच्छा, इन्द्रियविषय और प्रवृत्ति हेतु शक्ति के बन्दीगृह में हैं और कैदी का-सा ही जीवन व्यतीत करते हैं। हमको इस कहने से क्या लाभ कि स्वतन्त्रता है, जबकि हम उसे प्राप्त नहीं कर सकते और जब तक मनुष्य हैं, उस (जेल) से मुक्त भी नहीं हो सकते। हमारा मनुष्यत्व ही हमारा जेलखाना है। इस पर यह कहा जा सकता है कि कांट से जिस स्वतन्त्रता का विधान किया है, वही अन्त को सच्ची स्वतन्त्रता है। वह स्वतन्त्रता, यद्यपि इस समय वास्तविक न भी हो, तब भी आदर्श या अन्तिम मंजिल के रूप में तो है, जिसके समीप एक सदाचारी पुरुष नित्यप्रति होता रहता है, परन्तु यदि उस स्वतन्त्रता को आदर्श भी माना जाये, तो भी वह इकतरफा (अधूरा) आदर्श होगा, क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठा का जीवन, जिससे वह स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है, जीवन का एक ही अंग है तो है, क्योंकि कांट के कथनानुसार, मनुष्य उसी समय तक स्वतन्त्र है, जब तक वह बुद्धिपूर्वक इन्द्रियाराम हुए बिना कर्म करता है, परन्तु जब वह प्रवृत्ति या आवेश के वशीभूत होकर काम करता है, तब वह बुद्धि का काम नहीं कहा जा सकता और उस अवस्था में मनुष्य स्वतन्त्र भी नहीं हो सकता। केवल नेकी, स्वतन्त्रता का फल है, बदी परतन्त्रता का प्रस्तुत किया हुआ काम होता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाये तो वह स्वतन्त्रता कैसी? स्वतन्त्रता का अर्थ तो यह है कि मनुष्य बदी के पसन्द करने में भी उतना ही स्वतन्त्र हो, जितना नेकी के, तभी उत्तरदायित्व का भाव मनुष्य में पैदा हो सकता है।

---

१. L. Evolution Ensmedes Idees Force by Mr. Fouillee. Introduction p. 76 (English Translation).

यदि स्वतन्त्रता का कोई आचारनैतिक मूल्य है, तो वह इच्छित कर्त्तृत्व के संगृहीत जीवन में अनुभूत होना चाहिए। उसे प्राकृतिक नियमों की व्यक्त परतन्त्रता में भी अनुभूत होना चाहिये, ऐसा होने से स्वतन्त्रता के यांत्रिक व्यापार में परिणत हो जाता है। मनुष्य के इस वास्तविक जीवन से भिन्न कोई ऐसा जीवन, जिसमें इच्छाओं का समावेश न हो, केवल बुद्धि के अनुकूल उसकी गति हो, उसे जहां तक हम अनुमान कर सकते हैं, केवल कल्पित ही कह सकते हैं, स्वतन्त्रता को प्राकृतिक नियमों के यांत्रिक व्यापार और मनोवृत्ति तथा आवेग के क्षेत्र से पृथक् करके उसके लिये शुद्ध बुद्धि का सर्वथा पृथक् एक क्षेत्र तैयार करके कांट ने स्वतन्त्रता को केवल एक बौद्धिक पदार्थ बना दिया है, जिसके लिये कहा जा सकता है कि वह आचारनैतिक जीवन का प्राणरहित ढांचा ही ढांचा है।

हीगल और एक नये ढांचे की परतन्त्रता

कांट के द्वैतवाद के विरुद्ध हीगलवाद, वस्तुतत्त्व को मनुष्य की व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत ही ठहराया है। उसके मतानुसार प्रत्येक अवस्था में नित्य सत्य संयुक्तिक हैं और अन्य समस्त वस्तुयें प्राकृतिक नियमों की अधीनता में पीछे से उत्पन्न होती हैं। आत्मा के सम्बन्ध में हीगल का मत है कि वह नित्य सत्य का आभासमात्र है। + + + आत्मा केवल एक है और वही दिव्य और विश्वात्मा है।

मनुष्य की चेतना की दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में उसका आभास होता है या यों कहिये कि प्रकृति और मनुष्य दोनों के भीतर उसका प्राकट्य है और वे दोनों ब्रह्म (God) हैं, यद्यपि दोनों का प्रादुर्भाव अपने-अपने ढंग से होता है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य, प्राकृतिक नियमों के सदृश ईश्वर का ही एक रूप या अंश है, इसलिये उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, पृथक् व्यक्तित्व केवल उसी का है, जो मध्यवर्ती दीवार की तरह मनुष्य और ईश्वर को पृथक् करती है।

व्यक्तित्व को हीगल नामरूप ही मानता है। उस नित्य सत्ता में व्यक्तित्व नहीं है[१]। यह मत ब्रेडले का है, इस पर हीगल कहता है कि तब कहना चाहिये कि जीवात्मा अपनी सत्ता की दृष्टि से नित्य तत्त्व

१. Study of Ethics p. 398 (Mr. Bradley's view quoted by Hegel).

२. Appearance and Reality by Bradley p. 414 and 415.

नहीं है, वह नामरूपमात्र है यदि हम उसका कुछ और विवरण देते हैं तो वह व्याघातदोषपूर्ण होगा। आचारनैतिक जीवन दो परस्पर विरोधी आदर्शों से शासित होता है—(१) आत्मप्रतिज्ञा, (२) आत्मबलिदान।

हीगल कहता है कि एक व्यक्ति के प्रकृतिरूपी कच्चे माल को इस प्रकार के (आचारनीतिसंबंधी) सर्वोच्च दरजे तक पहुंचा देना और प्रत्येक साधन को, चाहे वह किसी भी तरह से प्राप्त हुआ हो, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम में लाना, निश्चित रीति से नेकी सच्चा आदर्श है। दूसरी ओर उस परिणाम को, जिसकी प्राप्ति के लिये यत्नवान् होना है, यथासंभव अधिक से अधिक विस्तृत कर देना और उस विस्तार का, उस व्यक्ति के क्षोभ या दुर्वृत्तता के द्वारा अनुभव करना नेकी है। व्यक्तिवाद, जिसका उद्देश्य जीव का पृथक् मानना और फिर अपनी ही उन्नति के लिये, एक विस्तृत इष्ट परिणाम का, अपने को आधीन बनाना, ये दोनों आचार, नीतिनियम के दो पहलू हैं। चाहे इन दोनों में कितना ही भेद या विरोध क्यों न हो, इनमें से प्रत्येक आचारनीति के नियमानुसार नेकी है। निष्कर्ष यह है कि इनमें से कोई एक-दूसरे से अच्छा नहीं कहा जा सकता[२]। फिर इन्हीं पर विचार करते हुये एक-दूसरी जगह हीगल ने लिखा है कि यह निश्चित है कि इन (दोनों) का विरोध दूर हो जायेगा और अन्त में ये दोनों इकट्ठे हो जायेंगे, क्योंकि उस नित्य सत्य से बाहर कुछ नहीं है और उसमें अपूर्णता भी नहीं है। उस (नित्य सत्य) में प्रत्येक परिमित होते हुये भी, यदि चाहे तो पूर्णता प्राप्त कर सकता है। परन्तु इसका एक दूसरा पहलू भी है कि वह यथार्थ पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह इच्छामय है और यह भी कि जो परिमित होता है, वह न्यूनाधिक परिवर्तनीय होता है और परिवर्तनीय होने से पूर्णता प्राप्त होने के मध्य में ही प्रविलीन हो जाता है। यह सार्वलौकिक भाग्यविधान निश्चित है कि नेकी का अन्त है, परन्तु वे परिणाम जो आत्मप्रतिज्ञा और आत्मबलिदान के द्वारा चाहे जाते हैं, एक ही भांति अप्राप्तव्य हैं। कोई व्यक्ति अपने आप में पूर्ण अविरुद्ध नहीं हो सकता और यदि विशाल आदर्श को लक्ष्य में रखा जाये, जिसके लिये मनुष्य तत्पर हुआ करता है, तो भी उसकी तत्परता, चाहे कितनी ही वेगवती क्यों न हो, वह आत्मानुभव प्राप्त नहीं कर सकता और अपने व्यक्तित्व के सदुपयोग और दुरुपयोग करने के द्वारा ही वह अपनी

प्रचलित सत्ता को खो बैठेगा और उसके इस प्रकार नष्ट होने के साथ ही नेकी भी तिरोभूत हो जायेगी[१]।

हीगल के सिद्धान्त पर विचार

हीगल के मत के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उसकी रू से न मनुष्य की स्वतन्त्रता बाकी रहती है और न उसके आचारनैतिक जीवन की सत्यता। यदि हम ईश्वर के आभासमात्र हैं और हमारे व्यक्तित्व की कुछ भी वास्तविकता नहीं है, तो इसका फल यह होगा कि हमारी स्वतन्त्रता और हमारा आचारनैतिक जीवन दोनों ही समाप्त हो जायेंगे। यदि मनुष्य को स्वतन्त्र कहा जाये, तो आवश्यक होगा कि यह स्वीकार किया जाये कि उसकी, ईश्वर की तरह स्वतन्त्र सत्ता है। जब कि प्रकृतिवासियों ने उसे परतन्त्रता के निकृष्ट अर्थों में लिया है, अर्थात् अतीतवादी स्वतन्त्रता को ईश्वर के नियमों के अन्तर्गत रहने रूप परतन्त्रता समझते हैं, परन्तु प्रकृतिवादी केवल प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत ही उसकी गणना करते हैं।

हीगल के मत में, स्पाईनोज़ा की तरह, जीव की स्वतन्त्रसत्ता की कोई गुंजाइश नहीं है। इसी तरह प्रकृतिवाद, भावप्रधानवाद की तरह, ब्रह्माण्ड में मनुष्य को केवल एक पद (चाहे वह कितना ही ऊंचा क्यों न हो) मानता है, उस पद की आवश्यकता, चाहे विकासवाद में उससे अधिक कुछ न हो, जितनी कि एक नीचे से नीचे पद की हो सकती है। अस्तु, हीगल के मतानुसार यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिये कि स्वतन्त्रता ईश्वर में है और परतन्त्रता मनुष्य में अर्थात् स्वतन्त्रता समष्टि में है और परतंत्रता व्यक्ति में।

हीगल का यह अतीतवाद प्रकृतिवाद के तुल्य ही है, यह वाद, नेकी और बदी के बीच में जो भेद है, उसको भी स्थिर नहीं रखता, उसकी रू से जो प्रकट रूप में बदी हैं, वह असली नेकी के ही अन्तर्गत है और वस्तुओं को उनकी अन्तिम सत्ता के रूप में देखते हुए सबको नेकी ही करना पड़ेगा। "नेकी (और बदी भी) केवल नाम रूप और गोचर (दृश्य) विषय हैं और इसलिये स्वतः शीर्ण है[२]।" "नेकी एक पराधीन वस्तु है, इसलिये जगत् का एक स्वतः शीर्ण दृश्य है[३]।"

---

१. Appearance and Reality by Bradley p. 419 तथा Study of Ethics b James Seth. p. 398 and 399.

२. Appearance and Reality by Bradley p. 419.

३. Appearance and Reality by Bradley p. 420.

इस प्रकार के भेद, जैसे कि नेकी और बदी में हैं, स्वयं हमारी कल्पना है, स्पाईनोजा ने भी एक जगह कहा कि ये (नेकी+बदी) आंशिक ज्ञान का फल है और इसलिये समष्टि पर दृष्टि डालने से इन की कोई सत्ता बाकी नहीं रहती। परन्तु विचारणीय यह है कि मनुष्य आचारनीतिमय सत्तावान् होने से ब्रह्माण्ड का एक अंश है और अंश होने की दृष्टि से उसकी सत्ता बतलानी चाहिये थी, न यह कि उसे वास्तविकता बतलाने की सीमा से बाहर ठहराया जाता। मनुष्य के आचारमय जीवन को केवल आभास ठहराने से न उसका व्यक्तित्व बाकी रहता है, न आचारमय जीवन, अतः देख लिया गया कि इस अद्वैतवाद के लिये मनुष्य की सत्ता को ईश्वर में समाविष्ट कर देने का समाधान सुगम कार्य नहीं है। इस प्रकार की एकता को सच्ची एकता नहीं कह सकते, क्योंकि विवादास्पद विषय का समाधान करने की जगह, यह उसकी सत्ता ही से इंकार करता है। इस प्रकार का आचारनीतिरहित एकीकरण संभव है—प्राकृतिक नियमों के, जहां तक उसकी सत्ता का सम्बन्ध उन नियमों से है, अनुकूल हो और यह भी संभव है कि बुद्धि से भी समर्थित हो, परन्तु मनुष्य होने की दृष्टि से या इस लिहाज से कि वह एक आचारनीतिमय सत्ता वाला व्यक्ति है, उपर्युक्त प्रकार के एकीकरण से, समाधान नहीं हो सकता। मनुष्य के साथ आचार का नाता जुड़ा हुआ होने से आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र हो, यदि मैं एक मनुष्य हूं और बुद्धि रखता हूं तो जरूर स्वतन्त्र हूं। यदि मैं इस प्रकार का बुद्धिमान् पुरुष नहीं हूं, तो बेशक स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

जेम्स सेठ प्रोफेसर इडनवर्ग विश्वविद्यालय

जेम्स सेठ ने इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में अपने एक ग्रन्थ[१] में विद्वत्तापूर्ण विचार करते हुए परिणाम यह निकाला है—इच्छास्वातन्त्र्य की स्थापना के लिए हमें आचारनैतिक जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन करना चाहिये। वही (जीवात्मा) सदाचारमय जीवन का हृदय और केन्द्र है, वही आचारनैतिक स्थिति की कुंजी है। आचारनैतिक जीवात्मा की पूर्णता में दो प्रकार से कमी की जा सकती है—(१) मनुष्य को प्रकृति में (२) अथवा ईश्वर में सम्मिलित करके उसकी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट कर दी जाये। पहली सूरत कि मनुष्य को घटाकर प्रकृति में सम्मिलित कर दिया जाये, यह बात वर्तमान परतन्त्रतावाद के

१. A Study of Ethics Principle by James Seth. p. 401 and 403.

लिये तो अनुकूल होगी, परन्तु दूसरी सूरत अत्यन्त भयावह है। इसीलिए मनुष्य का सम्बन्ध, एक आचारनैतिक स्वतन्त्र व्यक्ति की हैसियत से क्या है, यह बात प्रकृति से उसका सम्बन्ध विचार करने की अपेक्षा, विचार में लाना अत्यन्त दुस्तर है। जगदुत्पत्तिवाद की अपेक्षा अध्यात्मविद्या को, जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने में अधिक कठिनतायें हैं। ईश्वर को सब कुछ स्वीकार करके फिर भी जीव की स्वतन्त्रता का वर्णन करना अध्यात्मविद्या के लिए मुश्किल काम है। जीव की सत्ता को केवल नामरूप ठहराकर, उसकी तह में ईश्वर को ही देखना और उसी को एकमात्र सत्य ठहराने का आशय आचारमय जीव को नष्ट करना ही है। यद्यपि ईश्वर और मनुष्य दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानकर, उनमें मेल रखने का विचार स्थिर करना कठिन है, परन्तु फिर भी दोनों में से किसी एक विचार को यदि छोड़ा भी जाये तो किस प्रकार? धर्मसम्बन्धी परोक्षज्ञानवाद के लिये छोड़ा जाये या केवल अध्यात्मविद्यासम्बन्धी भावप्राधान्यवाद के लिए छोड़ दिया जाये, परोक्षज्ञानवादी सदैव चेष्टा किया करते हैं कि आत्मसत्ता के निषेध द्वारा ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया जाये। अथवा यों कहिये कि आत्मसत्ता का ही असीम विस्तार करके, वही ईश्वरस्थानी स्वीकार कर ली जाये। अध्यात्मविद्या के लिए भी आत्मसत्ता अन्तिम वर्ग होगा। क्योंकि प्रत्येक दशा में ईश्वरसम्बन्धी श्रेष्ठ दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है कि आत्मासम्बन्धी श्रेष्ठ दृष्टिकोण उत्पन्न किया जाये। आचारनैतिक जीवन की सत्ता स्वीकार करने से ही अन्त में ईश्वरसम्बन्धी उच्च ज्ञान भी हम में उत्पन्न होता है और इस ज्ञान के उत्पन्न होने के बाद ही यह संभावना भी हम से उत्पन्न होती है कि आत्मा का ईश्वर के साथ मेल हो। और यह संगम और संसर्ग न केवल विचार का विचार के साथ ही अपितु इच्छाशक्ति का इच्छाशक्ति के साथ भी। मनुष्य में प्रकृति की अपेक्षा आचार तेजस्विता और स्वतन्त्रता की दृष्टि से जब अपनी उच्चता और श्रेष्ठता का भान और विश्वास होने लगता है, तभी मनुष्य अपने से उच्चतम और असीम एक शक्ति का विचार करता है। अपने व्यक्तित्व को, ईश्वर से क्यों न हो, विलीन कर देने का अभिप्राय यह है कि वह ईश्वर की महत्ता का भान हुआ था, निषेध करता है। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम समझ लें कि जिस प्रकार ब्रह्माण्ड का भाग्य ईश्वर के साथ में है, उसी प्रकार हमारा जीवन और भाग्य भी अन्त में ईश्वर के ही अधिकार में है, हमारे

अपने हाथ में नहीं है, ××× फिर भी मनुष्य यह नहीं ख्याल कर सकता, कि वह ईश्वर के हाथ का एक यन्त्र मात्र है और ईश्वर की शक्तियों का एक निश्चेष्ट चक्र। कर्त्तृत्व मनुष्य के जीवन का, मनुष्य पद की दृष्टि से अधिकार है और ईश्वर से उसका क्या सम्बन्ध है, यह उच्चतम विचार ही उसका सहयोग है। उसको समझना चाहिए कि वह एक सहकारी कार्य करता है और उसकी यह सहकार्यता ईश्वर तक भी पहुंचती है, यह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है, जिसे उसे कभी नहीं बेचना चाहिए।

छब्बीसवां अध्याय

प्रो० राइस और इच्छास्वातन्त्र्य

राइस, जो हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर हैं, उन्होंने गिपफर्ड लेक्चर्स में एक व्याख्यान ''व्यक्ति और स्वतन्त्रता'' विषय पर देते हुए, इच्छा-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये थे—

बुद्धि और इच्छा

मनोविज्ञान ने चिरकाल से बुद्धि (ज्ञान) और इच्छाशक्ति के काम को इस प्रकार रखा है—अनिच्छित सत्य ग्रहण करने की योग्यता का नाम बुद्धि (ज्ञान) है और जिस शक्ति से घटनायें बदली जा सकती हैं, उसे इच्छा कहते हैं।

परन्तु राइस का कथन है कि सर्वप्रिय मनोविज्ञान को प्रारम्भ से ही बाधित किया गया कि उसे यत्न करके उपर्युक्त दोनों शक्तियों को, जिन्हें उसने भूल से पृथक् कर रखा है, पुनः मिला देवे। क्योंकि थोड़ा सोचने से ही प्रकट हो जाता है कि हम जानने की इच्छा कर सकते हैं और यह भी कि हम आम तौर से बुद्धि की कार्यप्रणालियों में इच्छाशक्ति से पथप्रदर्शित होते हैं। दूसरी ओर देखते हैं, तो मालूम होता है कि हमारे समस्त ज्ञात इरादे के काम स्वयमेव ज्ञान के विषय हैं। उपर्युक्त बातों पर विचार करते हुए वर्तमान मनोविज्ञान के प्रचलित अन्तिम सिद्धान्त ये हैं—

वर्तमान मनोविज्ञान

मनोविज्ञान के इस प्रकार के समस्त विभागों का अभिप्राय यह नहीं कि वे समस्त विभाग प्राकृतिक हैं या एक दूसरे से पृथक् कार्यप्रणाली रखते हैं किन्तु उनका तात्पर्य यह है कि वे एक ही कार्यप्रणाली के भिन्न-भिन्न रूप हैं। × × × प्राणियों के जीवन सूक्ष्मतया समायोग के जीवन हुआ करते हैं।× × × चेतनामय जीवन को उपर्युक्त समायोग के साथ देखा जाये, तो ठीक-ठीक ज्ञान हो जायेगा कि वे समायोग क्या हैं? हमारा चेतनामय जीवन, हमारे कार्यों की साक्षिता, हमारे कार्यों के अनुमान और निरूपण, भावी कार्यों के कथनों और अपने कर्मों का प्रकाश में, समस्त ब्रह्माण्ड की व्याख्या का जीवन है।× × × परिणाम इस सबका, जहां तक हम जान सकें हैं, यह है कि इन्द्रिय और संकल्प द्वारा प्राप्त दोनों प्रकार के ज्ञान हमारे मन में जमा होते हैं, जिनसे हमारे

मन में भावी कर्मयोजना बनती है और ये ज्ञानप्राप्ति की कार्यप्रणाली आंशिकरूपेण हमारी मूर्त्तिमयी इच्छा होती है[१]।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से जो सिद्धान्त बुद्धि और इच्छाशक्ति के सम्बन्ध में स्थिर होते हैं, ये हैं, चेतना की कार्यप्रणाली को, जहां तक उसका सम्बन्ध इस बात से है कि समस्त घटनाओं का एकीकरण कर उसे चेतना ठहरायें, ज्ञान कहा जाता है और इसी समस्त कार्यप्रणाली को, जब वह लक्ष्यविशेष की पूर्ति में लगती है, इच्छाशक्ति का नाम देते हैं[२]।

अर्थ किसे कहते हैं ?

राइस के मतानुसार अर्थ शब्द के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों पहलू आते हैं, क्योंकि हम जिसे अर्थ कहते हैं, वह असन्दिग्ध शब्दों में अनेक घटनाओं का एकीकरण ही होता है और उसमें वह परिणाम भी शामिल होता है, जिससे लक्ष्यविशेष की पूर्ति होती है। परन्तु जब हम बाह्यार्थ का विचार करते हैं, तब हम उन विचारों को प्रकट करते हैं, जिनकी अनुरूपता आन्तरिक अर्थ से होती है[३]।

इच्छा का काम

इच्छाशक्ति के कार्यों के सम्बन्ध में सर्वसाधारण का मत यह है कि वे हमारे भीतर रहने वाली चेतना को प्रकट करते हैं और वे कर्म जो उन्हीं कारणों से हम से बाहर प्रादुर्भूत होते हैं, परन्तु सामयिक मनोविज्ञान का मत इससे सर्वथा भिन्न है। वह इच्छा को कारण नहीं समझता मनोविज्ञान के अनुसार कार्य शब्द केवल उस स्थूल कार्यप्रणाली को कहते हैं, जिससे हमारा शरीर अपनी परिस्थिति के अनुकूल होता है। इन स्थूल कार्यों के कारण भी मनोविज्ञानानुसार स्थूल ही होने चाहियें। मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त के अनुसार, हमारी चेतना न तो स्थूल कार्यों का, जिनके द्वारा हम अपनी इच्छाशक्ति को प्रकट करते हैं और न स्वयं मानसिक अवस्थाओं का, जिनसे हम भीतर संकल्प करते हैं, कारण है। हमारी इच्छा परिस्थिति की अनुकूल प्राप्त करने के साथ प्रादुर्भूत होती है और हमारी चेतना को आंशिक अनुकूलता प्राप्ति के अर्थों में प्रकट करती है। हमारी इच्छाशक्ति प्राकृतिक नियमों का कोई अंग नहीं है[४]।

१. The world and the Individual by J. Royce p. 434-437.
२. The world and the Individual by J. Royce p. 437.
३. The world and the Individual by J. Royce p. 437.
४. The world and the Individual by J. Royce p. 438.

मनोविज्ञान का दूसरा मत

उपर्युक्त विचारों के सिवा मनोविज्ञान का एक और भी सिद्धान्त है, जो परम्परा से चला आता है और जिसके मानने वालों की, मनोवैज्ञानिकों में अच्छी खासी तादाद है और वह सिद्धान्त यह है कि हमारी चेतना से उत्पन्न संकल्प अथवा क्रियामय पक्ष न केवल स्वयमेव सत्य है, बल्कि अन्य शारीरिक तथा मानसिक घटनाओं का कारण भी है[१]।

इस सिद्धान्त के रूप से बुद्धि और इच्छाशक्ति में महत्त्वपूर्ण अन्तर है और वह अन्तर केवल बाह्य रूपरेखा का नहीं है, जैसा पहले कहा जा चुका है। यदि मनुष्य केवल ज्ञाता हो जैसा बहुत लोग कह दिया करते हैं, तो वह कुछ नहीं कर सकता केवल देख-सुन सकता है, परन्तु कर्त्ता की हैसियत, यदि उसे दी जाये, तो फिर उससे वह स्वेच्छाकर्त्ता है और नई सत्ता के जन्म का करण और उत्पादक भी है।

इस मत के रू से इच्छाशक्ति यदि प्रबल नहीं तो कुछ भी नहीं। एक कार्यप्रणाली जो केवल साथ रहती और प्रतिबिम्बित होती है और कोई दूसरा प्रभाव नहीं डाल सकती और जिसे हमारे शरीर के अपनी परिस्थिति के अनुकूलता मात्र कहते हैं, वास्तविक इच्छाशक्ति नहीं हो सकती[२]।

व्यक्ति और ईश्वर की इच्छाएं पृथक्-पृथक् हैं

प्रो० राइस ने सभी दृष्टियों से ईश्वर और मनुष्य की इच्छाओं के पार्थक्य पर विचार करते हुए और उससे होने वाले परिणामों को भी लक्ष्य में रखते हुए, सिद्धान्त यह स्थिर किया है—"मैं स्थिर करता हूं कि ईश्वर और हमारी परिमित इच्छा दोनों ब्रह्माण्ड से पृथक्-पृथक् प्रकट हो रही हैं और यह कि इस घोषणा से किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न नहीं होता[३]।"

मनुष्य की इच्छाशक्ति

यह कहा जा चुका है कि अर्थ के अन्तर्गत दो बातें सम्मिलित हैं—(१) समष्टित्व अर्थात् घटनाओं का संयोग। (२) व्यष्टित्व अर्थात् व्यक्तित्व का ठीक-ठीक प्रकटीकरण जितना उसकी सीमा के अन्दर है।

समझे हुए निश्चय के साथ जहां एक ओर सन्तुष्ट इच्छाशक्ति

---

१. The world and the Individual by J. Royce p. 439.

२. The world and the Individual by J. Royce p. 439.

३. The world and the Individual by J. Royce p. 441.

उत्पन्न होती है, तो दूसरी ओर पूर्णतया प्रकट अर्थ से द्विगुणित चेतना विकसित हुआ करती है। जिस उत्पत्ति और विकास को इस प्रकार प्रकट किया जाता है—(१) वह सब कुछ प्राप्त हो गया जिसकी खोज थी अब और कुछ नहीं चाहिए, (२) मुझे ठीक-ठीक इन्हीं अन्तर्गतार्थ की जरूरत थी और उनको इस प्रकार मैंने अपना लिया है कि अब और कोई उनका स्थान नहीं ले सकता। × × × प्रत्येक बुद्धिपूर्वक सज्ञान कार्यप्रणाली का यह निर्वाचित चरित्र ही वह चरित्र है, जो चेतना के प्रकाशरूप में है और वही अन्त में व्यक्तित्व के निर्माण का साधन हुआ करता है[१]। राइस के कथनानुसार यही चरित्र है, जिसे सर्वज्ञ ईश्वर की सम्पत्ति कहा गया था और यही चरित्र है जिसे अब अल्पज्ञ जीव का स्वभाव कहा जाता है।

प्राणी की सत्ता के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि कार्यकारणवाद को पृथक् करके देखा ज़ाये, तो पता लगेगा कि सत्ता सम्भाव्य वस्तओं में से निर्वाचित वस्तुरूप हुआ करती है। जहां राइस ने इसे अपना मन्तव्य बतलाया है, वहीं यह भी कह दिया है कि यही सिद्धान्त इच्छास्वातन्त्र्यवाद का भी है और एक प्रकार से यही भाव परोक्षज्ञानवाद का भी है।

निर्वाचन का कारण

इस निर्वाचन का कारण यह है कि जब यथार्थता की प्रतिज्ञा की ज़ाती है, तो उससे संभाव्य वस्तु पृथक् हो जाती है, यह हमारे रोजमर्रा के अनुभव की बात है कि युवावस्था जो एक समय संभाव्य थी, परन्तु अब उस को जाता हुआ देखते हैं। इसी प्रकार अनेक घटनायें घटित होती हैं, परन्तु वह अन्त को बाकी नहीं रहती। डार्विन का प्राकृतिक निर्वाचन भी इसी प्रकार के अनेक उदाहरणों में से एक है। अंग्रेजी के प्रारंभिक लौजिक में यह प्रदर्शित हुआ है कि अनेक पदार्थ निषेधात्मक जगत् अर्थात् संभाव्य जगत् कहते हैं।

एक उदाहरण

कल्पना करो कि उस निबंधात्मक (संभाव्य) जगत् में दो श्रेणियों के पदार्थ हैं जिन्हें "क" और "ख" कहते हैं। इस कल्पना के अनुसार उस संभाव्य जगत् में ४ प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। (१) वे जो 'क' और 'ख' दोनों हैं (२) वे जो 'क' तो हैं परन्तु 'ख' नहीं (३) वे जो

१. The world and the Individual by J. Royce p. 446-449.

'ख' हैं परन्तु 'क' नहीं (४) वे जो न 'क' हैं और न 'ख'। इसी प्रकार उदाहरण के लिये कल्पना करो कि तुम्हारे निबन्धात्मक जगत् में सदाचारी और प्रसन्न व्यक्ति रहते हैं तो उनमें ४ श्रेणी के व्यक्तियों के होने की संभावना होगी (१) सदाचारी और प्रसन्न (२) सदाचारी परन्तु अप्रसन्न (३) असदाचारी परन्तु प्रसन्न (४) न सदाचारी और न प्रसन्न। अच्छा, अब इन चारों श्रेणियों के मध्य में जो सम्बन्ध हो सकता है, उस पर विचार करो कि यदि यह कल्पना की जाये कि सभी सदाचारी पुरुष प्रसन्न होते हैं, तो यह कथन निषेधात्मक सत्ता वाला अर्थात् संभावना का नाशक होगा क्योंकि तुम्हारे निबन्धात्मक जगत् में दूसरी श्रेणी ऐसे ही व्यक्तियों की है, जो सदाचारी हैं, परन्तु प्रसन्न नहीं हैं। इस कल्पना के सत्य होने का आग्रह करने पर निबन्धात्मक जगत् तीन ही प्रकार के व्यक्तियों वाला रह जायेगा। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों की कल्पना करने से औरों की सम्भावना भी नष्ट होगी। यहां तक यदि एक ही सदाचारी पुरुष तुम्हारे निबन्धात्मक जगत् में रह जायेगा तो उसके असदाचारी होने की कल्पना से उसका भी नाश हो जाना संभव है। यह फल केवल इसीलिये निकल सका कि जब पूर्णतया अविशेष रीति से विचार किया गया और इस बात पर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया कि विशेष लक्षण व्यक्तित्व के क्या कारण हैं ? इसी के अनुसार प्रत्येक वस्तुस्वातन्त्र्यवादी वस्तुस्वातन्त्र्य को संभाव्य में से निर्वाचित मानता है। राइस ने इस पर अपनी सम्मति दी है कि इस विषय में हम भी उससे सहमत हैं[१]।

स्पाइनोजा इससे सहमत नहीं है

परन्तु स्पाइनोजा ने वस्तुस्वातन्त्र्य के निर्वाचित होने से इंकार किया है, उसका कहना है कि दिव्यदृष्टिकोण से समस्त संभाव्य वस्तु सत्य है। इन सब पर विचार करने से निष्कर्ष यह निकलता है कि जब तक समस्त विचार और कल्पनाओं को लेकर इस विचार पर केन्द्रित न किया जायेगा कि सत्य अखंड है, तब तक अन्य कल्पनायें, कल्पनायें ही रहेंगी और इनसे काम न चलेगा। परन्तु इस सत्य की अखंडता का विचार भी आक्षेप से खाली नहीं है। इस पर कहा यह जाता है कि सत्य दो प्रकार का है—(१) साक्षेप सत्य (२) पूर्ण सत्य। इसलिए सापेक्षता के साथ निश्चित सत्य, जिसके लिये शुद्ध संभावना अनुभव में आने की

१. The world and the Individual by J. Royce p. 449-451.

है और पूर्ण सत्य जिसमें कोई रुकावट नहीं और जो किसी उत्पन्न संकल्प से प्रकट होता है, इन दोनों में सत्य विभक्त होने से सत्य की अखंडता के सम्बन्ध में एक ही मत नहीं हो सकता, क्योंकि जो कोई यहां तक कि अपने साधारण विचारों को विकसित करेगा, जिससे उसके कोई पूर्ण परन्तु सापेक्षिक अर्थ हो सकें, तो कुछेक संभावनाओं को उसे आवश्यक रीति से तत्काल पृथक् कर देना पड़ेगा। राइस का कहना है कि इस विचार को कि सत्य अखंड है, जो अपर्याप्त बतलाया गया, उसका अभिप्राय यह स्वीकार कर लेने से था कि जब तक तुम किसी वस्तु का सर्वगत विवरण देते हो अर्थात् किसी वस्तु का सामान्य प्रकार बतलाते हो, तब तक तुम न तो उसकी सत्ता बतला रहे हो और न भावना की सत्यता प्रकट कर रहे हो। परन्तु तथ्य यह है कि हमारा समस्त अनुभव, जिसके साथ वस्तुओं की सत्ता का विचार भी शामिल है, प्रकट करता है कि केवल सम्भावना का यह व्यावर्तन निश्चित घटनाओं की उपस्थिति में वस्तु का यथार्थ सम्बन्धी बुद्धि को कम नहीं, अपितु पुष्ट करता है, क्योंकि ऐसी संभावनाओं के, जो व्यर्थ और निष्फल है, पृथक् कर देने से, हम इस योग्य हो सकेंगे कि अपने सोचे और समझे हुये उद्देश्यों को प्रकट करें और उसकी यथार्थ रीति से पूर्ति भी कर सकें[२]। ××× उसने फिर लिखा है कि ठीक जैसा कि साधारण तर्क और परम्परागत वस्तु स्वातन्त्र्यवाद ने, वस्तु को समझते हुये स्वीकार किया है कि वस्तु की वास्तविकता समझने के लिये आवश्यक है कि उससे सम्बन्धित व्यर्थ संभावनाओं को पृथक् कर दिया जाये। उसी प्रकार हमारा विचार भी है कि जीवन में पूर्णता प्राप्त अवस्था आ जाने पर, त्याग देने और ग्रहण कर लेने की योग्यता हुआ करती है। इस दृष्टिकोण से देखा जाये, तो प्रकट हो जायेगा कि जीवनक्षेत्र पूर्ण है और इच्छा के दोनों पहलू त्याग और ग्रहण ईश्वर और जीव दोनों के अन्दर समाविष्ट रहते हैं[३]।

व्यक्ति किसे कहते हैं?

व्यक्ति तुल्यतारहित और अपने ढंग का एक प्राणी हुआ करता है अथवा यह कि उसकी श्रेणी का और कोई नहीं होता[४]।

---

१. The world and the Individual by J. Royce p. 449-451.
२. The world and the Individual by J. Royce p. 451-452.
३. The world and the Individual by J. Royce p. 454-455.
४. The world and the Individual by J. Royce p. 455.

व्यक्ति–राइस के मतानुसार, विशेष उद्देश्यवाली निर्वाचित सत्ता को कहते हैं[१] और यह ब्रह्माण्ड सोद्देश्य है[२]। एक दूसरी जगह इसी ब्रह्माण्ड को पूर्णता की दृष्टि से अपूर्व और अद्वितीय विश्व कहा गया है। ऐसा विश्व के जिसके स्थान में अथवा जिसके किसी भाग के बदले, कोई भी निश्चित वस्तु, बिना उस निश्चित और पूर्ण विश्व के विश्वत्व के खोए हुए नहीं रखी जा सकती। इसके सिवाय कार्यकारणवाद से सर्वथा पृथक् एक ग्राहक शक्ति है, जिसका इच्छा के अन्तर्गत होना, साधारण मतानुसार आवश्यक है, जो हमारे ऊपर के दिये हुये विवरण के अनुसार, वास्तविक सत्ता है, वही दिव्य और सर्वज्ञ है[३]।

ईश्वर और जगत्

किस अर्थ में जगत् को दिव्य ईक्षण का और किस अर्थ में उसे दिव्य ज्ञान का प्रकटीकरण कहा जाता है, इसके उत्तर में राइस कहता है कि जगत् से दिव्य और ज्ञान की पूर्णता प्रकट होती है। जगत् का प्रत्येक भाग और जगत् की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से इस प्रकार मेल रखते हैं, जिससे वह रचना ज्ञान की पूर्णता प्रकट करती है। जगत् की सार्वत्रिक सार्थकता का फल यह है कि भिन्न–भिन्न प्रकार के अनेक विचार एक दूसरे से मिले हुए हैं कि कोई भी निश्चित विचार जिसमें किसी दूसरे का संकेत है अथवा जिसमें बाह्य संसार वर्णित है, प्रकार की दृष्टि से सार्वत्रिक है, परन्तु इन समस्त विचारों का क्रियात्मक रूप अद्वितीय और व्यष्टित्वमय है। इन हेतुओं से, हम सर्वथा शुद्ध और निश्चित रीति से, जगत् को दिव्य ईक्षण का व्यक्त रूप में प्रकट होना या उसकी पूर्ति या उसकी मूर्तिमय बन जाना कह सकते।

दिव्य ईक्षण

जगत् से दिव्य ईक्षण के लिए यह प्रकट नहीं होता कि वह कोई बाह्यशक्ति है, जिससे जगत् के समष्टित्व पर विचार करने से प्रकट हो जाता है कि वह उद्देश्यनिश्चायिका विद्या और उस अर्थ का द्योतक ज्ञान है, जो दिव्य ईक्षण शब्दों में निहित है। जगत् जब पूर्ण हो जाता है और कोई कमी बाकी नहीं रहती, तो जहां तक उसकी पूर्णता और अपूर्वता का सम्बन्ध है, वह एक छटे हुए आदर्श का प्रकटीकरण बन जाता है,

---

१. The world and the Individual by J. Royce p. 460.
२. The world and the Individual by J. Royce p. 460.
३. The world and the Individual by J. Royce p. 461.

जिस आदर्श की पूर्ति दिव्य ईक्षण से हुआ करती है। अभिप्राय यह है, कि यदि समस्त जगत् एक योजना का पूर्ण प्रकटीकरण है और वह उसका अद्वितीय प्रकटीकरण भी है, तो उसमें घटित प्रत्येक घटना, चाहे वह अन्य घटनाओं से असंदिग्ध रीति से भिन्नता ही क्यों न रखती हो, तो भी यह अद्वितीय है और समस्त जगत् की अद्वितीयता का एक अंश है।

एक उदाहरण

कल्पना करो कि एक वस्तु "क" है। पहले इसके लिए कल्पना करो कि समष्टि रूप से एक टाइप के केस के सदृश है, फिर कल्पना करो कि वह एक व्यक्ति है। पहली कल्पना में वह वस्तु अद्वितीय नहीं हो सकती, क्योंकि और भी अनेक केस इस प्रकार के होते हैं। परन्तु जब "क" व्यक्ति है, तब वह अद्वितीय है और उसका प्रत्येक अंश उस कुल का भाग है[१]।

एक दूसरा उदाहरण

अपने किसी किये हुए कर्म की कल्पना करो कि वह तुम्हारे सम्मुख है, तुम उसे देखोगे और तुम्हें स्पष्ट रीति से प्रकट हो जायेगा कि वह तुम्हारा कोई अभिप्राय प्रकट करता है, परन्तु राइस के मतानुसार उसमें तुम्हारा संकल्प भी शामिल है। इसलिए तुम्हारा वह कर्म और वह संकल्प जो तुम्हारे कर्म में शामिल है। अन्य कर्मों और संकल्पों के साथ, उस सर्वज्ञ और चेतनापूर्ण की अद्वितीयता और एकमात्र सत्ता में उपस्थित है। इस सर्वज्ञ और चेतनापूर्ण एकमात्र सत्ता में तुम्हारा व्यक्तित्व लीन तो होता है, परन्तु नष्ट नहीं होता अर्थात् तुम अपनी स्वतन्त्र सत्ता की दृष्टि से, वैसे ही बाकी रहते हो, जैसे अब हो। इस प्रकरण में फिर राइस ने प्रकट किया है कि उसके मतानुसार तुम्हारे आंतरिक विचार, तुम्हारा विषय निर्वाचन और प्रकटीकरण, जो किसी वस्तु के प्रतिरूपक उदाहरण हैं, असल में वस्तु है और ऐसी वस्तुओं में से एक है, जिनका सम्मिलित नाम जगत् है। निष्कर्ष यह है कि यदि समस्त जगत् ईश्वरीय अभिप्राय को प्रकट करता है, तो एक व्यक्ति अथवा उसका कोई अंश भी एक दरजे तक ईश्वरीय अभिप्राय को प्रकट कर रहा है[२]। फिर एक जगह राइस ने लिखा है कि किसी तुच्छ व्यक्ति का आलोक भी निःसंदेह

१. The world and the Individual by J. Royce p. 461-464.
२. The world and the Individual by J. Royce p. 464.

अद्वितीय ईश्वरीय अनुभव का एक अंश है और इसलिये वह भी अद्वितीय है[१]। सुतरां समष्टि जगत् की सत्ता उपर्युक्त भांति, विभागों में विभक्त रहा करती है और ईश्वरीय सत्ता भी, इसी प्रकार प्रत्येक अल्पज्ञ प्राणी में मौजूद है जिससे कोई अल्पज्ञ प्राणी किसी दूसरे का स्थान, बिना समष्टि में स्पष्ट परिवर्तन किये, नहीं ले सकता। दूसरी ओर यह भी ठीक है कि यदि कोई अल्पज्ञ प्राणी अपनी अद्वितीयता में रहकर, अपनी ही बात के लिए अपना स्थान छोड़ दे, तो भी कुल वह न रहेगा जो पहले था। अपने सिद्धान्त का यह विवरण देते हुए राइस ने प्रकट किया है कि तुम ब्रह्म में हो, परन्तु तुम्हारी सत्ता वहां नष्ट नहीं हो गई[२]।

अल्पज्ञ प्राणी और ईश्वरेच्छा

राइस ने एक जगह लिखा है कि वस्तुतत्त्वसंघ के अनुसार अनेक विभिन्नतापूर्ण सत्तायें एक ही सत्ता में हैं और रह सकती हैं, परन्तु यह बात उसकी सम्मति में सम्भव प्रतीत नहीं होती। वह कहता है कि जो कठिनतायें इस संघ को एक और अनेक के, समाधान में पड़ा करती हैं, वे सबकी सब, उसका मत स्वीकार कर लेने से दूर हो जाती हैं। हमारे लिए राइस कहता है कि यह प्रश्न ही नहीं रहता कि किस प्रकार अनेक एक जाते हैं, हमारे लिए तो ब्रह्माण्ड का एकत्व केवल चेतना एकत्व है। उसने अपनी बात को साफ करने के लिए फिर लिखा है कि जगत् की विभिन्नता आन्तरिक है परन्तु ऐसा नहीं है कि वह ठीक न हो। प्राणियों की विभिन्नता और उनकी योनियों के अनेकत्व, ये सब एक ही ईश्वरीय चेतना के अन्तर्गत है[३]।

इच्छास्वातन्त्र्य

इच्छास्वातन्त्र्य के प्रकट करने के लिये राइस के मतानुसार, यदि सामान्य बुद्धि से देखा जाये तो दो बातें प्रकट होती हैं।

(१) सामान्य बुद्धि साक्षी देती है कि जब हमारी इच्छा प्रकट होती है तो हम स्वयमेव उसके प्रकट करने वाले होते हैं।

(२) सामान्य बुद्धि से यह भी प्रकट होता है कि जब हमारी

---

१. The world and the Individual by J. Royce p. 464 and 465.

२. The world and the Individual by J. Royce p. 465 and 466.
राइस के ये शब्द हैं—"You are in God, but you are noi lost in God."

३. The world and the Individual by J. Royce p. 465-466.

इच्छाशक्ति, हमारी इच्छानुसार भीतर काम करती है, तो हम व्यक्तिरूप में अपने को स्वतन्त्र समझते हैं।

राइस, इन बातों को प्रकट करते हुये कहता है कि कार्य कारणवाद के कभी न समाप्त होने वाले बखेड़े में, हम नहीं पड़ना चाहते, क्योंकि समस्त हेतु जो इस वाद में दिये जाया करते हैं, वे प्राणियों के जीवन की घटनाओं के विशेष निदर्शन (उदाहरण) हुआ करते हैं, उनसे जीवन सम्बन्धी अन्तिम प्रश्न का हल नहीं होता। विचार करने से प्रकट होता है कि प्राणी की ससीम चेतना के प्रत्येक क्षण में, एक अद्वितीय झलक पाई जाती है। हमारे हेतुक जीवन, हमारी क्षणिक इच्छा और उसका प्रादुर्भाव भी उसी झलक की ही चमक है। हम अपनी इच्छाशक्ति में जो चमक और विलक्षणता देखते हैं, उसका हल कार्यकारणवाद से नहीं हो सकता। कार्यकारणवाद से केवल उन घटनाओं या उनसे सम्बन्धित अन्य घटनाओं का समाधान हुआ करता है, जो सामान्य अवस्था वाली हुआ करती है, परन्तु जो जीवन की अद्वितीयता है, वहां कारणवाद की पहुंच नहीं है, न हो सकती है। परिणाम यह निकलता है कि जब वैयक्तिक जीवन और उससे अपूर्व और गहन पहलुओं का समाधान कारणवाद से नहीं हो सकता और न कारणवाद उनसे सम्बन्धित किसी कार्य का अग्र निश्चय कर सकता है, तो विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा, जैसा कि आचारशास्त्र कहता है कि ये हमारे स्वतन्त्र कार्य हैं, जिन्हें हमने अपने इच्छास्वातन्त्र्य से किया है।

ईश्वरेच्छा मनुष्य के अन्दर

यह कहा जा सकता है और सच भी है कि ईश्वर अपने सर्वव्यापकत्व से हमारे अन्दर भी है और यह कि वह हमारे भीतर अपनी इच्छा से काम लेता है और यह अनिवार्य फल उसकी चेतना के अद्वितीयत्व और समष्टित्व स्वीकार करने का है। परन्तु इसके साथ ही यह भी बिल्कुल सच है कि इस दिव्य (ईश्वरीय) चेतना का अनुभव हम और केवल हम करते हैं और इस अनुभव करने का साधन भी हमारी अद्वितीय इच्छा का स्वातन्त्र्य ही है। अवश्य हमारा इच्छास्वातन्त्र्य और उसके अनुसार किये हुए हमारे कर्म ईश्वरीय चेतना का एक अंश है। वह अंश चाहे कितना ही तुच्छ क्यों न हो, परन्तु वह उस चेतना का अंश ही है। परन्तु इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं है कि ये हमारे किये कर्म

ईश्वरीय चेतना का अंश होने से किसी दूसरी जगह किसी अन्य कर्त्ता के द्वारा दुहराये जाते हों[१]।

कर्म

राइस ने कर्म के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है—हमारी वर्तमान इच्छाशक्ति, एक व्यक्ति की इच्छा के रूप में अद्वितीय है, तब हमारे कर्म का अभिप्राय यह हुआ कि वह हमारी इच्छा का अद्वितीय क्रियात्मक प्रकाश है। इसी बात को और दृढ़ करने के लिये, उसने फिर एक जगह लिखा है कि यदि कोई सार्वजनिक प्राकृतिक नियम, जो सामान्य प्रकार का है, हमारा चरित्र और अनुभव उसी नियम से प्रभावित है और स्वतन्त्र कर्म का फल नहीं है तो राइस कहता है कि तब तो हम "टाइप के केसों" से बढ़कर नहीं हो सकते और कोई कर्म भी उस दशा में, स्वतन्त्रता से नहीं कर सकते, परन्तु यदि उपर्युक्त भांति हमारी इच्छा का कार्य से परिणत होना अद्वितीय है, तब हम अपनी इच्छा के क्रियात्मक प्रकाश को अपना स्वतन्त्र कर्म कह सकते हैं। हमारी वर्तमान इच्छा कार्यरूप में परिणत होकर वैसी ही अद्वितीय है, जैसी ईश्वरीय इच्छा और वैसी ही स्वतन्त्र है, जैसा कि ईश्वरीय इच्छा का क्रियात्मक प्रकाश, यह ब्रह्माण्ड है। जिस प्रकार यह ब्रह्माण्ड किसी कल्पित कार्य, कारणवाद का, जो ईश्वरीय इच्छा के रूप में कल्पना किया गया हो, फल नहीं, इसी प्रकार अपने प्रबल प्रभाव और भौतिक साधन के रूप में हमारे कर्म भी स्वयमेव स्वतन्त्र कारण हैं[१]।"

राइस की सम्मति का निष्कर्ष

राइस ने इच्छास्वातन्त्र्य के विषय का वाद समाप्त करते हुए इस वाद के सम्बन्ध में लिखा है—"इसलिये तुम कर्म करने में स्वतन्त्र व्यक्ति हो। ईश्वरीय सत्ता की अद्वितीयता, जब हम उस सत्ता को, इस मनुष्य जीवन की अद्वितीयता के साथ मिलाकर लेते हैं, तो वह प्रत्येक व्यक्ति पर भी चरितार्थ होती है और इसलिये जिस प्रकार वह स्वतन्त्र है, इसी प्रकार मनुष्य भी स्वतन्त्र है। इसलिये वह प्रोत्साहन देता हुआ करता है कि तुम स्वतन्त्र हो और स्वतन्त्र व्यक्ति की तरह से उठो, यह ब्रह्माण्ड ईश्वर का है और तुम्हारा भी।"

---

१. The world and the Individual by J. Royce p. 466-468.
२. The world and the Individual by J. Royce p. 468-469.

सत्ताईसवां अध्याय

प्रोफेसर ग्रीन का मत

कर्म के सम्बन्ध में विचार करते हुये ग्रीन ने अपने विषय का प्रारम्भ कार्य और कारणवाद के सिद्धान्त से किया है।

कारण और कार्य

किसी वस्तु (कार्य) का कारण उसे कहा करते हैं, जो उस (कार्य) की उत्पत्ति का हेतु बने। उस कारण में उस कार्य के पैदा करने की योग्यता पूर्ण और स्वाभाविक होनी चाहिये, जिस प्रकार कार्य के पूर्व रूप में परिवर्तन ग्रहण करने की योग्यता स्वाभाविक हुआ करती है। प्रत्येक कारण का चाहे वह साक्षात् कर्त्ता हो या भिन्न अवस्थासमूह या कार्य का पूर्वरूप, स्वभाव होता है और यह स्वभाव उस (कर्त्ता) के लिये अन्य कर्त्ताओं, भिन्न-भिन्न अवस्थासमूहों और कार्य के पूर्वरूपों द्वारा निर्मित हुआ करता है। यह स्वभाव, कार्यों के नामरूप अथवा बाह्य दृश्यों में, ऐसा परिवर्तन उत्पन्न किया करता है, जिसे देखकर स्पष्ट रीति से प्रकट होने लगता है कि कार्य की वर्तमान स्थिति और दृश्य आदि उस कारण से भिन्न है, किसका वह कार्य है[१]। यह कार्यकारणवाद प्रत्येक कार्य पर तो लागू हो जाया करता है, परन्तु परतन्त्रता की दुनिया में, जहां समष्टि रूप से समस्त ब्रह्माण्ड परतन्त्र है और उसका एकमात्र कारण वह समतोत्पादक नियम है, जो उस परतन्त्रता के भीतर निहित है, लागू नहीं हुआ करता[२]।

कर्त्ता को वह कार्य पूर्ण स्वतन्त्रता से अपने ही सामर्थ्य से करना चाहिये, जिससे जगत् स्थापित है। उसे इस प्रकार से कार्य नहीं करना चाहये, जैसा संसार में परतन्त्रता से हुआ करता है। जगत् में जगत्व इसी कार्य से आया करता है। कर्त्ता का चरित्र भी इसी कार्य से प्रकट हुआ करता है[३]।

कर्म

परन्तु वास्तव में, ज्ञान में मौजूद हमारा वह कार्य ऐसा कर्म है, जिससे अनेक प्रकार के नाम और रूप (बाह्य दृश्य) एक के बाद दूसरा,

१. Prolegomena to Ethics by Greene. p. 469, 470 and 87.

२. Prolegomena to Ethics by Greene. p. 87.

३. Prolegomena to Ethics by Greene. p. 88.

दूसरे के बाद तीसरा इत्यादि समष्टिजगत् में, जो अनेक पारस्परिक सम्बन्ध वाली वस्तुओं का संघात हुआ करता है, प्रादुर्भाव हुआ करते हैं और वह कर्म कर्त्ता की अपनी ही सामर्थ्य से किया हुआ होता है। परन्तु उसका ज्ञान जगत् के उन बाह्य दृश्यों से नहीं होता। अवश्य वे दृश्य उस दिव्य कर्म के प्रभाव से प्राणियों के समझे हुये अनुभव के अंग बन जाते हैं।

जो ऐन्द्रिक कार्य, आंतरिक चेतना के प्रभाव से होते हैं, मन के द्वारा निश्चित हुआ करते हैं। मन इन सबके लिये अपेक्षित वस्तु है। यह अपेक्षा इसी अर्थ में है कि वे सब इस विश्व के एक अंग हैं। यह ज्ञान भी, उसी मन का उत्पन्न किया हुआ होता है। यह उत्पत्ति आत्मा के गुणों की अपेक्षा से होती है, जो अनेक प्रकार की वस्तुओं की समताप्राप्त अवस्था हुआ करती है[१]।

इस प्रकार ग्रीन का कथन है कि मनुष्य की ज्ञानोपलब्धि सम्बन्धी बात प्रकट करते हुये, हम इस बात के प्रकट करने का अधिकार रखते हैं कि अपने गुणों का उपर्युक्त प्रकार प्रकाश में लाते हुये, आत्मा अधिकारी है कि अपने को आत्मा कहे और इस प्रकार अन्यों से अपने को प्रतिष्ठित रखते हुये, स्वतन्त्रता से कर्म करे। वह कर्म, जो न समय की प्रेरणा से है, न प्राकृतिक कार्यों की किसी शृंखला के रूप से है और न किसी कर्म की पुनरुक्ति है, असल में उस (आत्मा) का अपना ही आरम्भ किया और रचा हुआ होता है[२]।

उसने फिर एक जगह कहा कि मनुष्य के कर्म, एक नित्य आत्मा के कर्मों की छायामात्र होती है। वह आत्मा मनुष्य के कर्त्तृत्वशक्ति को अपनी इन्द्रिय समझता हुआ, उन्हीं के द्वारा फिर अपने को प्रकट किया करता है[३]।

प्रवृत्ति हेतु

ग्रीन ने उपर्युक्त रीति से इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में, विचार करते हुये, एक जगह उसके पक्ष और विपक्ष का वर्णन इस प्रकार किया है। प्रवृत्ति (Motive) शब्द के समझने में जो सन्देह उत्पन्न होते हैं, उन्हीं के कारण इच्छास्वातन्त्र्य के समझने में भी, सन्देह उत्पन्न हो गये हैं। इस

१. Prolegomena to Ethics by Greene. p. 89.

२. Prolegomena to Greene p. 92 and 93.

३. Prolegomena to Greene p. 93.

वाद के समर्थकों का कथन है कि कर्म करने से पहले, मनुष्य अनेक प्रवृत्ति भेदों से प्रभावित हुआ करता है, परन्तु उन में से एक भी नहीं है, जो आवश्यक रीति से, कोई विशेष कर्म करना स्थिर और निश्चित कर देता हो, बल्कि स्वयं कर्त्ता, उनमें से एक को छांट लेता है और कर्म करता है। यह कर्म किसी भी प्रवृत्ति का निश्चय किया हुआ नहीं होता।

इसके विरुद्ध विपक्षियों का कथन यह है कि कर्त्ता में, वाद के पक्ष में, कही हुई प्रवृत्तिरहित इच्छा या पसंद नहीं हुआ करती किन्तु अनेक प्रवृत्तियों में से, संघर्षण के बाद, जो सब में बलवती होती है, वही (प्रवृत्ति) आवश्यक रीति से किसी कर्म का करना निश्चय कर दिया करती है। इस कहने के साथ ही, विपक्षी इसको स्वीकार करने की उदारता दिखलाता है कि एक या किसी प्रवृत्ति का प्राबल्य, मनुष्य के चरित्र पर निर्भर हुआ करता है, परन्तु चरित्र के सम्बन्ध में उनका कथन यह होता है कि वह इससे पूर्व की अनेक प्रवृत्तियों के काम में आने से बन जाया करता है और उन्हीं प्रवृत्तियों के आधार से, उस (चरित्र) में, इच्छा और द्वेष हुआ करते हैं।

ग्रीन ने, इस प्रकार दोनों पक्षों का विवरण देते हुये, पहले पक्ष के सम्बन्ध में लिखा है कि उसकी सम्मति में, बिना प्रवृत्ति के पसंद नहीं हो सकती, जब तक कोई विषय न हो, जिसे कोई पसंद या ना पसंद करता है, उसकी इच्छामात्र से किया हुआ कोई कर्म नहीं हो सकता। वह विषय उसकी पसंद में शामिल है अथवा यों कहिये कि वह पसंद का एक भाग है अथवा वही कर्त्ता का कर्म है। इसके बाद प्रवृत्तिहेतु पर विचार करते हुये, ग्रीन का कथन है कि जिन प्रवृत्तिहेतुओं का उल्लेख पक्ष और विपक्ष के समर्थक किया करते हैं कि प्रवृत्ति हेतु उन सबसे भिन्न है। असली प्रवृत्तिहेतु मनुष्य के प्रति कार्य से, जो अनेक प्रवृत्तिहेतुओं पर काम करता है और उन में से किसी एक को छांट लेता है, होता है वही उसके सामयिक संतोष का कारण बनता है और वही उसका विषय, जिसकी प्राप्ति वह चाहता है, बन जाता है[१]।

एक उदाहरण

ग्रीन ने अपना मतलब साफ करने के लिए एक उदाहरण दिया है—राम ने कुछ धन कृष्ण से उधार लिया था, वह निम्न हेतुओं से उस ऋण को चुकाना चाहता था।

१. Prolegomena by Greene. p. 116, Sec. 103.

(१) यह काम उसके अन्त:करण के अनुकूल होगा।

(२) दूसरे पुरुष भी ऐसा करने से उसे अच्छा समझेंगे।

(३) ऋण से मुक्त होने पर उसका बोझ हल्का हो जायेगा।

परन्तु कुछ आदमी हैं, जो राम को ऋण न चुकाने की प्रेरणा करते हैं। राम ने सब बातों का विचार करके ऋण चुका दिया।

इस उदाहरण को देते हुए ग्रीन कहता है कि इस ऋण के चुकाने में एक ओर जहां राम की प्रवृत्ति कारण थी, तो दूसरी ओर उस उद्देश्य की पूर्ति भी इष्ट थी, जो इस प्रकार की पूर्ति की तह में निहित हुआ करती है। परन्तु यह उद्देश्य राम की किसी प्रवृत्ति का नहीं था, अपितु इच्छाशक्ति का उद्देश्य था, नैसर्गिक इच्छा-द्वेष का फल नहीं था, जिनसे राम ऋण चुकाने की इच्छा करने से पहले अभिज्ञ था। उद्देश्य का रूप आत्मतुष्टि थी, जिसे राम प्राप्त करना चाहता था और जिसको ऋण चुकाकर उसने प्राप्त कर लिया। अवश्य उसकी प्रवृत्ति का रूप भी, आत्मतुष्टि की इच्छा ही थी, परन्तु उस (राम) की इस प्रवृत्ति को न तो साधारण कोई एक प्रवृत्ति ही कह सकते हैं और न कतिपय प्रवृत्तियों का संघात ही, जो ऋण चुकाने की सम्मति स्थिर करने से पहले उस (राम) के भीतर थी और जो मनुष्यों के हृदयों में साधारण इच्छा-द्वेष से उत्पन्न हो जाया करती है और न यह प्रवृत्ति वह प्रवृत्ति थी, जिसे विपक्ष के शब्दों में प्रबल प्रवृत्ति कहा गया है, जो अन्य प्रवृत्तियों को दबाकर, अपना प्राबल्य दिखलाते हुए, कर्म का हेतु बन जाया करती है। राम ने जो विरोध होते हुये भी ऋण चुका दिया, इसके लिए कहा जा सकता है कि उसका चारित्र्यबल इच्छा-बल पर विजयी हुआ[१]।

चारित्र्यबल और इच्छाशक्ति एक ही है

ग्रीन ने चारित्र्यबल पर विचार करते हुए अपनी सम्मति दी है कि जिसे हम चारित्र्यबल कहते हैं, उसकी प्रबल इच्छाशक्ति का अभिप्राय दृढ़ व्यक्ति हुआ करता है, जिसकी इच्छा प्रबल शक्तिमान् हुआ करती है[२]। इस प्रकार चरित्र और इच्छाशक्ति पर विचार करते हुए ग्रीन ने लिखा है कि इच्छास्वातन्त्र्य के विरोधी पुरुष जो कहते हैं कि मनुष्य के कर्म दो वस्तुओं का सम्मिलित फल हुआ करते हैं—(१) चरित्र (२) परिस्थिति। उनका यह कथन एक अंश में ठीक है और जिस अंश में ठीक है, उसमें भी वह कर्मस्वातन्त्र्य के विरुद्ध नहीं है[१]। जब इन दोनों

१. Prolegomena to Greene p. 116, 117, Sec. 104 and 105.

२. Do. p. 118.

को नैसर्गिक घटनाओं के रूप में या उसके रूपान्तर में कल्पना किया जाता है, तभी ये इच्छास्वातन्त्र्य के विरुद्ध होते हैं।

चरित्रनिर्माण व्यवस्था

मनुष्य जब अच्छी तरह से सोच-समझकर ऐसे विषयों को, जो अच्छे और ऐसे हों जिससे उसकी आत्मतुष्टि होती हो, अपने भीतर समाविष्ट करता है, तब उन्हीं से उसका चरित्र बना करता है। जब इस प्रकार बने चरित्र से किसी कर्म का किया जाना निश्चय हुआ, तो इसके अर्थ ये हैं कि वह कर्म, उस विषय या उद्देश्य द्वारा निश्चित हुआ, जिसे कर्त्ता ने अपना रक्खा है और इस अपनाने का कारण, वे कर्म हैं जिनको उस कर्त्ता ने, इस प्रकार करना निश्चित किया था। इस प्रकार कर्त्ता समझता है कि वह कर्म का कर्त्ता है[२]।

ग्रीन का मत इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में

इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में, इस प्रकार मत प्रकट करते हुए ग्रीन ने उसे और भी स्पष्ट करने का यत्न किया है। यदि कहा जाये कि मनुष्य के कर्म, उसके चरित्र और परिस्थिति का परिणाम है तो उस परिणाम को अनिवार्य फल कहने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। परन्तु यदि वे इन दोनों (चरित्र परिस्थिति) का फल नहीं है अथवा अधिक अच्छी सूरत में यों कहना चाहिये, कि वे चरित्र का, जिसका सम्पर्क कुछ परिस्थितियों से भी है, प्रकटीकरण नहीं है तो मानना पड़ेगा कि कोई और तीसरी वस्तु है जो कर्म की निश्चायिका है। अच्छा तो वह तीसरी वस्तु क्या है ? कोई उत्तर दे सकता है कि वह मनुष्य का इच्छास्वातन्त्र्य है। इस पर ग्रीन कहता है कि या तो तुम इच्छास्वातन्त्र्य को समझे नहीं कि क्या वस्तु है ? या इच्छास्वातन्त्र्य वह वस्तु है, जो चरित्र के निर्माता अंगों में से एक मुख्य अंग है, इसलिये कर्म का आधार चरित्र समझना ठीक है।

परिस्थितियों के सम्बन्ध में कि वे कर्म का कारण हैं, यह कहना बिलकुल ठीक होगा कि यह कारणत्व इस प्रकार का है, जो सब प्रकार की विवशताओं से मुक्त है।

यह कहना कि कर्म परिणाम है और जो परिणाम है वह अपरिहार्य परिणाम चरित्र और परिस्थिति का है, इसलिये कर्त्ता की उस कर्म के करने में परतन्त्रता है, विषय को गड़बड़ी में डालना है[३]।

---

१. Prolegomena by Greene. p. 118, and Sec. 106.
२. Prolegomena by Greene. p. 121, Sec. 108.
३. Prolegomena to Greene p. 116, 122, Sec. 109.

अट्ठाईसवां अध्याय

जेम्सवार्ड की सम्मति

जेम्सवार्ड ने, इच्छास्वातन्त्र्य पर सम्मति देने से पहले, अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों पक्षों पर विचार करने के लिये, दोनों श्रेणियों के अनेक विद्वानों के मत प्रकट करते हुये उनकी टीका-टिप्पणी की है और यही टीका-टिप्पणी उसकी सम्मति थी, मानो भूमिका है। जेम्सवार्ड की सम्मति और उसका आधार समझने के लिये, इसलिये आवश्यक है कि उन सब पर एक दृष्टि डाली जाये। हम अत्यन्त संक्षिप्त रीति से उसका यहां उल्लेख करते हैं—

परतन्त्रतावाद और मनुष्य के कर्म

जेम्सवार्ड ने पहले परतन्त्रतावाद पर विचार किया है। परतन्त्रतावादी प्रवृत्ति को शक्ति रूप में मानते हैं। जब मनुष्य कोई कर्म करना चाहता है, तो उससे पहले ये प्रवृत्तियां आपस में संघर्षण करती हैं। इस संघर्षण का परिणाम यह होता है कि एक प्रवृत्ति सबमें बलवान् ठहरती है और वही कर्म का निश्चय किया करती है और उसी निश्चय के अनुकूल कर्म हुआ करते हैं। ग्रीन ने भी परतन्त्रतावाद का कुछ इसी प्रकार के शब्दों में उल्लेख किया है, जिसकी बात ग्रीन की सम्मति प्रकट करते हुये कही जा चुकी है। अस्तु, परतन्त्रतावादियों के मतानुसार जब प्रवृत्तियों का संघर्षण होता है और जब उनमें से बलवती एक कर्म करने का निश्चय करके, उस निश्चय को कार्य में परिणत किया करती है, तब मनुष्य एक अकर्मण्य दर्शक के रूप में, "टुक-टुक दीदम दम न कशीदम" की कहावत के अनुसार रहा करता है। प्रवृत्ति के इस संघर्षण को जेम्सवार्ड ने फजूल बतलाते हुये लिखा है कि प्रवृत्तियों का संघर्षण करना ऐसा ही है, जैसा कि यह कहना कि दुकानदार की अनुपस्थिति में उसकी दुकान की वस्तुयें आपस में एक-दूसरे का साम्मुख्य करते हुये लड़ती हैं। होवस ने भी, यद्यपि परतन्त्रतावादियों से मिलती जुलती बात कहते हुए प्रकट किया है कि अनेक इच्छाओं में से एक अन्तिम इच्छा, कर्म करने का निश्चय किया करती है, बाकी इच्छाओं का उस कर्म पर कोई प्रभाव नहीं रहा करता[१]। परन्तु जेम्सवार्ड ने इसे भी कोई महत्त्व की बात नहीं समझा है। वह कहता है कि प्रवृत्ति को कर्म का कारण न मानकर, यदि यह माना जाये कि उससे कर्म करने की ओर मनुष्य की

---

१. English Works of Hobbes (Molesworth's Edition) Vol. I p. 40.

रुचि या झुकाव हो जाता है तो अधिक ठीक होगा[१]। वे (प्रवृत्तियां) बाह्य शक्ति के सदृश, कर्त्ता को गतिमान् या कुछ करने के लिये प्रवृत्त नहीं बनाती बल्कि किसी अन्तः वस्तु की तरह, जेम्सवार्ड कहता है कि कर्म करने की रुचि उत्पन्न कर दिया करती हैं। उसने अपना भाव स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया है—

एक उदाहरण

भूख लगने से मनुष्य भोजन करता है। इस उदाहरण में भूख, गरमी से शीशा चटक जाने के उदाहरण में, जैसे गर्मी, वैसी नहीं समझी जा सकती। पहले उदाहरण में कर्त्ता अपने कर्म से अवस्था बदल देता है, परन्तु परतन्त्रतावादी इनमें कोई अन्तर नहीं समझते।

होवस का तर्क

होवस ने, जिसका अभी उल्लेख हुआ है, उस अन्तिम इच्छा के लिये लिखा है कि वह इच्छा मनुष्य के अधिकार से बाहर है और अन्य कारणों से उत्पन्न हुआ करती है[२]।

हेतु यह दिया जाता है कि मनुष्य की इच्छा उसकी प्रकृति पर निर्भर हुआ करती है। इसके सम्बन्ध में जब यह कहा जाता है कि मनुष्य की इच्छा प्रायः उसके चरित्र पर निर्भर हुआ करती है और उसके इस चरित्र से ही उसकी प्रकृति भी शासित होती है, तो उत्तर इसका यह दिया जाता है कि उपलब्ध चरित्र का कारण, प्रकृति में हुये संशोधन हुआ करते हैं और इन संशोधनों का कारण परिस्थिति हुआ करती है, इसलिये परिणाम वही निकला कि मनुष्य अपनी प्रकृति और परिस्थिति का बन्दा है।

जेम्सवार्ड का उत्तर

जेम्सवार्ड ने, होवस के तर्क पर विचार करते हुये लिखा है कि परपक्वता और नई-नई बातों की खोजों के प्रारंभ करने की योग्यता, इन दोनों बातों के सम्बन्ध में इच्छा-स्वातन्त्र्यवादियों का मत है कि मनुष्य में उसके चरित्र के अलावा हुआ करती है, परन्तु परतन्त्रतावादी इसे नहीं मानते। इस पर जेम्सवार्ड का कहना यह है कि परतन्त्रतावादी चाहे इसे न स्वीकार करें, परन्तु मनुष्य की जीवात्मा में उससे कम योग्यता होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जिसके और जितने होने का मनुष्य स्वयं अनुभव करता है। अतः यह सम्भव नहीं है, परतन्त्रतावादियों

१. Pluralism and Theism by James Ward. p. 283 and 284.

२. English Works of Hobbes (Liberty and Necessity) Molesworth's Edition) Vol. VI p. 374.

के विचारों की संगति, मनुष्य के अनुभव से लगाई जा सके[१]। इसके सिवा एक बात और भी है और वह यह कि कर्त्ता (मनुष्य) न तो जड़ होता है और न ही हालात से बेखबर, बल्कि वह अच्छी तरह अपने उद्देश्य और परिणाम का ज्ञान रक्खा करता है। इसलिए उन परिस्थितियों और हालात के सम्बन्ध में जो उसके चारों ओर होते हैं, अपने उद्देश्यों को लक्ष्य में रखते हुये, मनुष्य अपने कर्त्तृत्व को इस प्रकार बदलता रहता है, जिससे उन परिस्थितियों और हालात को अपने उद्देश्य की पूर्ति का साधक बना सके। मनुष्य के उद्देश्य, किसी सार्वत्रिक नियम के आधीन नहीं होते हैं, उनके लिये केवल इतना ही कहा जा सकता है, कि वे किसी न किसी रूप में आत्मरक्षा और आत्मोन्नति के सिद्धान्तान्तर्गत हुआ करते हैं। मनुष्य अपने चरित्र से ही निश्चय किया करते हैं कि किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करे और इस प्रकार जो कुछ भी वह निश्चय किया करता है, वह उसका स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं निश्चय किया हुआ कार्य हुआ करता है, जो कोई इससे इन्कार करता है, जेम्स वार्ड कहता है कि वह मानो अपनी आत्मसत्ता और अपने अनुभव से इन्कार करता है[२]।

ह्यूम और आत्मसत्ता

ह्यूम ने मन के लिए कहा है कि वह भिन्न-भिन्न विचारों और अनुभवों का बंडल या संग्रह है, जो सदैव गति या फैलाव में रहा करता है, परन्तु उससे कोई विचार आत्मा की सत्ता का नहीं निकाला जा सकता[३]। इस पर बेन ने कहा है कि यदि वास्तव में कोई आत्मसत्ता हो तो मनोविज्ञान में उनके तीन विभागों (उद्वेग, इच्छा और बुद्धि) के सिवा एक चौथा विभाग आत्मसत्ता (Salf or me-ation) का बनाना पड़ेगा[४]।

जेम्सवार्ड ने ह्यूम और बेन के उपर्युक्त मतों का खंडन करते हुए स्थिर किया है कि आत्मा अवश्य है। यदि उसे (आत्मा को) केवल विचारों और अनुभवों का बंडल कहें और उससे भिन्न कोई निश्चय और नियन्त्रण करने वाला आत्मा न मानें, तो मनुष्य का फिर कोई उद्देश्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। इन सब बातों पर विचार करते हुए जेम्स

---

१. Pluralism and Theism by James Ward. p. 286-288.

२. Pluralism and Theism by James Ward. p. 288 and 289.

३. Treatise on Human Nature by Hume Vol. I p. 533 (Green and Gross Edition).

४. The Emotion and the Will by Brain, Third Edition 1895, p. 492.

वार्ड ने निश्चय किया कि आत्मा है और इच्छास्वातन्त्र्यमय है[१]।

इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में एक तीसरा मत

जेम्स वार्ड ने इस इच्छास्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में एक तीसरे स्कूल का उल्लेख किया है। इस स्कूल के अनुयायी इच्छास्वातन्त्र्य को आत्मनियतिवाद के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसा स्वीकार करते हुए भी वे प्राकृतिक नियमों की परतन्त्रता मानने में परतन्त्रतावादियों के साथ हैं[२]।

इस सम्बन्ध में कांट का मत

आत्मा अव्यक्त है और उसकी स्वतन्त्रता अनुभवातीत है, परन्तु उसका कर्तृत्व व्यक्त है और वह कर्तृत्व, आवश्यक रीति से निश्चित है[३]।

कांट ने फिर एक दूसरी जगह लिखा है कि मनुष्य के समस्त कर्म, जहां तक वे व्यक्त होते हैं, प्राकृतिक नियमों के अनुकूल निश्चित हुआ करते हैं और यदि हम उनकी खोज करके पता लगायें, तो मनुष्य का एक काम भी ऐसा न निकल सकेगा, जिसकी सूर्य ग्रहण की तरह निश्चित रीति से पेशीनगोई न की जा सके[४]।

जेम्स वार्ड का उत्तर

इस पर जेम्सवार्ड ने लिखा है कि यदि मनुष्य के चरित्र नियत और परिवर्तनीय है, ठीक उसी तरह जैसे सोने, चांदी आदि धातुओं के गुण माने जाते है, तो स्वीकार करना पड़ेगा कि मनुष्यों के इतिहास का ज्ञान ठीक उसी तरह से होने के योग्य है, जैसे ग्रहों की चाल। और तब हम, अनुभव के आधार पर चिरकाल से जमे हुये भाग्यवाद के सिद्धान्त को भी स्वीकार करने के लिये तैयार हो जायेंगे, जैसे कि शौपनहार तैयार था। इसके सिवा कांट ने जो परतन्त्रता की परिभाषा की है कि परतन्त्रतावाद वह है जो दिये (ज्ञात) हेतुओं का अनुसरण करे। इसके सम्बन्ध में जेम्स वार्ड कहता है कि यह परिभाषा, कांट को यह कल्पना करने में ठीक नहीं ठहरा सकती कि हेतु एक बार सदा के लिये नियत और अपरिवर्तनीय ठहरा दिये गये हैं[५]।

---

१. Pluralism and Theism by James Ward. p. 290-291.
२. Pluralism and Theism by James Ward. p. 292.
३. Pluralism and Theism by James Ward. p. 292.
४. Cricique of pure Reason (Ist Edition) p. 550. M.M.S. translation p. 474, and Practical Reason (Harlenstain's Edition) Vol. V.p. 104.
५. कान्ट की परिभाषा का अंग्रेजी अनुवाद यह है—"That wnich follows from a given ground."

उन्तीसवां अध्याय

त्रिकालज्ञता

यदि आस्तिकवाद के प्रकाश में विचार किया जाये, तो यह बात आम तौर से मानी जायेगी कि पुराने मतमतान्तर के वादविवादों में जो सदियों तक चलता रहा है, तर्क सदैव उस पक्ष का समर्थन करता रहा है, जिसे आगस्टिन, ऐकीनास (Aquinas), काल्विन और एडवार्ईस ने अपनाया था और जिसे त्रिकालज्ञता के नाम से कहा जाता है, जिस सिद्धान्त का भाव यह था कि "ईश्वर प्रत्येक घटना के घटित होने की आज्ञा देता है, जिसमें कर्त्ता की इच्छा भी शामिल है और ऐसे निर्णायक निश्चय से आज्ञा देता है, जिससे स्पष्ट हो जाये कि बिना किन्तु परन्तु के घटनायें उसके निर्णीतव्य में सम्मिलित हैं[१]।"

दूसरे शब्दों में, यही बात इस प्रकार कही जा सकती है कि प्रकृति के अन्य कारण इसकी स्वीकृति नहीं देते कि एक ही आदिकारण है। आस्तिकवाद की रू से इसका अभिप्राय यह यह हुआ कि ईश्वर ने ऐसे ज्ञान की कल्पना की गई है जो अनुभव से सर्वथा स्वतन्त्र है, कुछ तो वह स्वाभाविक है और कुछ नैमित्तिक। इस (ज्ञान) में वह (ज्ञान) भी शामिल है जिसका एक अंग ईश्वर भी है और जिसे हम जगत् से प्राप्त किया करते हैं और जिसके द्वारा मनुष्य जाना करता है कि ईश्वर जिस जगत् की रचना है, वह कैसा होना चाहिये। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है और इन्हीं गुणों से सम्पन्न होने के कारण उसका नित्य और पूर्ण होना भी आवश्यक है।

जोनाथन इडवार्ड और त्रिकालज्ञता

"संसार का सब कुछ पूर्ण रीति से अनादिकाल से ईश्वर के ज्ञान में है। इसलिये उसके (जगत्सम्बन्धी) आकार प्रकार और उद्देश्य ऐसी चीजें नहीं हैं, जो नई बनी हों या जिनकी बुनियाद किसी नये ज्ञान पर अवलम्बित हो, बल्कि सभी नित्य बने रहने वाले उद्देश्य के लिये हैं[२]।"

मारकस डाड प्रोफेसर स्काटलैंड

एडवार्ड की सम्मति पर विचार करते हुये जेम्सवार्ड ने लिखा है कि ईश्वर का विचार उपरोक्त भांति रखने से, किसी अन्य कारण या

१. Jonathan Edward's "Enquiry" 4th Edition (1775 A.D.) p. 4.
२. Pluralism and James Wards. p. 308.

उद्देश्य के लिये स्थान बाकी नहीं रहता, न ही असली जगत् के लिये भी कोई जगह बाकी रहती है और न किसी अन्य की इच्छा, ईश्वरेच्छा के सिवा बाकी है जिसके अनुकूल कोई कर्म हुआ हो[१]।" इसलिये स्वीकार करना पड़ेगा, जैसे कि लोज़े (Lotze) ने कहा है—"घटनाओं के वास्तविक रूप में घटित होने से कोई नई चीज़ प्रकट होनी चाहिये, जो पहले न थी और यह कि इतिहास जगत् की नियमबद्धता के साथ उत्पन्न होने के वर्णन के साथ कुछ और भी होना चाहिए।"

यह मतालिबा ऐसा है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस मतालिबा के पूरा करने से उपेक्षा की दशा में, जगत् न केवल विचार के अयोग्य और व्याघातदोषपूर्ण होगा बल्कि निरर्थक और अविश्वसनीय भी ठहरेगा[२]।

इन आक्षेपों के समाधान के लिये, जो-जो बातें कही गई हैं, उन सब का समावेश ओरिजन (Origen) के इस प्रसिद्ध वाक्य में आ जाता है—"ईश्वर की सर्वज्ञता भविष्य में घटित घटनाओं का कारण नहीं, बल्कि उनकी भावी सत्ता ईश्वर को सर्वज्ञता का कारण है कि वे होंगी।[३]"

प्रो० रीड और त्रिकालज्ञता

प्रीस्टले (Priestly) का विरोध करते हुये प्रो० रीड ने ईश्वर की त्रिकालज्ञता की संगति इच्छास्वातन्त्र्य के साथ लगाने के लिये भविष्य ज्ञान का भूतकालिक स्मृति के साथ मुकाबिला किया है। उसने क्रियात्मक रूप में मान लिया है कि भूतकालिक स्मृति वही है जो एक बार भविष्य की ओर भावी स्मृति थी।

हेमिलटन और त्रिकालज्ञता

रीड के उपर्युक्त मत पर विचार करते हुये उसके शिष्य हेमिलटन ने लिखा है कि भूतकाल आवश्यक है, यदि ईश्वर का भविष्यज्ञान हमारी स्मृति से मिलता है तो इसका कारण यह है कि उस (ईश्वर) के लिये भूत और भविष्यत् दोनों एक जैसे हैं। न तो भूत ही कोई

---

१. Rev. Marcus Dads. Ency. Brit. 9th. Edition, S.V. Predestination.

२. Metaphysics Sec. 65, E.T. p. 117.

३. Origen के शब्द यसे हैं—"God's pre science is not the canse of things future, but their being future is the causc of God's pre science that they will be."

अचानक घटना है और न भविष्य ही ऐसा है[१]। हेमिलटन ने इस प्रकार सम्मति देते हुये भी प्रीस्टले का पक्ष नहीं लिया, बल्कि पक्ष उसने रीड ही का लिया है।

त्रिकालज्ञता का एक अन्य प्रकार से समर्थन

एक और सुगम तरीके से त्रिकालज्ञता का समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि यह प्रश्न हमारी समझ और अनुभव से बाहर है। हेमिलटन ने इस रूपरेखा में रक्खा है कि "यह विषय समझने का नहीं अपितु विश्वास करने का है।" उसने यह भी कहा है कि समस्त प्रयत्न जो विद्वानों ने इस प्रश्न की संगति लगाने के लिये किये हैं, वे सभी निरर्थक और रद्द कर देने के योग्य हैं[२]।

जोनाथन एडवार्ड ने एक जगह लिखा है कि ज्यामिति का कोई साध्य ऐसा स्पष्टतया प्रकट करने योग्य नहीं है, जैसा कि एक स्वतन्त्र कर्त्ता की इच्छाओं का, कि वह भविष्य में बिना किसी बन्धन के क्या करेगा, ईश्वर को पहले से ज्ञान हुआ करता है[३]।

प्रो० राइस त्रिकालज्ञता किसी के सम्बन्ध में

राइस ने एक जगह लिखा है कि भविष्यज्ञान, ईश्वर को केवल उन्हीं बातों का होना सम्भव है, जो साधारण हैं या किसी ज्ञात कारण का निश्चित कार्य हैं, परन्तु जो कार्य कर्ता द्वारा स्वतन्त्रता से किये जाते हैं, उनका पहले से ज्ञान न तो किसी मनुष्य को ही हो सकता है, और न ईश्वर को ही। एक ओर तो राइस इस प्रकार की बात कहता है और दूसरी ओर वह ईश्वर के लिए कहता है कि इस समस्त प्राकृतिक जगत् से सम्बन्धित तीनों काल की प्रत्येक बात का उसे पूरा ज्ञान है। परन्तु ईश्वर के इस भविष्यज्ञान को भविष्यज्ञान कहना ठीक नहीं है। यह ईश्वर का नित्य ज्ञान है[४]। राइस ने अपने इस कथन में ईश्वर को भविष्य ज्ञान से वंचित ठहराते हुये उसे जो त्रिकालज्ञ कहते हुये तीनों कालों की प्रत्येक बात का ज्ञाता ठहराया है, जेम्स वार्ड की सम्मति में यह उसी प्रकार की गलती है, जैसी अनेक ईश्वरविश्वासी लोग किया करते हैं। ऐसे लोग ईश्वर और पूर्णकुल की दो पृथक्–पृथक् सत्तायें समझा करते

१. The Works of Thomas Reid, Hamilton's Edition, p. 631.
२. The Pluralism Works p. 311 and 312.
३. The Pluralism Works p. 312.
४. The Worldand the Individual by Prof. Royce Vol. II, p. 374.

हैं। ऐसे लोग ईश्वर और पूर्णकुल की दो पृथक्-पृथक् सत्तायें समझा करते हैं। ब्रेडले ने भी इसी प्रकार से दो सत्ताओं के होने की बात कही है। उसके इस कथन को जेम्स वार्ड उचित रीति से उस कुत्ते का-सा प्रयत्न समझता है, जो दो स्वामियों के साथ चलना चाहता है[१]।

ईश्वर के भेद

ब्रेडले कहता है कि पूर्णकुल (The Absolute) सब प्रकार से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होना चाहिये, परन्तु ईश्वर जिसकी सत्ता उस (पूर्णकुल) से स्वतन्त्र है, वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता।

ईश्वर और पूर्णकुल में भेद

ईश्वर व्यक्तित्व (Personality) रखता है, इसलिये उसके लिये कहा जा सकता है कि वह ज्ञान और अनुभव रखता है, जगत् उसकी रचना अवश्य है, परन्तु वह स्वयं जगत् नहीं है। पूर्णकुल दूसरी ओर व्यक्तित्व नहीं रखता, क्योंकि व्यक्तित्व रखने से उसके लिये भी आवश्यक हो जायेगा कि वह पृथक् हो और अन्य वस्तु उससे पृथक्। ऐसी अवस्था में जेम्स वार्ड का कहना है कि उस पूर्णकुल को ज्ञाता नहीं कह सकते, शायद एक अस्पष्ट बात उसके लिये कही जा सके कि वह ज्ञान रखता है जिसके कुछ अर्थ न होंगे[२]।

बीच का मार्ग

संसार एक बाजे की तरह उत्पन्न नहीं हुआ है। सभी संभाव्य बातें हो ही जाया करें, ऐसा कोई नहीं कह सकता। अनेक व्यक्ति असीम स्वतन्त्रता रहित हैं अर्थात् उस स्वतन्त्रता से रहित हैं, जिसे उपेक्षा या पक्षरहित स्वतन्त्रता कहते हैं और जिसे अचानक घटित हो जाने वाली स्वतन्त्रता की कोटि में रक्खा जा सकता है। ईश्वर के रचे प्राणी, रचित होने पर भी रचना करते रहते हैं। द्वैतवादी कहते हैं कि उनका स्वभाव कुछ जो अपना है और कुछ अपने किये कर्मों से बना है, उन्हें करण (इन्द्रियां) दिये गये हैं, चाहे वे उनका सदुपयोग करें या दुरुपयोग और यह भी है कि प्रत्येक सम्भाव्य बात प्रत्येक के लिये संभाव्य नहीं होती, तो भी उसके करने का प्रारम्भ प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसे करण न दिये गये हों। संभवनीय बातों की,

---

१. C.F. Lacture by Bradley II, p. 44.

२. Pluralism by James Wards p. 312 and 313.

जो की जा सकती हैं, मात्रा नियत है और उस (मात्रा की) सीमा में रहते हुए हम जितना भी आगे जाना चाहें जा सकते हैं[१]।

मार्टीन्यू का कथन है कि एक असीम मस्तिष्क, जिसमें पूर्वदर्शिता भी है, प्रत्येक को दिया गया है और वह मस्तिष्क आश्चर्य और निराशता दोनों से ऊपर है। + + + बन्धन वाले यान्त्रिक जगत् में बन्दी बनाने के स्थान में मनुष्य को स्वतन्त्रता दी गई है कि वह यहां स्वतन्त्रता से काम करे।

प्रश्न—क्या यह ईश्वर के भविष्य ज्ञान की सीमाबद्धता नहीं है कि वह उन समस्त इच्छाओं और कर्मों का ज्ञान नहीं रखता, जो मनुष्य भविष्य में करने वाले हुआ करते हैं?

उत्तर—सीमाबद्धता तो है, परन्तु यह स्वयमेव ईश्वर की ही उत्पन्न की हुई है कि उसने अपने कर्मप्रेरकत्व का एक भाग हमको दिया है और उसे वह अपनी सर्वज्ञता से आच्छादित नहीं करता।

डूगैल्ड स्टेवार्ट (Dugald Stewart) ने मार्टीन्यू के उपर्युक्त विचार और कथन का समर्थन करते हुए लिखा है कि ईश्वर ने उत्तमोद्देश्य से पसंद किया है कि अपनी प्रजा के लिये कर्मस्वातन्त्र्य का एक द्वार खोल दे और उसे अपनी सर्वज्ञता का क्षेत्र न बनावे, तो इस में कुछ भी अनर्गलपन नहीं है।

जोवेट (Jowatt) ने लिखा है कि ईश्वर यद्यपि सब कुछ है, परन्तु इस सब कुछ में यह शामिल नहीं है कि वह प्राणियों को प्रदान किये हुए कर्मस्वातन्त्र्य में बाधा का कारण भी है।

टेनीसन (Tennyson) ने लिखा है कि इच्छास्वातन्त्र्य निस्संदेह एक चमत्कार है और यह चमत्कार ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञता का नियन्त्रण और सीमित करते हुये किया है और इसके द्वारा उसने स्वयमेव अपनी सत्ता का चमत्कार दिखाया है[२] इन सब उपर्युक्त व्यक्तियों के विचार को प्रकट करते हुए, जेम्स वार्ड ने लिखा है कि इस कर्मस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को स्वीकार करने से, पिछले जमाने में कुछ लोगों ने, ईश्वर के सीमाबद्ध होने के विचार को उत्पन्न किया और अनुचित रीति से उसका विस्तार किया[३]।

---

१. Pluralism by James Wards p. 315

२. In Memorium Robinson Edition, p. 360.

३. The Pluralism by James Wards p. 316

तीसवां अध्याय

आचारिक जीवन इच्छास्वातन्त्र्य पर निर्भर है

हेसटिंग्स राशडाल ने इच्छास्वातन्त्र्य सम्बन्धी लेख का प्रारम्भ करते हुये ही, इस बात को स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि जब तक इच्छास्वातन्त्र्य न हो, आचार की सत्ता का विचार भी नहीं किया जा सकता, इसलिये वह कहता है कि यह आवश्यक है कि जगत्सम्बन्धी विचार इस प्रकार के हों, जिससे व्यक्तियों के कर्म असली अर्थों में स्वतन्त्रता के साथ उन्हीं के किये हुये समझे जा सकें।

एक साधारण व्यक्ति इच्छास्वातन्त्र्य को क्या समझता है ?

एक साधारण व्यक्ति इच्छास्वातन्त्र्य के लिये अभ्यासवश कल्पना करता है कि उसके कर्म किन्हीं पूर्व कर्मों या अन्य किन्हीं घटनाओं के फल नहीं है जो जगत् में उन कर्मों के करने से पूर्व घटित हो चुकी है। और यह भी कि उसके पूर्व किये कर्मों के ज्ञान अथवा उसके पूर्व चरित्र की जानकारी अथवा उस जन्मसिद्ध चरित्र के ज्ञान के आधार पर, जिसमें उसके किये हुये कर्मों से बहुत-सा फेरफार हो गया है, न तो स्वयं कर्त्ता, न कोई अन्य पुरुष निश्चय के साथ यह पेशीनगोई कर सकता है कि वह (कर्त्ता) भविष्य में, उस समय की परिस्थिति में किस प्रकार से कौन सा काम करेगा, यदि वह व्यक्ति अपने पहले किये हुये पापों पर दृष्टि डालता है तो ख्याल करता है कि ये नहीं करने चाहियें थे।

कुछ परवाह नहीं कि वह क्या था या उसने पहले क्या किया था, इसकी भी कुछ परवाह नहीं कि किस प्रकार के संस्कार और वासनायें और किस प्रकार का चरित्र, वह इस संसार में जन्मसमय अपने साथ लाया था और भी अन्य अवस्थायें उस समय तक सबकी सब वैसी ही बाकी रहें, तब भी कर्त्ता के वे कर्म (बिना उसके किये) बिना किये हुये ही बाकी रहेंगे और उस साधारण व्यक्ति के हृदय में दृढ़ता के साथ, यही विचार बना रहेगा कि जो कर्म अनेक प्रकार के कर्मों में से छांटकर, स्वतन्त्रता के साथ उसने किये हैं, वे पूर्व से निश्चित नहीं थे और यह भी निश्चित है कि कोई भी उन कर्मों की भूत और वर्तमान पर ध्यान

देकर पेशीनगोई नहीं कर सकता था। इच्छास्वातन्त्र्य का यही अभिप्राय एक साधारण व्यक्ति सोच सकता है।

इससे दार्शनिक भी सहमत हैं

अनेक ऐसे दार्शनिक भी हैं जो खुले शब्दों में यह कहते हैं कि एक साधारण व्यक्ति ने इच्छास्वातन्त्र्य को जो कुछ समझा है ठीक है और उसकी इस बात का भी अनुकरण करने के लिये वे तैयार हैं कि यदि इस भांति इच्छास्वातन्त्र्य न हो तो फिर आचार का कोई मूल्य बाकी नहीं रह सकता।

परतन्त्रतावादी इसके विपरीत है

परन्तु परतन्त्रतावादी इसके सर्वथा विरोधी हैं। उनका कथन है कि मनुष्य के सभी काम उसकी बनावट या उसके जन्मसिद्ध स्वभाव का अनिवार्य फल होते हैं, अवश्य उस बनावट या स्वभाव में उन प्रभावों के कारण, जो भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों से उसके जन्म से लेकर कर्म करते समय तक कुछ परिवर्तन हो जाया करते हैं और उन्हीं परिवर्तित बनावट या स्वभाव के कार्य मनुष्य के कर्म हुआ करते हैं। इस प्रकार मनुष्य कर्म में स्वतन्त्र नहीं अपितु परतन्त्र ही है। यदि मनुष्य के स्वभाव और परिस्थिति का ठीक ज्ञान हो, तो उन्हीं के आधार पर भविष्य में उनके किये जाने वाले कर्मों की पेशीनगोई भी की जा सकती है। राशडाल ने दोनों पक्षों का भलीभांति स्पष्टीकरण हो जाये, इसके लिये एक उदाहरण दिया है। वह कहता है कि कल्पना करो, दो भाई एक साथ पैदा हुये हैं और उनके जन्मसिद्ध स्वभाव एक ही हैं और उन पर एक ही प्रकार की परिस्थितियों के प्रभाव, जन्म से लेकर कर्म करते समय तक पड़ते रहे हैं, तो परिस्थिति (नियति) वादियों के अनुकूल २० वर्ष की आयु में उन दोनों के चरित्र एक होंगे और एक ही जैसे हालात में वे एक ही प्रकार के कर्म भी करेंगे, परन्तु कर्मस्वातन्त्र्यवादियों के अनुसार उन में से एक सन्त और दूसरा दुष्ट बन सकता है।

राशडाल का कथन

राशडाल ने इन परिस्थितिवादियों के इस विचार पर विचार करते हुये कि क्या मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के नियमों का मर्मज्ञ, मनुष्य के पिछले कर्मों के आधार से उसके भावी चरित्र को बतला सकता है। लिखा है कि चरित्र का सम्बन्ध मस्तिष्क और नाड़ीगुच्छक से है और

इसीलिये किसी आदमी के भूतकाल के वास्तविक चरित्र से उसके आगामी चरित्र का यथार्थ विवरण नहीं दिया जा सकता। चरित्र में सदैव अविकसित सम्भावनायें सम्मिलित हुआ करती हैं, किसी नई उत्तेजना के प्राप्त होने पर किसी नई योग्यता के विकास अथवा किसी विकसित योग्यता के पुनर्विकास के रूप में, जो परिवर्तन उत्तरचरित्र में हो जाया करता है, उसका यथार्थ विवरण बीते हुये चरित्र के आधार से नहीं दिया जा सकता[१]। वह कहता है कि यह बिल्कुल सम्भव है कि आदमी का चरित्र ऐसा हो कि एक खास प्रकार की उत्तेजना प्राप्त होने पर वह 99 बार एक ही प्रकार के कर्म करे, परन्तु सौवीं बार बिलकुल दूसरे प्रकार का। यह भी सम्भव है कि एक पुरुष की बनावट ऐसी हो कि हजार बार सुने हुये सरमनों का उस पर कुछ भी असर न हो, परन्तु बिलकुल सम्भव है कि एक हजार एकवीं बार उस पर इतना प्रभाव पड़े कि उसका सारा जीवन उलट-पुलट हो जाये।

चरित्र का परिवर्तन होगा

इसलिये राशडाल का कहना है कि परिस्थितिवादियों के लिये जो यह कहा जाता है कि इनके सिद्धान्त के अनुसार चरित्र में परिवर्तन नहीं हो सकता, ठीक नहीं है और यह भी ठीक नहीं है कि जब तक बाह्य परिस्थिति में कोई नई बात न हो चरित्र नहीं बदल सकता + + + न केवल कर्म बल्कि मनुष्य के उद्देश्य, प्रवृत्ति, बल्कि कर्त्तृत्वनियम भी बदलकर सर्वथा भिन्न हो सकते हैं। परन्तु यदि चरित्र का मतलब कोई यह लेवे, कि मनुष्य की सभी योग्यताओं की वह समष्टि है, जिन (योग्यताओं) से भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजना उत्पन्न हुआ करती है, तो बेशक मानना पड़ेगा कि परिस्थितिवादियों के सिद्धान्तानुसार चरित्र नहीं बदल सकता। परन्तु चरित्र का अभिप्राय आचारिक नियमों के अनुसार यह नहीं लिया जा सकता + + + आचार के दृष्टिकोण से चरित्र निःसन्देह एक अनुभूत घटना है। परिस्थिति अथवा अनियतिवाद जिसको नहीं मानता, राशडाल ऐसे दोनों पक्षों से सहमत नहीं है।[२] वह कहता है कि परिवर्तन जो मनुष्य की प्रवृत्ति और उत्तेजनाओं में होते हैं, वे सदैव बुद्धिपूर्वक नहीं होते, जैसा कि शौपनहार ने कहा है—मनुष्य

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 302-304.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 305.

पश्चात्ताप इच्छाशक्ति के परिवर्तन से नहीं, अपितु ज्ञान के परिवर्तन से किया करता है[१]।

इस प्रकार राशडाल ने दोनों पक्षों से सहमत न होते हुए एक प्रश्न दोनों पक्ष वालों के सम्मुख रखा है—

एक प्रश्न

वह क्या कारण है, जिससे एक इच्छित विषय, एक की अपेक्षा दूसरे को अधिक अपील किया करता है ? कहा जाता है कि मनुष्य सदैव अधिक बलवती प्रवृत्ति के आधार पर काम किया करता है। राशडाल यही जानना चाहता है कि वह क्या हेतु है, जिससे एक व्यक्ति की खास इच्छा दूसरे व्यक्ति की उसी प्रकार की इच्छा की अपेक्षा अधिक प्रबल हो जाती है ?

परिस्थितिवादी का उत्तर

परिस्थितिवादी इस प्रश्न के उत्तर में कहता है कि वह कारण जिससे मनुष्यों में इच्छाभेद हो जाता है अथवा कोई विशेष इच्छा बलवती हो जाती है, मनुष्य के भीतर मौजूद होता है और उसका प्रारम्भ जन्मसिद्ध प्रकृति के रूप में होकर, उसमें परिवर्तन होते रहते हैं, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। कर्म करने के समय, वह जिस परिवर्तन रूप में हो जाती है, वही वह कारण हो जाता है, इस प्रश्न में जो पूछा गया है।

इच्छास्वातन्त्र्यवादी राशडाल का उत्तर

वह कारण कर्म करते समय ही उत्पन्न हो जाता है, जिसकी पहले कोई सत्ता नहीं थी और न वह किन्हीं ऐसे कारणों का परिणाम होता है, जो पहले से उपस्थित होते हैं। वह कारण बिलकुल नया उत्पन्न हुआ होता है और इस नये कारण के उत्पन्न करने की योग्यता कर्त्ता में बार-बार कर्म करने से स्वयमेव आ जाया करती है। यह कर्म आत्मा की ओर से होते हैं, परन्तु यह आत्मा अपना ही उत्पन्न किया हुआ होता है[२]।

इच्छास्वातन्त्र्य और राशडाल

इन प्रश्नोत्तरों पर विचार करते हुये राशडाल कहता है कि इच्छास्वातन्त्र्यवादियों के प्रकट किये हुये कारण के लिये, जो उन्होंने प्रकट किया है कि उसका कोई सम्बन्ध चरित्रादि से नहीं है, यह बात अनुभव के विरुद्ध है और यह बात भी, कि उनके प्रकट किये हुये कर्म

१. The World as Will and Idea Eng. Trans. I p. 382.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 306 and 307.

के प्रेरक आत्मा की भी कोई स्थिरता नहीं है, विचार योग्य नहीं है। अधिक से अधिक इच्छास्वातन्त्र्यवादी जो कह सकते हैं वह यह हो सकता है कि कर्म जो पूर्व से अनिश्चित इच्छा द्वारा होते हैं वे एक साधन उत्पन्न करते हैं, जो चरित्रनिर्माण का हेतु हुआ करता है, यह साधन हो सकता है परन्तु इसे छोटे से छोटा साधन ही कहा जा सकता है। राशडाल का कहना है कि १०० में से ९९ हिस्से चरित्र के वंशपरम्परा, शिक्षा, परिस्थिति और जन्मसिद्ध प्रकृति से बने हुये होते हैं, केवल सौवाँ (१/१००) भाग उपर्युक्त अनिश्चित इच्छा से किये हुये कर्मों से बना हुआ हो सकता है। इतना अल्पभाग ही क्यों न हो, परन्तु कर्त्ता के कर्मस्वातन्त्र्य को सिद्ध करने के लिये इतना ही काफी है, जैसा कि प्रो० चैंडलर (Prof. Chandler of Oxford) ने कहा था, "इच्छास्वातन्त्र्य की सिद्धि के लिये एक कर्म का भी स्वतन्त्रता से किया हुआ होना काफी है[१]।" इस पर राडशन ने कहा है कि यथार्थ में इस बात की जरूरत नहीं है कि कोई एक सर्वथा पृथक् कर्म इच्छा-स्वातन्त्र्य से किया हुआ कहा जाये, अपितु इतना कहना ही काफी होगा कि मनुष्य के कर्म, उसके परिपक्व चरित्र के कारण, केवल दो नहीं, बल्कि तीन हैं। (१) जन्मसिद्ध प्रकृति (२) परिस्थिति और (३) पूर्व से अनिश्चित इच्छा[२]।

आत्मपरिस्थितिवाद

आगे चलकर राशडाल ने परिस्थितिवाद पर विचार करते हुये बतलाया है कि अत्यन्त आवश्यक है कि प्रचलित परिस्थितिवाद से उस परिस्थितिवाद को पृथक् किया जाये, जो आत्मसत्ता को स्वीकार करता है और मनुष्य के कर्म का सम्बन्ध, उसी आत्मा के चरित्र से जोड़ा जाये। और उस यान्त्रिक परतन्त्रतावाद से उसका नाता तोड़ दिया जाये, जो कर्मों को एक दूसरे कर्मों के कार्य होने की शिक्षा देता है अथवा जो बतलाया है कि कर्म भौतिक घटनाओं के, जिनको भी कर्म ही कहा जाता है और जिनके साथ आत्मशक्ति भी सम्मिलित की जाती है, फल होते हैं[३]। इस भेद किये हुये परिस्थितिवाद का नाम, जिसका वह समर्थक है, "आत्मपरिस्थितिवाद" उसने रखा है। उसने एक-दूसरी जगह यह भी लिखा है कि आत्मपरिस्थितिवाद में आत्मा, आचारिक

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 307 and 308.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdali. p. 308.
३. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 309.

नियमों से प्रभावित होता है और यह वाद केवल हर्षवाद से सर्वथा पृथक् अथवा उसके विपरीत है[१]।

आत्मपरिस्थितिवाद के समर्थक

राशडाल कहता है कि अनेक पुरुष असल में आत्मपरिस्थितिवादी हैं। परन्तु परतन्त्रता (परिस्थिति) वाद से बचने के लिए अपने को इच्छास्वातन्त्र्यवाद का पोषक कहते हैं। सेंट थामस एक्वीनस (St. Thomos Aquines), हेगल (Hegil) और इंगलैण्ड के दार्शनिक ग्रीन आदि इसी प्रकार के इच्छास्वातन्त्र्यवादी हैं, इसके विरुद्ध प्रकृतिवादी, हर्षवादी[२] और अन्य भ्रमोत्पादक संस्थायें जो परतन्त्रता शब्द के चारों ओर एकत्रित हैं, यदि अपने को इच्छास्वातन्त्र्यवादी कहें तो बिलकुल ठीक होगा, परन्तु इच्छास्वातन्त्र्य का अभिप्राय उपर्युक्त आत्मपरिस्थितिवाद ही से पूरा होगा। राशडाल ने अपने को इसी आत्मपरिस्थितिवाद की कोटि में रक्खा है[३]।

इच्छास्वातन्त्र्य और परतन्त्रतावाद का इतिहास

यह वादविवाद तीन अवधियों में होकर प्रचलित समय तक पहुंचा है।

(१) प्रारम्भ में यह केवल धार्मिकवाद के रूप में था और उस समय इस वाद का मूल यह था किस प्रकार इच्छास्वातन्त्र्य की ईश्वर की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से संगति लगाई जावे? उस समय जिन पुरुषों का विचार यह था कि मनुष्यत्व का विस्तार हो, वे इच्छास्वातन्त्र्य के पोषक थे। परन्तु जो इलहामी मतों के उत्साही पुरुष थे, परतन्त्रतावाद के समर्थक थे। परन्तु यूनान के पादरी, जिनको दार्शनिक शिक्षा मिली थी, स्वतन्त्रता के समर्थक थे। इससे भिन्न अफ्रीका के अर्धसभ्य और अन्य पश्चिम के निवासी परतन्त्रता के पोषक थे। लूथर और उसके सुधार के समर्थक सभी परतन्त्रतावादी थे। इरासमस (Erasmus) और मनुष्यत्व के प्रसारक, इच्छास्वातन्त्र्यवाद के पोषक थे।

दूसरा दर्जा

इस वाद के दूसरे दर्जे में भी विवाद का क्षेत्र मुख्य करके धार्मिक

---

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 310.

२. Hedonism–The Doctrine that the chief good of man lies in the pursuit of pleasure.

३. Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 310.

था और उस समय के विवाद का मूल यह था कि कार्य्यकारणवाद से किस प्रकार आचारिक स्वतन्त्रता की संगति लग जाती है। होबस (Hobbas) के समय से जो लोग ईसा से ईश्वरत्व अथवा ईश्वर की सत्ता में सन्देह करने वाले थे और ईसाई धर्म में विश्वास नहीं रखते थे, प्रायः सभी परतन्त्रतावाद का समर्थन करते थे, परन्तु धर्म और आचार के विश्वासी आमतौर से इच्छास्वातन्त्र्य के पोषक थे।

तीसरा दर्जा

वर्तमान समय में पहले दोनों समयों के विवाद की मूल बात तो ज्यों की त्यों विवादास्पद बनी हुई है ही, उनमें अवश्य वृद्धि हुई है जो वृद्धि हुई है वह परतन्त्रतावाद के समर्थन में हुई है और उस वृद्धि के कारण ये हैं। (१) इस बात की खोज से कि योग्यता और स्वभाव में घनिष्ठ सम्बन्ध है। (२) मस्तिष्क और नाड़ी गुच्छक की अन्वेषणा से। (३) विकासवाद प्रतिपादित वंशपरम्परा के ज्ञान से। (४) अपराधों के अंकों का औसत, प्रायः एक जैसा बना रहने से। (५) इस बात की जानकारी से कि व्यक्तियों के चरित्र सामाजिक परिस्थिति से गहरे प्रभावित होते हैं[१]। इन बातों को राशडाल ने अनुभव और परीक्षण का फल बतलाते हुये लिखा है कि यदि मनुष्य की सहज बुद्धि ने स्वाभाविक स्वतन्त्रता को न छोड़ दिया तो विज्ञान और दोनों की प्रचलित प्रवृत्ति परतन्त्रतावाद की ओर हैं, ऐसा समझना चाहिये[२]।

मस्तिष्क ढांचा और शक्ल

राशडाल ने इन कारणों में से कुछ पर प्रकाश पड़े, इसलिए मन और मस्तिष्क के सम्बन्ध पर विचार करते हुये लिखा है कि वह बात अच्छी तरह से समझ ली गई है कि मनुष्य की शक्ल, ढांचा, मस्तिष्क की योग्यता और नाड़ीगुच्छक एक ओर तो संस्कार और कर्तृत्व, दूसरी ओर इन दोनों में सम्बन्ध है। उसने उदाहरण में दक्षिण इटली और स्पेन के निवासियों को पेश किया है और लिखा है, ये लोग अंग्रेजों और स्केण्डनेविया वालों की अपेक्षा अधिक क्रोधी (तुनक मिजाज) भावुक और लड़ने के लिए शीघ्र तैयार हो जाने वाले होते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि यह हमारी स्वतन्त्रता का अधिक उपयोग करते हैं. बल्कि इसका कारण यह है कि ये लोग मस्तिष्क और नाड़ियों की विभिन्न

---

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 310 and 311.

२. Do. p. 311 and 112.

बनावट के साथ ही पैदा होते हैं। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है और उचित रीति से कहा जा सकता है कि यहां केवल व्यक्तियों की भावुकता और रोगसम्बन्धी सार्वत्रिक स्वभाव पर विचार किया गया है। इसका सम्बन्ध मनुष्यों के व्यक्तिगत सदाचार से नहीं है या मनुष्यों की प्रकृति का विचार किया गया है, जो मनुष्यों को अच्छा या बुरा कर्म करने की उत्तेजना देती है, उनके वास्तविक कर्त्तृत्व का यह विचार नहीं है। इसके उत्तर में राशडाल कहता है, किसी जाति के कर्त्तृत्व पर विचार करें कि क्या होगा, तो औसतन वह वैसा ही निकलेगा, जैसी उस जाति के व्यक्तियों की भावुक प्रवृत्तियां होती हैं। उसने यह भी लिखा है कि संभव है कि भौतिक विज्ञान सम्बन्धी योग्यता बढ़ने पर मनुष्य की वास्तविक इच्छा जानी जा सके और उसके उन स्वभावों का ज्ञान भी हो सके, जिनके विरुद्ध मनुष्य का अन्तरात्मा काम करता है और वह हद भी जानी जा सके, जहां तक जीव अच्छी या बुरी प्रकृतियों को सह लिया करता है और स्वयं उन प्रकृतियों के प्रकार का भी ज्ञान हो सके। क्योंकि यह स्पष्ट है कि जातियों के शारीरिक भेद जितने ही बढ़ते जाते हैं, उतना ही उनका आचारभेद भी बढ़ता जाता है[१]। और यह तो अब भी स्पष्ट है कि सिर में गहरी चोट लगने से मनुष्य की दिमागी हालत बदल जाती है।

लोम्बरोसो का सिद्धान्त

लोम्बरोसो (Lombroso) और उनके अनुयायियों ने एक सिद्धान्त स्थिर किया था कि जो लोग अपराध किया करते हैं, उनके मस्तिष्क एक विशेष प्रकार के होते हैं। यद्यपि यह वाद स्थापित नहीं हो सका, परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि कम से कम इस प्रकार के अपराधी अधिक से अधिक कम दिमागी योग्यता के मनुष्य होते हैं, उनके चेहरे की रेखायें और दृष्टि का प्रभाव भी तेजस्विताशून्य हुआ करता है।

शरीर की बनावट का चरित्र पर प्रभाव

इनका वर्णन करते हुए राशडाल ने लिखा है कि किन्हीं-किन्हीं सूरतों में शरीर की बनावट और चरित्र में ऐसा खुला और स्पष्ट सम्बन्ध होता है कि उनको कारण और कार्य कहने में जरा भी संकोच नहीं हो सकता। राशडाल ने यह स्पष्ट कर दिया है, यह उसी भाव और अर्थ में है, जिस भाव और अर्थ में यह भौतिकविज्ञान में प्रयुक्त होता है। यह सब

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 310, 311, 312.

कुछ कहते हुए उसने अन्त में कहा है कि यह बात याद रखनी चाहिए कि जो बातें प्रमाणरूप में ऊपर कही गई हैं, वे इस बात के सिद्ध करने के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं कि केवल शारीरिक अवस्थायें ही मानसिक और आचारिक अवस्थाओं के एकमात्र कारण हैं। परन्तु उनसे यह जरूर मालूम होता है कि प्रवृत्ति यह है कि ये इन शारीरिक अवस्थाओं को मनुष्य कर्म से पहले होने वाले कारणों में सम्मिलित करना आवश्यक है और यह भी कि मनुष्यों के कर्म, यदि पूर्ण रीति से भौतिक कारणों के परिणाम नहीं हैं, तो कम से कम कारणों से तो अवश्य निश्चित होते हैं[१]।

मस्तिष्क के सम्बन्ध में विचार करते हुए राशडाल ने लिखा है कि "हमको स्वयं मस्तिष्क का कुछ अनुभव नहीं है। परन्तु इतना अवश्य जानते हैं कि मस्तिष्क में कुछ और शामिल है, जो मस्तिष्क नहीं किन्तु उससे भिन्न है और उसी से हम काम लेते हैं और यह भी याद रखना चाहिए कि जब एक आदर्शवादी मस्तिष्क को कारणरूप में देखता है तो उसका यह देखना केवल सापेक्षिक होता है, यथार्थरूप में नहीं, क्योंकि मस्तिष्क की सत्ता केवल मन के लिए है। राशडाल ने यह प्रकट किया है कि मन का शरीर से क्या सम्बन्ध है? यह विषय इस प्रकरण में नहीं आता परन्तु इस प्रश्न का कोई भी पहलू उपर्युक्त कथन के विपरीत नहीं जिस (कथन) में दो बातें शामिल हैं—

(१) जीवात्मा का असली कारणरूप में होना (२) अन्तिम सत्ता का आत्मिक रूप में होना[२]।"

वंशपरम्परागत (Heredity)

राशडाल[३] ने वंशपरम्परागतवाद को, इच्छास्वातन्त्र्य का विरोधी समझा है। उसका कहना है कि बालक और उसके माता-पिता की सूरत में प्राय: मेल होता है। इसी प्रकार का मेल, बालक के चरित्र और उसके दूर के पूर्वज या किसी कुनबे के अन्य सम्बन्धी के चरित्र से प्राय: देखा

---

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 311, 312, 313.

२. Do. p. 313, Foot Note.

३. डारविन ने जिस वंशपरम्परागत सिद्धान्त की मुख्यता दी थी, आज उसका उतना मान नहीं है, इसीलिए राशडाल ने लिखा है—

There are the familias facts of heredity, emphasized by modern biological investlgation, but not really much better known to us than to those who lived before Darwinism and the ideas associated with it were dreamed of. (Do. p. 313 and 314).

जाता है। अतः स्पष्ट है कि कर्मस्वातन्त्र्यवादियों के पक्ष का यह अनुभव भी द्योतक है।

गर्भविकास का अधूरा ज्ञान

मनुष्य के जन्मसिद्ध चरित्र के सम्बन्ध में, इसी वंशपरम्परा पर विचार करते हुए राशडाल कहता है कि गर्भविकास सम्बन्धी हमको पूरा ज्ञान होता, तो इस (जन्मसिद्ध) चरित्र का निश्चयात्मक विवरण दिया जा सकता था, परन्तु अब इसके ज्ञान को वैसा ही कह सकते हैं, जैसे ऋतुविद्या के आधार पर वर्षा आदि की पेशीनगोई की जाया करती है। यह स्पष्ट है कि यह पेशीनगोई बहुत गलत और अधूरी निकला करती है, परन्तु फिर भी ऋतुविद्या एक विद्या मानी ही जाती है, इसी प्रकार उन साधनों को भी, चाहे वे ऋतुविद्या की भांति, कितने ही अधूरे क्यों न हों, एक विद्या कह सकते हैं[१]।

(३) अपराधों अंकों का औसत

राशडाल अपराधों के अंकों वाली दलील पर विचार करते हुये कहता है कि इन अंकों के आधार पर हम यह पेशीनगोई कर सकते हैं कि लंदन में एक वर्ष के भीतर कितने आदमी आत्मघात करते हैं, इसमें बहुत थोड़ी भूल की सम्भावना हो सकती है, यदि किसी देश में आत्मघात का औसत बढ़ जाये तो राशडाल कहता है कि उसके कारण इस प्रकार के हो सकते हैं—

(१) उसकी सामाजिक अवस्था में कुछ बिगाड़ हो गया है।

(२) यह भी उसका कारण हो सकता है कि वहां के निवासी प्रोसिस्टेंट मतानुयायी हैं, रोमन केथोलिक न हों।

(३) या अनिवार्य फौजी सेवा लेने में निर्दयता की गई हो।

(४) या भूमि की मिलकियत कृषकों की न हो, बल्कि जमींदारी की हो।

इन और इन्हीं प्रकार के कारणों से अंकों के न्यूनाधिक्य का कारण बतलाया जा सकता है परन्तु इनका कारण इच्छास्वातन्त्र्य नहीं हो सकता[२]।

सम्भावनावाद (Doctrine of Probabilities)

"अधिक सम्भवनीय विचार नियम के आधार से मनुष्य के भावी चरित्र की पेशीनगोई, वर्षा आदि के पेशीनगोई की अपेक्षा, अधिक

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 313 and 314.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 314-316.

शुद्धता के साथ की जा सकती है। राशडाल ने यह युक्ति हलडेन महाशयों के लेखों के आधार से दी है[१]।"

आचारिक उत्तरदायित्व के लिये क्या इच्छास्वातन्त्र्य अनिवार्य है ?

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य के भीतर जन्म से ही अच्छाई या बुराई की ओर जाने की प्रवृत्ति हुआ करती है और यह कि यह प्रवृत्ति शिक्षा और भौतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से परिवर्तित हुआ करती है और यह भी कि यह परिवर्तित प्रवृत्ति, मनुष्य के चरित्र को प्रभावित करती रहती है। परन्तु मनुष्य इन प्रवृत्तियों के कारण अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। इसके अच्छा या बुरा कहने का असली कारण मनुष्य के चरित्र का वह भाग है, जो जन्मसिद्ध चरित्र और परिवर्तित प्रवृत्तियों के एक जैसा होने पर भी मनुष्य में विभिन्नता पैदा करता है[२]।

राशडाल ने यह वर्णन करते हुये कि परिस्थितिवाद में भी मनुष्य के चरित्र-परिवर्तन की गुंजाइश है, आत्मपरिस्थितिवाद का इस प्रकार समर्थन किया है कि यह बिल्कुल भ्रम है, कि मनुष्य के वर्तमान कर्म भूत कर्मों के परिणाम हैं। अवश्य पिछले कर्मों के आधार से वह कहता है कि आगे के कर्मों का अनुमान किया जा सकता है। वर्तमान कर्म का कारण पिछले कर्म नहीं, किन्तु वह आत्मा है, जो पिछले कर्मों का भी कारण है, उसने यह भी कहा है कि वह आत्मा न तो कोई एक घटना है, न कुछेक घटनाओं का क्रम है। इच्छा भाग और अन्य मनोवैज्ञानिक प्रभाव, जिसके लिए कहा जाता है कि आत्मा को गति देते हैं, उनकी आत्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। आत्मा प्रत्येक में मौजूद है और वे जो कुछ देते हैं, उनकी आत्मा से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। आत्मा प्रत्येक में मौजूद है और वे जो कुछ हैं, उसी आत्मा के बनाये हुये हैं[३]। राशडाल ने यह भी लिखा है कि यान्त्रिक कार्यों में वर्तमान का निश्चय भूत से हुआ करता है, परन्तु मनुष्यों के कर्म के सम्बन्ध में इसके विपरीत यही कहा जा सकता है कि भविष्य से वर्तमान में विचार के रूप में होना

१. Pathway to Reality by R.B. Holdane Vol. I, p. 240 also Dr. J.S. Holdane's two Gay's Hospital lectures on Life and Machanism.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 318.
३. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 326-327.

चाहिये[1]। राशडाल ने उपर्युक्त वाद को स्थापित करने में जेम्सवाद और टेलर के विचारों का आश्रय लिया[2]। राशडाल ने बहुत अच्छे शब्दों में इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है, "केवल विचार परिणाम (फल) उत्पन्न नहीं करते। विचार यद्यपि आत्मा के समस्त स्वभावों से पृथक् होते हैं, परन्तु वह इच्छा को प्रभावित करते रहते हैं और उसका परिणाम कर्म के रूप में प्रकट होता है। साथ ही यह कहना भी सर्वथा सत्य है कि इच्छा भी विचारों को प्रभावित किया करती है। इसलिये कर्म न केवल उन विचारों का परिणाम है, जिन्होंने, उस कर्म से पहले मनुष्य के मस्तिष्क को घेर रक्खा था, किन्तु समष्टि रूप से मनुष्य की सभी शक्तियों के समुदाय का नतीजा हुआ करता है। इसलिये मनुष्य न केवल ज्ञान और अनुभव रखता है, किन्तु यत्नशीलता भी उसका स्वभाव है[3]।"

परिस्थितिवाद से घृणा का कारण

राशडाल कहता है कि इस परिस्थिति या परतन्त्रतावाद से लोगों के घृणा करने का कारण यह है कि ये परतन्त्रतावादी कहते हैं कि कार्य और प्रतिकार्य, जो विचारों के बीच होते रहते हैं, मनुष्य उनका केवल रंगमंच है। जो स्वयं अकर्तृत्व के साथ उन्हें सह लेने के सिवा कुछ नहीं कर सकता। परन्तु राशडाल कहता है कि आत्मपरिस्थितिवाद ऐसे किसी कथन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकता, जिससे आत्मा के असली कारणत्व या कर्तृत्व में बाधा पहुंचती हो।

परिस्थितिवाद का असली स्वरूप

बल्कि कुछ आत्मा-परिस्थितिवादी तो यहां तक कहते हैं कि असली कारणत्व आत्मा के सिवा और कुछ नहीं है और जब यह कहा जाता है कि यह या वह भौतिक या अभौतिक घटना प्रकार की एक दूसरी घटना का कारण है, तो इस कथन के द्वारा केवल यह प्रकट किया जाता है कि किस ढंग और क्रम से चेतनापूर्ण इच्छा काम करती है। जब इस प्रकार की घटनायें मनुष्य या इसी प्रकार की अल्पज्ञतापूर्ण इच्छा से

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 327.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 327.
३. The Naturalism and Agnosticsm by Prof. James ward p. 108 and 189 also Prof. Taylor's Elements of Metaphysis Book IV Ch : V p. 316.

निश्चित नहीं होती, तो वे ईश्वरीय इच्छा का फल होनी चाहियें[१]।

राशडाल का मत

उपर्युक्त वर्णन के बाद राशडाल कहता है कि अब यह मान लेना चाहिये कि हमने परिस्थितिवाद को आत्मपरिस्थितिवाद के रूप में ही ग्रहण किया है। इससे हमारे स्वतन्त्र निर्णय के जायज होने का भाव नष्ट नहीं होता है।

चरित्र का अर्थ

चरित्र का अर्थ यह है कि वह समस्त आत्म-शक्तियों का संयोग है, जिससे एक विशेष प्रकार के इच्छित कर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है[२]।

परिस्थितिवाद भाग्यवाद नहीं

अपने स्वीकृत परिस्थितिवाद को स्पष्ट करने के लिये राशडाल ने लिखा है कि वह भाग्यवाद नहीं हैं। उस (भाग्यवाद) का उसने एक उदाहरण दिया है कि यदि एक तुर्क के घर में आग लग जाये, तो वह बैठा हुआ हाथ पर हाथ रक्खे उसे देखता रहेगा। आग बुझाने का कुछ भी प्रयत्न न करेगा, वह कहता है कि यदि अल्लाह की इच्छा है कि मेरा घर जल जाये, तो उसके विरुद्ध पुरुषार्थ करना निष्फल है और यदि अल्लाह चाहता है कि मेरा घर बच जाये तो फिर उसको किसी प्रकार की सहायता की जरूरत नहीं है। परन्तु राशडाल को, चाहे वह परिस्थितिवाद को इस प्रकार का भाग्यवाद न स्वीकार करे जैसा कि यह तुर्क मानता है, तो भी इन शब्दों में स्वीकार करना पड़ा कि परिस्थितिवाद अनाचार की वृद्धि का कारण है। वह कहता है—नि:सन्देह इस बात में इनकार नहीं किया जा सकता है कि मानसिक गड़बड़ जो भाग्यवाद या परिस्थितिवाद के अशुद्ध समझे हुये रूप से होती है, वह अकर्मण्यता और अनाचार का कारण हो जाती है। ईश्वर का अच्छापन, माफी की संभावना और इस खोज का कि बुराई के भीतर भी भलाई के तत्त्व निहित होते हैं, दुरुपयोग करके यह बात ठीक सिद्ध की जा सकती है कि इन से पाप करने की उत्तेजना प्राप्त होती है, जिधर मनुष्यों की स्वभावत: प्रवृत्ति होती है[३]।

---

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 328.

२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 329.

३. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 330 and 331.

प्रायश्चित्त और उत्तरदायित्व का विचार

परिस्थितिवाद पर राशडाल कहता है कि एक और प्रकार का भी आक्षेप होता है कि इस वाद के स्वीकार करने से प्रायश्चित्त या उत्तरदायित्व का कोई अर्थ बाकी नहीं रहता। परन्तु इच्छास्वातन्त्र्यवाद से ये दोनों सार्थक बने रहते हैं। एक इच्छास्वातन्त्र्यवादी कह सकता है कि "मैं चाहे किसी प्रकार पैदा हुआ, चाहे कैसी ही शिक्षा मिली, चाहे उससे पहले कैसे ही (अच्छे) कर्म मैंने किये, चाहे उस घड़ी से पहले मैं कैसा ही (अच्छा) था, परन्तु उस घड़ी जो मैंने पाप किया, उसे मैंने जानबूझकर किया और यदि मैं न चाहता तो सम्भव था कि वह पाप न होता।" परन्तु यह विचार परिस्थितिवादियों की दृष्टि में भ्रममात्र है। राशडाल कहता है कि एक ओर उपर्युक्त गड़बड़ी का विचार करके, दूसरी ओर (इच्छास्वातन्त्र्यवादियों के) इस विश्वास पर दृष्टि डालें, तो इस विश्वास का अवश्य आचारिक मूल्य है।××× क्यों उस व्यक्ति ने पाप किया? इसका समाधान यह किया जाता है कि यदि मनुष्य के भीतर पहले से बुरी प्रवृत्ति न होती, तो वह यह बुराई कभी न करता और यदि उसके भीतर अच्छी प्रवृत्ति न होती, तो वह इस प्रकार से पछतावा (प्रायश्चित्त) भी न करता[१]।

उत्तरदायित्व

उत्तरदायित्व का भाव यह है कि एक पुरुष अच्छा या बुरा जैसा कर्म करता है, उसका फल पाये। परन्तु परिस्थितिवादियों के मतानुसार उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं, इसलिये दंड भी नहीं पाना चाहिये।

परिस्थितिवाद का उत्तर

यदि सजा का उद्देश्य बदला देना है, तो परिस्थितिवाद इसे न्याय नहीं समझता। यह सत्य है कि बदले के लिये दण्ड देने का सम्बन्ध इच्छास्वातन्त्र्यवाद से सदैव नहीं जोड़ा जाता और यह भी सत्य है कि कुछ एक परिस्थितिवादी ही कठोर दण्डविधान के पक्षपाती हैं। परन्तु फिर भी बदले के लिये दण्ड देने का विचार परिस्थितिवाद से स्वातन्त्र्यवाद की अपेक्षा कम सम्बन्धित है। दण्ड से बदले के विचार को पृथक् कर देने से उसका विरोध परिस्थितिवाद से बाकी नहीं रह जाता। यह बात कि एक व्यक्ति जैसा पैदा हुआ था, है या जैसी उसने शिक्षा पाई थी, है, कोई कारण नहीं हो सकता कि क्यों वह व्यक्ति दण्डित न किया जाये।

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 332 and 333.

वह न्याय निर्णय मर्यादानुसार जितना उसने पाप किया है, उतना पापी है। एक पापी को जगत् में नहीं रहना चाहिये और यदि वह रहना चाहता है तो अच्छा बनकर ही रह सकता है।

समाज की रक्षार्थ दंडविधान

समाज की रक्षा, यह एक दूसरा कारण है, जिससे पापी को दण्डित होना चाहिये। समाज की रक्षा का अभिप्राय यह है कि अन्य व्यक्तियों की असली भलाई हो, जिनमें से प्रत्येक का मूल्य उतना ही है जितना उस पापी का, या उससे भी कुछ अधिक + + +

उपयोगिता की दृष्टि से भी दंड मिलना चाहिये

एक पापी को स्वतन्त्र रहने देना, जिससे वह समाज को आघात पहुंचाता रहे, केवल इस हेतु से कि उसने जो पाप किया है वह परिस्थिति का अनिवार्य फल था और वह परिस्थिति भी दुश्चरित्रता का अनिवार्य परिणाम थी, अन्याय होगा। क्योंकि उस एक को दंड से बचाने से सहस्रों नर-नारियों को कष्ट पहुंचेगा[१]। राशडाल ने फिर एक दूसरी जगह लिखा है कि एक पापी के साथ अधिक से अधिक दया का व्यवहार यही हो सकता है कि उससे पाप छुड़ाकर उसे अच्छा बना दिया जाये, चाहे वह पाप छुड़ाने की प्रणाली कितनी ही कष्टप्रद क्यों न हो? यदि एक व्यक्ति के लिये दण्डविधान सामाजिक शस्त्रोपचार अथवा आचारिक औषधि हो, तो उसका केवल इस हेतु से, कि वह पापी जैसा है (प्राकृतिक) कारणों का परिणाम है, उस पर उपयोग न करना वैसा ही अनुचित काम होगा, जितना अनुचित उस व्यक्ति पर शस्त्रोपचार न करना होगा, जिसको घाव अन्यों के द्वारा लगे हैं[२]।

एक उदाहरण

एक आदमी ने ५ वर्ष हुये चोरी की थी, उसकी सजा अब दी जाती है तो यह सजा परिस्थितिवाद के दृष्टिकोण से अनुचित न होगी, चाहे वह बदले के विचार से ही दी जाये, चाहे सुधार के उद्देश्य से, क्योंकि जिस जीव ने ५ वर्ष हुये चोरी की थी, वह अब नहीं है[३]। इसके

---

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 333 and 334.

२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 335.

३. इस प्रकरण में इच्छा अथवा कर्मस्वातन्त्र्यवाद केवल अनियतिवाद (Indetermism) के लिये प्रयुक्त हुआ है। भारतीय दर्शन की रू से इच्छास्वातन्त्र्यवाद दूसरी वस्तु है उसका अनियतिवाद से कोई सम्बन्ध नहीं

उत्तर में इच्छास्वातन्त्र्यवादी कहते हैं कि मनुष्य का चरित्र उसके कर्मों पर प्रभाव डालता है। परन्तु सर्वथा कर्म का निश्चय चरित्र से नहीं हो जाता। किन्तु सम्भावना रहती है कि कर्म बिना पहले चरित्र के प्रभाव के भी किये जा सकें और इस प्रकार की कार्यप्रणाली का फल यह होगा कि एक और तो कर्म स्वातन्त्र्य से होंगे, दूसरी ओर चरित्र का क्रमशः निर्माण होगा, जिससे एक समय में जाकर चरित्र में नवीनता आ जायेगी। परन्तु ऐसा होने से भी पिछले किये कर्मों और पिछले चरित्र का उत्तरदायित्व बना रहेगा, क्योंकि वे मनुष्य के स्वतन्त्रतापूर्वक किये कर्मों का फल है। राशडाल ने इस पर कहा है कि यदि इस प्रकार का पक्ष लिया जायेगा, तो यह याद रखना चाहिये कि संयोग या सम्भावना असली चीज़ नहीं है, किन्तु ये हमारे उस मत के, जो काम में आते हुये कारणों के अधूरे ज्ञान से बना है, प्रकट करने के केवल ढङ्ग है[१]। जितना विश्वास हम ऐसी घटनाओं में रखते हैं, जिनके लिये कहा गया है कि प्राकृतिक कारणों से निश्चित नहीं है, उतना संयोगमात्र में हमारा विश्वास है और केवल संयोग के द्वारा किसी कार्य की सम्भावना का हम अन्दाजा भी नहीं कर सकते। इसलिये यह भी भाग्य के विचार के सदृश बुद्धि रहित और विचार में आने के अयोग्य वस्तु है[२]।

मनुष्य और ईश्वर की इच्छाशक्ति

राशडाल ने, परिस्थितिवाद के दृष्टिकोण से कहा है कि जगत् में प्रारम्भ होने वाले प्रत्येक कार्य का कारण ईश्वरेच्छा है, प्रत्येक कार्य में जीव के अच्छे बुरे कर्म भी शामिल होते हैं[३]। इस स्थिति के लेने पर भी उसने अपने "आत्मपरिस्थितिवाद" के सम्बन्ध में कहा है कि इससे व्यक्तियों की आत्मायें जो कर्म करती हैं, उनका उत्तरदायित्व उन्हीं (आत्माओं) पर रहता है। इस सिद्धान्त में कोई हानि नहीं पहुंचती, क्योंकि हम अपने कर्मों के कारण हैं, यह समीपवर्ती अनुभव और

है। यह बात इस प्रकरण के पढ़ने वालों को अपने ध्यान में रखनी चाहिये। पश्चिम के इच्छास्वातन्त्र्यवादी वे हैं जिनका आत्मा में विश्वास नहीं, वे एक प्रकार के जड़वादी ही होते हैं।

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 336 and 337.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 337.
३. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 339.

आचारिक जागृति का विषय है[१], फिर भी मनुष्य के कर्म ब्रह्माण्ड में एक के बाद घटित दूसरी प्राकृतिक घटनाओं के सदृश नहीं है, जो केवल बाह्य कारणों से घटित होती है, बल्कि उन कर्मों के प्रकार जीवात्मा के स्वभाव से, जिनके वे कर्म हैं, निश्चित होते हैं। वह आत्मा सदैव पुरुषार्थी और प्रगतिशील है और आत्मविकास के द्वारा अपने स्वभाव को बदलता रहता है। इसके बाद राशडाल फिर लिखता है कि यह आत्मविकास एक मौलिक का विकास है, जिसे कोई व्यक्ति अपने लिये उत्पन्न नहीं कर सकता और इस विकास के जारी करने के लिये आवश्यक है, कि ब्रह्माण्ड जिसे उस व्यक्ति ने उत्पन्न नहीं किया है, बराबर मौजूद रहे[२]।

समष्टि का कारणत्व और उसका विवरण

राशडाल ने लिखा है कि किसी दार्शनिक दृष्टि से देखें, तो प्रतीत होगा कि प्रत्येक घटित घटना का कारण, एक समष्टि की मूलप्रकृति है, जिसका न कोई कारण है और न प्रारम्भ। यदि आस्तिक आत्मवादी ठीक हैं, तो उस समष्टि में निम्न वस्तुयें सम्मिलित हैं।

(१) ईश्वर (२) जीवों की सत्ता और उनका कारोबार ब्रह्माण्ड सहित जो उनका अनुभव है और यदि अनादि नहीं तो उसके चेतनामय व्यक्तित्व का प्रारम्भ और उसके जीवन के बाद के दरजे भी उस समष्टि में शामिल हैं, जिन्हें अन्त में ईश्वरेच्छा का फल समझना चाहिये[३]।

परन्तु मनुष्य अपने कर्म का कर्त्ता फिर भी स्वयमेव ही है

उपर्युक्त विवरण ईश्वरेच्छा के देने के बाद भी राशडाल ने लिखा है कि इस विवरण में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे इस सिद्धांत में कोई अदल-बदल करने की जरूरत हो कि व्यक्ति स्वयमेव अपने कर्म का कारण है और यह भी कि वह व्यक्ति, निकटवर्ती ज्ञान अपने पुरुषार्थ का रखता है। यदि ईश्वर को उन कर्मों का कारण कहा जाता है, तो उस (ईश्वर) का कारण होना अन्य जगत् की घटनाओं के कारण होने के

१. डाक्टर स्टाउट (Dr. Stout) ने मानसिक कर्त्तृत्व (Mental Activity) की बात उठाते हुए राशडाल के इस वाद का समर्थन किया है। (देखो Analytic Psychology Vol. I Book II Chapter 1).
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 338 and 339
३. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 340.

सदृश है। अन्य घटनाओं से तात्पर्य, जगत् में हुई प्राकृतिक और उन घटनाओं से है जो भोगयोनि वाले पशु आदियों के भीतर हुआ करती हैं[१]।

जीवात्मा ईश्वर का बनाया हुआ है

आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टिकोण से हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि जीवात्मा ईश्वर के बनाये हुये हैं अथवा वह उनका कारण है। इस सम्बन्ध में कोई यह पूछ सकता है कि फिर उसने बुरी रूहों को क्यों पैदा किया, जिससे बुरे कामों का प्रादुर्भाव हुआ।

ईश्वर ने बुरी रूहें क्यों बनाई ?

राशडाल ने इसके उत्तर में कहा है कि बेशक बुरी रूहों को ईश्वर ने ही पैदा किया है और उनकी उत्पत्ति अन्तिम भलाई की प्राप्ति का एक साधन है, जिस साधन के बिना वह भलाई प्राप्त नहीं हो सकती थी[२]।

आचार के आधार पर इसका समाधान

राशडाल कहता है कि यदि हम इच्छास्वातन्त्र्य को स्वीकार करें तो हमें मानना पड़ेगा कि पाप की वास्तविकता नहीं, अपितु सम्भावना है कि वह हो सकता है, असली सदाचार के लिए एक आवश्यक वस्तु है और वह सदाचार ईश्वर की उच्चतम भलाई का फल है। राशडाल फिर कहता है कि इस प्रकार से ईश्वर के उत्पन्न किये हुये जगत् में पाप होने का समाधान किस प्रकार किया जाये, यह दिक्कत भी कम होती है और यदि इस (आचारसम्बन्धी) सिद्धान्त से जो (पापसम्बन्धी) कठिनता है, पूर्णतया दूर हो जावे, तो इस वाद के स्वीकार करने में मुझे कुछ भी कठिनता न होगी।

इस कठिनता का समाधान अवश्य है

परन्तु राशडाल खुले शब्दों में स्वीकार करता है कि जगत् में व्यक्त कार्य कारणवाद के होते हुये जगत् में पाप होने का समाधान मैं नहीं कर सकता[३]।

ईश्वर का भविष्य ज्ञान और स्वतन्त्रता

राशडाल कहता है कि ईश्वर की त्रिकालज्ञता कम किये बिना इच्छा स्वातन्त्र्य स्वीकर्तव्य नहीं हो सकता।

---

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 340.

२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 340 and 341.

३. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 342

परिस्थितिवाद की कठिनता

परिस्थितिवाद के स्वीकार करने से आचार या धर्म के लिये जो कठिनता उपस्थित होती है, वह यह कि ईश्वर को इससे एक अंश में पाप का रचयिता मानना पड़ता है[१], परन्तु राशडाल कहता है कि इसका यह तात्पर्य नहीं हुआ कि मनुष्य उस पाप का उत्तरदाता नहीं। मनुष्य तो साक्षात् उस पाप के करने की चेष्टा करता ही है, परन्तु ईश्वर को जब उस पाप का रचयिता कहते हैं, तो उसका मतलब यह है कि वह भलाई के साधन के तौर पर उस पाप के कराने की इच्छा करता है और जब कि वह भलाई के साधन के तौर पर प्रयुक्त हो, तब उसे पाप नहीं कह सकते[२]।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुये राशडाल ने अन्त में कहा है कि फिर भी अधिक से अधिक अच्छी बात यही है कि ईश्वर को पापेच्छा करने वाला किसी प्रकार से भी न माना जाये। इच्छास्वातन्त्र्यवादी अवश्य ऐसा ही चाहते हैं, परन्तु वह पूरी तरह से पूरा होता नहीं दिखाई देता, हां आम स्वातन्त्र्यवादियों के इस दृष्टिकोण से कि साधनों की दृष्टि से परिणाम जो निकलता है, काफी होता है, ईश्वरीय शक्तियों के और अधिक ससीम करने के लिये बाधित नहीं होना पड़ता[३]।

आवागमन

इस आक्षेप से बचने के लिये कि ईश्वर जीव को पापेच्छा के साथ पैदा करता है। आत्मा की नित्यसत्ता और पुनर्जन्म का वाद प्लेटो ओरीज़न के समय से माना जा रहा है और वर्त्तमान "बहुसंख्य नित्यत्ववाद" भी इसीलिये उठ खड़ा हुआ है। इस वाद का अभिप्राय यह है कि आत्मा अजन्मा है और जगत् की कार्यप्रणाली से, सर्वशक्तिमान् ईश्वर की शक्ति से नहीं, इन नित्य आत्माओं से पाप दूर हो जाया करते हैं और आत्मा पूर्णता को प्राप्त कर लिया करता है।

प्रो० होविज़न और शीलर का मत

प्रो० होविज़न (Howison) ने विकासवाद के सीमासम्बन्धी अपने निबंध और शीलर महोदय ने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि आत्मा की नित्य सत्ता के स्वीकार करने से, इच्छास्वातन्त्र्यवाद

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 345
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 345
३. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 345

माने बिना भी पाप की उत्पत्ति का समाधान हो जाता है। राशडाल ने इस सम्बन्ध में कहा है कि धार्मिक संसार में इस आत्मा की नित्यता पर विचार करते हुये इस आक्षेप के समाधान के उद्देश्य से कि ईश्वर पाप का कर्त्ता न ठहरे, ईश्वर की सत्ता के ही भेद कर दिये हैं। एक प्रकार के धार्मिक विद्वान् कहते हैं कि ईश्वर की सत्ता का प्रकार की दृष्टि से आचार से कुछ सम्बन्ध नहीं है और उसकी इस आचार से असंबंधित सत्ता के ही सत्यासत्य और पापपुण्य की कसौटी ठहराते हैं[१]।

ईश्वर की सत्ता के दो भेद

दूसरे प्रकार के धार्मिक विद्वान् कहते हैं कि ईश्वर के काम किसी मजबूरी से सीमित नहीं हैं, बल्कि जो कुछ वह करता है, अपनी श्रेष्ठता के ही आधार से करता है।

हूकर की सम्मति—

इस सम्बन्ध में हूकर (Hookar) ने कहा है कि ईश्वर की सत्ता उसके कार्यों के लिये एक प्रकार का कानून है[२]।

राशडाल ने इस आत्मा के नित्य सत्ता के सम्बन्ध में कहा है कि इससे मनुष्य में भी उसी प्रकार की स्वतन्त्रता आती है, जैसी ईश्वर में है और यद्यपि यह सन्तोष के योग्य है, परन्तु इससे एक कठिनता दूर होकर सैकड़ों कठिनतायें और पैदा हो जाती हैं उन कठिनताओं को सुनिये—

आत्मा के नित्यत्व मानने में कठिनतायें

मस्तिष्क और शरीर, चरित्र और इन्द्रियां, समष्टि और व्यष्टि के चरित्रों में परस्पर ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि यदि यह माना जाये कि मनुष्य का चरित्र उसके पहले जन्म के कर्मों से बनता है, तो इस बात के मानने के लिये विवश होना पड़ेगा कि प्रत्येक आत्मा को उसकी प्रत्येक मृत्यु के बाद किसी पृथक् स्थान पर रखना पड़ेगा जब तक कि विकास के द्वारा माता-पिता विकसित न हो जायें, जिससे उसकी

---

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 346
This tendency is exhibited by Dun Scotus, who based the second table of the Cecaiogue (मूषा के १० वर्ष) upon the arbitrary will of God and by Occam, who subsequently referred both tables of cuch a will a course to which he was followed by many ultra Calvinistic Divines.

२. Ecclesiatical Polity, Book I, Cgapter II.

वर्तमान आचारिक दशा ठीक-ठीक प्रकट हो सके और जो आगे के लिये उन्नति में साधक हो। इस कठिनता को उपस्थित करते हुये राशडाल ने लिखा है कि आत्मा का नित्यत्ववाद ऐसा नहीं है कि जिसे कोई निश्चितरीति से असिद्ध कह सके। परन्तु यह जरूर है कि इसके लिये अनुभव की गवाही, जो प्रारंभिक बात है, नहीं है और इस पर जहां तक विचार किया जाता है, कठिनतायें ही कठिनतायें सामने आती हैं। इस वाद से ईश्वर की सत्ता सीमित होती है। अवश्य ईश्वर समीप है, परन्तु अपनी ही प्रकृति से और अन्यों की सत्ता से भी जिसकी सत्ता का कारण उसकी वही प्रकृति है और इस ससीमता से उसमें कोई आचारिक कमी नहीं आती × × × × इसलिये ब्रह्माण्ड के कार्यों को सुगमता के साथ समझा हुआ होने के लिये अद्वैतवाद ही ठीक हो सकता है। बहुसंख्यनित्यत्ववाद जिसके द्वारा और भी कई चीज़ नित्य ठहरती है, नहीं[१]।

डॉक्टर मैकटैगार्ट का मत और राशडाल

डॉक्टर मैकटैगार्ट (Dr. Mc Taggart) के मतानुकूल जिसे पूर्ण कहते हैं, वह एक समाज है जिसमें असंख्य नित्य आत्माओं का समावेश है, परन्तु उनमें से कोई एक भी अन्यों की अपेक्षा अधिक समर्थ नहीं है, जिसे ईश्वर कहने की प्रतिष्ठा दी जा सके। इस मत पर भी राशडाल के मतानुसार, सब के सब वे आक्षेप घटित होते हैं, जो बहुसंख्य नित्यत्ववाद पर किये जा सकते हैं। राशडाल कहता है कि इस कठिनता (आक्षेप) के दूर करने के लिये मैकटैगार्ट के बहुसंख्यक नित्य आत्माओं की एक समष्टि बना ली जाती है और इस प्रकार असंख्य आत्माओं की एक संख्या कर दी जाती है, परन्तु इससे एक दूसरा आक्षेप जो इस (मैकटैगार्ट के) मत पर किया जाता है, बना रह जाता है और वह मैकटैगार्ट का इस प्राकृतिक जगत् का केवल अनुभवात्मक मानना है[२]।

परिस्थितिवाद की एक और कठिनता

राशडाल कहता है कि परिस्थितवाद की एक बड़ी कठिनता यह है कि इस वाद के पोषक बाह्य परिस्थिति से विवशता के विचार को छोड़ना नहीं चाहते हैं, जिससे विवश होकर एक आदमी और सच्चा

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 346 and 347.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 346 and 348.

आदमी जो केवल प्रकृति का ही बना हुआ नहीं है, वह काम करता है, जिसे वह करना नहीं चाहता और इसका फल यह होता है कि आत्मा का कारणत्व, जिससे आत्मा का विकास होता है, यान्त्रिक शक्तियों के कारणत्व से रिलमिल जाता है। या वे समझते हैं कि यह आत्मा का स्वभाव है कि जिससे कोई कार्य विशेष निश्चय किया जाता है। परन्तु आत्मा की कल्पना करने में वे उसकी सीमा वहीं तक समझते हैं, जितना कि वर्तमान में उसकी चेतना का विकास हो चुका है और इसलिए वे यह भी कल्पना करते हैं कि प्रायश्चित्त उन्नति अथवा चरित्र परिवर्तन का परिस्थितिवाद में निषेधक है। इस पर राशडाल कहता है कि वे भूल जाते हैं कि आत्मा वह है जिसकी पूर्ण प्रकृति इस समय अव्यक्त है स्वयं उस अथवा अन्य पुरुषों के परीक्षणों से भी अव्यक्त है। अवश्य यह कल्पना की जाती है कि वह ईश्वर से अव्यक्त नहीं है और इस प्रकार आत्मा को समझने के विचार से मनुष्य के भावी चरित्र की पेशीनगोई का विचार बहुत सीमित रह जाता है।

कठिनता का दूसरा पहलू

एक और बात है, जिसका इसी सम्बन्ध विचार कर लेना चाहिये कि हमारी आत्मिक अवस्थायें गुणों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् जिनको हम आत्मिक घटनायें कहते हैं, उद्वेग, अनुभव, इच्छा आदि, वे दो व्यक्तियों में या एक ही व्यक्ति में दो भिन्न समयों में एक ही नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति में और मस्तिष्क की प्रत्येक अवस्था में दूसरे की अपेक्षा विषमता वाली होती है। अत: स्पष्ट है कि हम ऐसे नियम बनाने में सदैव असमर्थ रहेंगे, जिससे मनुष्यों के सभी भावी कर्मों की पेशनगोई की जा सके। यह नियम, कि एक ही कारण सदैव एक ही कार्य उत्पन्न करता है, हमको आत्मिक क्षेत्र में सहायता नहीं दे सकता, क्योंकि एक ही कारण दुबारा उपस्थित ही नहीं हो सकता ये सब बातें वर्गसन महोदय द्वारा भलीभांति प्रकाशित हुई हैं[१]। यह जरूर है कि आत्मिक अवस्थाओं में भी कुछ बातें मिलती जुलती हैं और कुछ भिन्न, इसलिये केवल एक खास दरजे तक ही, हम आत्मिक अवस्था में कुछ ऐसी बातें देख सकते हैं, जिनमें मेल हैं और कुछ ऐसी जिनका बाह्य घटनाओं से मेल पाया जाता है। यद्यपि इन मेल के नियमों में भी व्यक्तियों की विशेष विभिन्नता के कारण अदल-बदल होने की सम्भावना बनी रहती है।

१. *Sur les donnes immed, de la conscience Passim.*

वर्गसन की स्थिति

वर्गसन परिस्थितिवाद के विरुद्ध है और उसका निजी विचार आत्मस्वातन्त्र्यवाद से मिलता-जुलता ही है[१]।

अन्तिम परिणाम

राशडाल ने इस इच्छास्वातन्त्र्य के विषय को समाप्त करते हुए लिखा है—एक बार फिर मैं कहता हूं कि परिस्थितिवाद का जो रूप मैंने उपस्थित किया है, उससे आचारवाद के समर्थकों को जरा भी निराश्रित नहीं होना चाहिये। मेरी सम्मति में वह इच्छास्वातन्त्र्यवादियों के उपस्थित किये हुये, जगत्सम्बन्धी प्रश्नों की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक है। मेरे वाद में ईश्वर को जगत् का अन्तिम कारण बतलाया गया है और जगत् को अनित्य ईश्वर जगत् का उत्पादक होते हुये जगत् की कार्यप्रणाली को इस प्रकार चलाता है कि जिससे वह अपने उस अन्तिम उद्देश्य की ओर चल सके, जिसकी अच्छे से अच्छे रूप में अब तक कल्पना की गई है। ईश्वर उच्च आत्माओं को, जिन्हें स्वयं उसने ही पैदा किया है, प्रेरणा करता है कि वे सांसारिक मनुष्यों की इस कार्य में सहायता करें। पाप अपनी सत्ता रखता है, वह धोखा नहीं है, यह अवश्य है कि उसका भविष्य अधिक से अधिक कमी की ओर है। पाप कितना-कितना कम होगा और पुण्य की कितनी-कितनी वृद्धि होगी, यह मनुष्य के पुरुषार्थ की मात्रा पर निर्भर है। यह निःसंदेह सच है कि ईश्वर जानता है कि हम में से प्रत्येक कितना उपयुक्त पुरुषार्थ कर सकता है और कितनी मात्रा पाप की कम कर सकता है। परन्तु हम नहीं जानते और न मनुष्य करने से पहले यह जान सकता है कि वह क्या करेगा[२] ? इन कार्यप्रणालियों में कोई बात ऐसी नहीं है कि जिससे कोई विघ्नबाधा उपस्थित होती हो, अपितु प्रत्येक बात ऐसी है, जिससे ऐसी इच्छायें और उत्साह पैदा हो। जिनके आधार पर यह निश्चय किया जा सके कि संसार के कल्याण होने में हम कितना यत्न कर सकेंगे।

हौजसन और इच्छास्वातन्त्र्य

डॉक्टर शैडवर्थ हौजसन ने भी इच्छास्वातन्त्र्य के वैसे ही अर्थ किये हैं जिस प्रकार के अर्थ राशडाल ने अपने आत्मपरिस्थितिवाद के किये हैं।

---

१. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 348 and 349.
२. The Theory of Good and Evil by Rashdall. p. 354 and 355.

सूची हिन्दी के उन शब्दों की, जो अंग्रेजी के दार्शनिक शब्दों के स्थान पर इस पुस्तक में प्रयुक्त हुए हैं (अंग्रेजी शब्दों के साथ)

(अ)

अन्त:प्रकृति Inner Nature.
अध्यात्मविद्या Metaphysics.
अतीतात्मक Transcendental.
अनुभवमूलक Empirical.
अलक्षित Implied
अभिसंधि Significance.
अवभास Manifestation
अध्यात्पविद्या Theology
अवस्था Aspect.
अग्र निश्चय Pre-determination.
अर्थ लगाना Interpretation.
अन्तिम कारण Final Cause.
अन्तिम कारणवाद Finalism.
अप्रकट शक्ति Potentiality.
अतीतवाद Transcendentalism.
अपरिहार्य Emergent.
अनियत कारणवाद Theory of Occasional Causes.
अनुभवात्मक Empirical.
अर्थवैपरीत्य Antethesis.
अनेकतावाद Pluralism.
अनियतिवाद Indeterminism.
अकर्तृक Impersonal.
अकर्तृक चरित्र Impersonal Behaviour.
अन्तर्गतार्थ Content.
अचिरस्थायी जीव Transient Ego.
अन्तर्बोध Apperception.
अतीतात्मक जीव Metaphysical Soul.
अल्पज्ञ Finite.
अव्यक्त Noumena.
अनुभवातीत Transcendental.

(आ)

आचारिक जीवन Moral Life.
आकारद Plastic Material.
आचारनीति Morality.
आन्तरिक बुद्धि Speculative Reason.
आचारनीतिज्ञ Moral Being.
आवेग Impulse.
आचारशास्त्र Moral Law.
आचारिक उत्तरदायित्व Moral Responsibility.
आचारिक जगत् Moral World.
आदिमोत्पत्ति Origin.
आदर्श Ideal.
आन्तरिक आवश्यकता Subjective Requirement.
आन्तरिक अवस्था Subjective Condition.
आचारिक निमित्त Moral Causation.
आवेग Emotion.
आचारिक आवश्यकतावाद Moral Necessity.
अनुषंगिक (अनुवर्तित) Consequent.
आध्यात्मिक अणु Monad.
आपातिक (अचानक हो जाने वाला) Cotingent.
आत्मनियतिवाद Self-Determination.
आध्यात्मिक अनुभवैकवाद Metaphysical Empiricism.
आत्मार्थव्यंजक Self-Explanatory.
आत्मप्रतिज्ञा Self-Assertion.
आत्मा Soul.
आत्मनियतिवाद Self-Determinism.
आत्मपरिस्थितिवाद Self-Determinism.

(इ)

इन्द्रियविषय Sensibility.
इन्द्रियार्थ Sensibility.
इन्द्रियमय शरीर Organic Structure.
इन्द्रजाल Illusion.
इच्छा Appetition.
ईश्वरांश Sensibility.

(उ)

उत्पत्तिवाद Genetic Theory.
उत्पादक शक्ति Creative Force.
उष्णधर्म परिमाण Temperature.
उपपत्ति Rationale.
उत्पत्तिवाद Teleology.

(ऋ)

ऋतुविद्या Meteorology.

(क)

कृत्यबुद्धि Practical Reason.
कारणनियम-कारणशास्त्र
Law of Causation.
कृत्रिमजीवनसाधक Artificer.
कार्य तथा प्रतिकार्य Reciprocity.
कर्मपूरक कारण Efficient Cause.
कल्पक विकास Creative Evolution.
कष्टप्रद हास्य Noxious Humour.
कारणिक क्षमता Causal Uniformity.

(ग)

गतिमय कारण Efficient Cause.
गणितिक निरन्तरता
Mathematical Continuity.

(च)

चित्तवृत्ति Feeling Conscious State.
चेतनाद्वैतवाद Idealism.
चेतना का प्रति मूलक होना
Atomic Theory of Consciousness

(ज)

जगदुत्पत्तिवाद Cosmology, Cosmic Evolution.
जन्मसिद्ध स्वभाव या प्रकृति Instinct.
जड़त्व नियम Law of Inertia.
जीवपार्थक्यवाद Vitalism.
जड़त्व Inertia.
जीवात्मा Concrete Self.
जन्मसिद्ध चरित्र
Original or Birth=Character.
ज्ञानप्राप्ति Perception.
ज्ञान माध्यम Scientia Media.

(ढ)

ढांचे की बनावट Structure.

(त)

तैय्यारी Equipment.
तत्त्व Substance.
तात्त्विक स्थिति Significance.
तर्कानुरूप अधीनता
Logical Dependence.
त्रिकालज्ञता Pre=destination.

(द)

दिव्यभाव Grace.
द्वैतवाद Realism, Pluralism.
दिव्यतत्त्व Divine Substance.
दैववाद Fatalism.
दिव्य ईक्षण Divine Will.

(ध)

धनात्मक शक्ति Positive Power.
धर्म Virtue.

(न)

नियतिवाद Determinism.
नामरूप Phenomena.
नित्यसत्य Absolute, Absolute Reality.
निदर्शन Instance.
नीहार नैविड्यम् Nabular Hypothesi's
नूतनसम्बन्धनियमवाद
New Principle of Relativity.

निरन्तरता Continuity.
निबन्धात्मक जगत् Universe of Discourse.
नरक Tartarus.
निरवयव Simple.
निमित्त Motive.
निदर्शन Instance.
नित्यत्ववाद Pluralism.

(प)

प्रकृति, प्राकृतिक, नियम Nature.
परिस्थिति परिवेष्ट Environment.
परिस्थितिवाद, परतन्त्रतावाद Determinism.
प्रयोजन, प्रवृत्तिहेतु Motive.
परतन्त्रता Heteronomy.
प्रवृत्ति Impulse.
परतन्त्रता Necessity (Opposed to the Feedom of will).
प्रत्याहार Abstraction.
प्राकट्य Manifestation.
पूर्ण Absolute.
प्रकृतिवाद Naturalism.
परोक्षज्ञानवाद Mysticism.
प्राकृतिक चुनाव Natural Selection.
पसंद का माध्यम Faculty of Choice.
प्रकाशमात्रावाद Theory of Light Quanta.
पुन: स्मरण Revival.
परावर्तन Refraction.
प्रतिच्छाया Reflection.
प्रवृत्ति हेतु शक्ति Motive Force.
प्राकृतिक निमित्त Natural Causation.
प्रकोपोत्तेजन Provcation.
पूर्वबोध Premonition, Predate.
प्रतिव्याघात Counter=action.
परमाणु निमित्त Atomic.
प्रवाहरूप Continuos.
पूर्वगामिनी इच्छायें Antecedent Volitlons.
परिपक्वता Efficiency.
प्रवृत्ति Motive.
पूर्वज Predecessor.

(ब)

बुद्धिवादी Rational Being
बौद्ध पदार्थ Abstraction.
बनावटी चुनाव Artificial Selection.
बलात्कार Compulsion.
बहुसंख्य नित्यत्ववाद Pluralism.
बाह्यस्थितबल Force of Circumstances.
बाह्यावस्था Objective Condition.

(भ)

भावप्रधानात्मक Idealistic.
भाव Feeling.
भावप्रधानवाद Idealism.
भाग्य Destiny, Spontaneity.
भावप्रधानमय घटनायें Ideal Facts.
भौतिक नियतिवाद Physical Determination.
भिन्न Discrete.

(म)

मर्त्य Significance.
मीमांसा Teleology.
मन Mind.
मनोवैज्ञानिक परतंत्रतावाद Psychological Theory of Determination.

(य)

योनिविकास Biological Evolution.
यदृच्छा Contingeney.
यंत्रकलाज्ञ Machinist.

(र)

राग Desire.

(व)

वृत्ति Function.
वस्तुतत्त्व Noumena, Thing=in=itself.
व्यवसायात्मिका बुद्धि Practical Reason.
वस्तु स्वातन्त्र्यवाद Realism.
व्यक्तिगत तथा आन्तरिक प्रश्न

Abstract and Subjective Problems.
वासना Feeding Impression of Past.
व्यावर्तन Exclusion.
विशिष्ट गुरुत्व Specific Gravity.
वस्तु तात्विक जगत्
The World of Thing=in=itself.
वैज्ञानिक संयोग Scientific Synthesis.
व्यंजक दृश्यवाद
Presentational View of the Self.
वस्तुतत्त्वज्ञसंघ Realistic Union.

(स)

स्वभाव Disposition, Temperament.
सज्जीकरण Equipment.
स्वरूप Complexion.
सयुक्तिक Rational.
सामान्यबुद्धि Common Sense.
समयानुकूल सरगामी Functional Activities.
समष्टि और बाह्यजगत् संबंधित प्रश्न
Concrete and Objective.
सांचा Frame.
सोद्देश्यता Purposiveness.
सापेक्षिक विकास Imergent Evolution.
स्वत: शीर्ण Self=Contradictory.
समायोग Adjustment.
संभाव्य जगत् World of Possible Beings.
सत्य अखंड (है) The Real as Valid.
सोपाधिक Conditional.
स्वयं चलद यंत्र Automotion.
स्वेच्छा Spontaneity.
समता Uniformity.
स्वरूप Complexion.
संवेदनविज्ञानवाद
Sensationalism, Empiricism.
संवेदन संघात Compexity of Sensation.
संकलन का प्रश्न
The Problem of Synthesis
सर्वज्ञ Absolute Will.
सामाजिक शस्त्रोपचार Social Surgery.
संभावना Probability.
संयोग Chance.
सकर्मक कारणत्व Transitive Causation.
सांसारिक परम्परा Social Heredity.
सर्वातिरिक्तवाद Transcendental Theory.

(श)

शील Disposition, Temperament.
शारीरिक कर्तृत्व
Living Activity, Living Action.
शक्तिसामंजस्य Unity of Force.
शुद्ध अहम् Pure Ego.
शून्यवाद Nihilism.

(ह)

हेतुवादी Rational Being.
हेतुविद्या Teleology.
हेत्वाभास Sophism.
हेतुकजीवन Rational Life.
हर्षवाद Hedonism.
हर्षवादी Hedonist.

सत्यधर्म प्रकाशन
द्वारा
प्रकाशित नयी पुस्तकें

१.	सत्यार्थप्रकाश	महर्षि दयानन्द	६०/-
२.	संस्कारविधि	महर्षि दयानन्द	५०/-
३.	भारतीय देशभक्तों की कारावास और बलिदान की कहानी	आचार्य सत्यानन्द	४००/-
४.	भजन संगीत सागर (भाग-१)	आचार्य सत्यानन्द	१००/-
५.	यज्ञ-चिकित्सा	डॉ० फुन्दनलाल अग्निहोत्री	१००/-
६.	सांख्यदर्शन	स्वामी ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक विद्यामार्तण्ड	२२५/-
७.	वेदान्तदर्शन	स्वामी ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक विद्यामार्तण्ड	२५०/-
८.	मीमांसा दर्शन	गंगाप्रसाद उपाध्याय	२८५/-
९.	दयानन्द सिद्धान्त भास्कर	कृष्णचन्द्र विरमानी	२५०/-
१०.	दयानन्द दर्शन	डॉ० वेदप्रकाश गुप्त	२७५/-
११.	आस्तिकवाद	गंगाप्रसाद उपाध्याय	१६५/-
१२.	वैराग्य शतक	बाबू हरिदास वैद्य	१००/-
१३.	उपनिषद् भाष्य	स्वामी दर्शनानन्द	२००/-
१४.	मनु स्मृति	डॉ० सुरेन्द्र कुमार	१२५/-
१५.	नेताजी और आजाद हिन्द फौज	मेजर जनरल शाहनवाज खां	२००/-
१६.	राणा प्रतापसिंह	श्री केशवकुमार ठाकुर	७५/-
१७.	गांधी वध क्यों ?	नथूराम गोडसे	५०/-
१८.	आखिर जीत हमारी	सय्याह सुनामी	८५/-
१९.	विद्रोही सुभाष	जयन्त कुशवाहा 'कान्त'	९५/-
२०.	चाणक्य और चन्द्रगुप्त	हरिनारायण आप्टे	११०/-
२१.	महामात्य चाणक्य	धूमकेतु	
२२.	भगवान् एकलिंग (उड़ता त्रिशूल)	सय्याह सुनामी	९५/-
२३.	महारथी लाला लाजपतराय	विश्वम्भरप्रसाद शर्मा विशारद	३०/-
२४.	राजा राममोहन राय	गंगाप्रसाद उपाध्याय	
२५.	कर्म-रहस्य	महात्मा नारायण स्वामी	२२५/-